आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥

वैदिक देवता

उद्भव और विकास

गया चरण त्रिपाठी
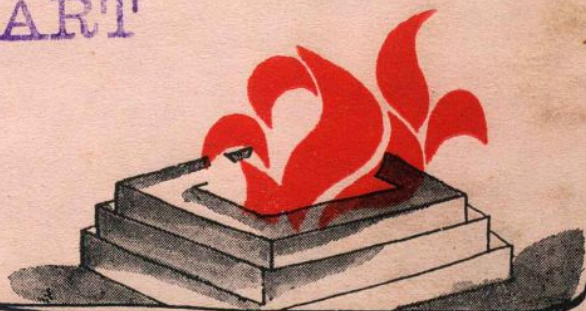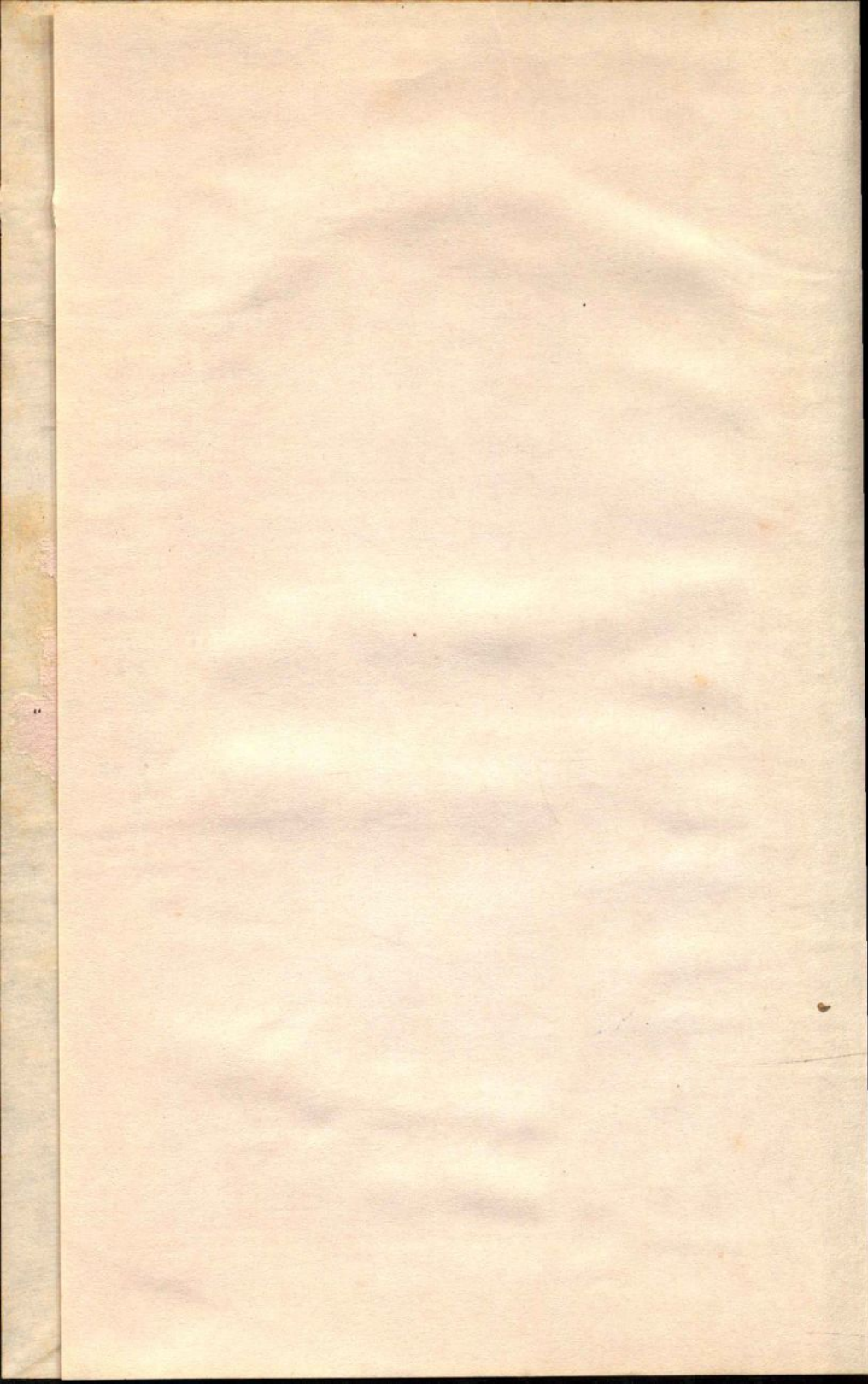
देवान् हुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्तये ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः ।
ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदस इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः ॥

ऋग्वेद १०।६६।१

गया चरण त्रिपाठी

वैदिक देवता

उद्भव और विकास
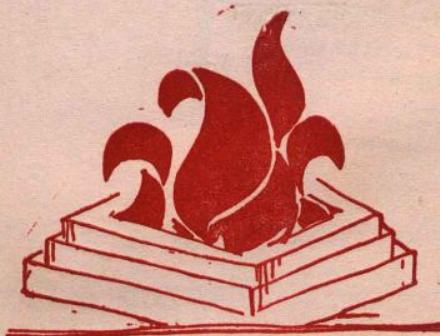
वैदिक देवता

उद्भवऔर विकास

(दो खण्डों में)

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

वैदिक देवता

उद्भव और विकास

डा० गयाचरण त्रिपाठी
प्राचार्य
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
प्रयाग

भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली ● वाराणसी
भारत

अधिदैवतम् अध्यात्मञ्च

परम संन्तोष एवं हर्ष का विषय है कि **वैदिक-देवता** के पूर्वार्द्ध के प्रकाशित होने के लगभग एक वर्ष के भीतर ही इसका यह उत्तरार्द्ध भी प्रकाशित होकर पाठकों के समक्ष आ रहा है। इस खण्ड में रुद्र, इन्द्र, मरुत् आदि अन्तरिक्ष-स्थानीय, अग्नि, यम, सोम आदि पृथ्वीस्थानीय एवं प्रजापति, बृहस्पति तथा अदिति आदि भावात्मक देवताओं की उत्पत्ति एवं परवर्ती विकास की विवेचना की गई है। मैं समझता हूँ कि इन देवों के व्यक्तित्व के कई पक्षों पर विशेषतः रुद्र (शिव), ब्रह्मा, सोम, यम आदि पर इस ग्रन्थ से नया प्रकाश पड़ता है। परिशिष्ट में यक्षों एवं राक्षसों पर कुछ सामग्री दी गई है जो पूर्ववर्ती देवता-विषयक सामग्री की संपूर्ति करती है।

इस खण्ड की समाप्ति के साथ अब वह संपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आ गया है जिसकी संकल्पना मैंने सन् १९५९ ई० में की थी और जो मेरे विदेश-प्रवास आदि विविध कारणों से अब तक काल रूपी वलासुर की गुहा में देवधेनुओं की भाँति अवरुद्ध रह कर अन्धकार में पड़ा रहा।

इस संपूर्ण पुस्तक को मुद्रित रूप में देख कर अब वह मुझे इसकी अनेक कमियों का स्वतः भान होता है। पर मेरे सामने भी अपनी सीमाएँ थी, कलेवर की मर्यादा भी थी। उस दृष्टि से इन सात सौ पृष्ठों में जो सामग्री दी जा सकी है वह हर दृष्टि से पूर्ण तो नहीं है—समस्त पुराणों और उप-पुराणों को ही मैं नहीं ले सका हूँ—पर मुझे आशा है कि प्रत्येक निरूपित देवता के स्वरूप एवं उसके विकास-क्रम का कोई बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष संभवतः छूटने नहीं पाया है। हमारे प्रत्येक देवता के स्वरूप और उससे सम्बन्धित कथाओं का पृथक्-पृथक् विशिष्ट अध्ययन किया जा सकता है। यदि इस पुस्तक ने विद्वानों की रुचि वैदिक देवताओं की ओर आवर्जित की और इससे उनके आलोचनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन मिला तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

इस अवसर पर मैं पुनः अपने प्रातः-स्मरणीय पितृचरण, **वेदान्तसार-भावबोधिनी, कौमुदीकथाकल्लोलिनी** तथा **ब्रह्मसूत्रप्रमुखभाष्यपञ्चकसमीक्षणम्**[1] आदि ग्रन्थों के यशस्वी प्रणेता, **डॉ० श्री रामशरण शास्त्री,** एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच० डी, का श्रद्धापूर्वक स्मरण करता हूँ जिनसे मुझे 'लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः' (रघुवंश ५।४) की उक्ति सार्थक करते हुए संस्कृत-ज्ञान की कुछ ज्योति प्राप्त करने का सौभाग्य मिला और जो इस पुस्तक को मुद्रित रूप में देखे बिना १९७७ ई० में दिवंगत हो गये। इस ग्रन्थ के आदि-जनक और प्रेरणा स्रोत के रूप में, चन्द्रालोककार **जयदेव** के अनुकरण में, मैं उन्हें निम्न शब्दों में प्रणाम करता हूँ—

तान् वित्सवितृपूषोक्ति-वयुनांशून् मनामहे ।[2]
यानालम्ब्य प्रकाशन्ते मद्विद्यात्रसरेणवः ॥

अपनी जीवन-सहचरी, 'गृहिणी सचिवः सखी मिथः' (रघुवंश ८।६७), **सुमन** का भी इस प्रसङ्ग में स्नेह-संवलित हृदय से उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है जिसका इस प्रकाशन में सदा मनसा एवं कर्मणा ('Mit Rat und Tat') सहयोग प्राप्त हुआ।

शाकुन्तल मुद्रणालय के स्वत्वाधिकारी श्री उपेन्द्र त्रिपाठी एवं उनके समस्त विनम्र तथा परिश्रमशील सहयोगी भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को सुन्दर एवं शुद्ध रूप में मुद्रित किया है।

किसी भी ग्रन्थ का मुद्रित रूप में आविर्भाव लेखक के लिये 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते' की कालिदासीय उक्ति को चरितार्थ करता है। जिन देवों की कृपा से यह कार्य पूर्ण हुआ, उन्हें एवं माँ सरस्वती को मैं ऋग्वेद के निम्न मन्त्र (१।८९।३) से प्रणाम करता हूँ—

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम् ।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

प्रयाग
विजयादशमी, २०३९ वै०

विनयावनत—
गयाचरण त्रिपाठी

---

१. सभी चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित।

२. सविता = जनकः, पूषा = सूर्यः, वयुनम् = प्रज्ञानं ज्योतिश्च, मनामहे = स्तुमः।

वैदिक देवता

उद्भव और विकास

द्वितीय खण्ड

विषय सूची

द्वितीय खण्ड

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

●●●

वैदिक देवता : उद्भव और विकास

(उत्तरार्द्ध)

षष्ठ अध्याय

अन्तरिक्षस्थानीय देवता (१)

इन्द्र

वैदिक युग के देवों में इन्द्र शक्ति, बल, ओज तथा वीरता के प्रतीक हैं और उनकी महत्ता का अनुमान इसी से हो सकता है कि उनकी स्तुति में कहे गये सूक्तों की संख्या ऋग्वेद में सबसे अधिक (लगभग २५०) है। ऋग्वेद में वे सर्वाधिक मानवीय तत्त्वों से परिपूर्ण देवता हैं। इन्द्र का वैयक्तिक रूप इतना प्रबल है कि उनके मौलिक प्राकृतिक रूप का पता लगाना असम्भव सा है; इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसके विश्लेषण से भी इसमें कोई सहायता नहीं मिलती। यास्क ने इस शब्द की तेरह प्रकार से व्याख्या की है—

१. **इरां दृणाति। इरां ददाति। इरां दधाति। इरां दारयते। इरां धारयते।**

२. **इन्दवे द्रवति। इन्दौ रमते।**

३. **इन्धे भूतानि** (तद् यदेनं प्राणैः समैन्धन् तदिन्द्रस्य इन्द्रत्वम् इति विज्ञायते)।

४. **इदं करणात्** (इति आग्रयणः)। **इदं दर्शनात्** (इति औपमन्यवः)।

५. **इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः; इदं** (शत्रूणां) **दारयिता आदरयिता वा (यज्वनाम्) इति।**

निरुक्त १०।१।८

ये व्याख्याएँ उपर्युक्त प्रकार से ५ खंडों में वर्गीकृत की जा सकती हैं। पहले प्रकार की व्याख्या इरा या अन्न से सम्बन्धित है। वर्षा के देवता होने

के कारण इन्द्र अन्न के बीजों को प्रस्फुटित करते हैं (दृणाति, दारयते)। 'इरादारः' शब्द ही परोक्ष रूप से इन्द्र कहा जाता है। अन्न को धारण करने या प्रदान करने के कारण उन्हें इरादः, इराधः या इराध्रः (अथवा इराधरः) कहा जाता है जो 'इन्द्र' में बदल जाता है। इन्दु अथवा सोम के लिये दौड़ कर आने के कारण, अथवा सोमपान में आनन्द लेने के कारण वे **'इन्दुद्रवः'** अथवा **'इन्दुरमः'** हैं। ब्राह्मणों में प्राणों को इन्द्र कहा गया है। इन्ध् धातु का अर्थ है प्रदीप्त करना। प्राण समस्त शारीरिक वृत्तियों को प्रदीप्त करते हैं अतः वे इन्द्र हैं। आग्रयण और औपमन्यव का मत है कि इस समस्त संसार का निर्माण करने अथवा इसके द्रष्टा होने के कारण (इदंकरः, इदंदृशः) वे इन्द्र हैं। इन्द् धातु ऐश्वर्य या सामर्थ्यवाची है। अपने ऐश्वर्य (इदं) से वे याज्ञिकों के शत्रुओं को नष्ट करते अथवा भगाते हैं अतः 'इदं दरः' आदि मूल शब्दों से भी इन्द्र की निष्पत्ति हो सकती है।

स्पष्ट है कि इन्द्र शब्द का मूल अर्थ यास्क के समय में लुप्तप्राय हो चुका था। अधिकांश व्युत्पत्तियाँ बाद में ऋग्वैदिक इन्द्र के स्वरूप पर दृष्टि रखते हुए गढ़ ली गई हैं। 'इरां दृणाति' या 'इन्दुं द्रवति' आदि ऐसी ही व्युत्पत्तियाँ हैं। इतनी सारी व्युत्पत्तियों की व्याख्या करने के लिये, जिनमें से अधिकांश ध्वनि की दृष्टि से इन्द्र शब्द से बहुत दूर हैं, दुर्गाचार्य को एक लम्बा वक्तव्य देना पड़ा है[1]।

यास्क के द्वारा दी गई व्युत्पत्तियों में निश्चित रूप से **इन्द्** धातु से इन्द्र की निष्पत्ति मानना सर्वाधिक सन्तोषजनक है। पाणिनीय धातुपाठ में 'इदि परमैश्वर्ये' धातु प्राप्त होती है। इससे औणादिक र, रक् या रन् प्रत्यय लगाकर इन्द्र शब्द को लौकिक व्याकरण में सिद्ध किया गया है। इन्द्र देवता

---

१. **विज्ञायते हि 'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' इति। सर्वत्रैवं देवताभिधेयेषु अभिधानत एव हि देवता आत्मनस्तत्त्वमन्तर्णीय व्यवधाय आत्मानम् अविदुषा परोक्षीकृत्य नित्यं वर्तते तां तु विद्वांसः तदभिधानव्युत्पत्तिद्वारेण विवृत्य दैवेन चक्षुषा मनसोपजातदिव्यदृष्टयो दृष्ट्वा ताद्भाव्यं प्रतिपद्यन्ते इति तदभिधानव्युत्पत्तौ कृत्स्नः पुरुषार्थः आहितः।**

(नि० १०।१।८ की टीका)

की श्रेष्ठता ऋग्वेद में पूर्णतः निःसन्दिग्ध है। ऋ० १०।४९।१ में उन्हें ब्रह्म (महान्) भी कहा गया है—

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यम् वर्धनम् ।

ब्राह्मणों में भी उनका यह उत्कर्ष सुरक्षित है और उपनिषदों में तो कहीं-कहीं इन्द्र शब्द परमात्मा का वाची है (ऐ० उ० १।१।१४)। महाकाव्यादिकों में यद्यपि इन्द्र में उतनी शक्ति एवं सामर्थ्य नहीं है तो भी देवों के सम्राट् तो वे हैं ही।

इद् अथवा इन्द् धातु ही वैदिक इडा, इरा, इन्दु तथा लौकिक 'इन्दिरा' आदि शब्दों के मूल में है। डा० फतेह सिंह का मत है कि यह धातु भारोपीय है और नार्स 'ओडिन' तथा जर्मन 'वोडन' नामक युद्ध के देवताओं के नामों के मूल में भी इसी का अस्तित्व है[1]।

मैक्सम्यूलर[2] का कथन है कि इन्द्र शब्द उसी धातु से आया है जिससे इन्दु (बिन्दु या रस) शब्द बना है। अतः अपने मूल रूप में यह धातु अवश्य ही जल से संबन्धित रही होगी और मुख्यतः जल वर्षण से सम्बन्धित होने के कारण इस देवता का व्यक्तिवाचक नाम इसी धातु से बना लिया गया। मैक्डानल ने भी इन्द्र का इन्दु शब्द से सम्बन्ध स्वीकार किया है[3]। रोठ ने अपने कोश में इन्द्र शब्द को इन् या इन्व् (जीतना) धातु में व्यक्तिवाचक 'र' प्रत्यय से निष्पन्न माना है। द् व्यंजन का बीच में उच्चारण की सुविधा के लिये आगमन हुआ है (उसी प्रकार जैसे संस्कृत में सुनर से सुन्दर तथा हिन्दी में वानर से बन्दर शब्द बने हैं।)

---

१. **वैदिक एटिमॉलजी**, पृ० ६१-१०२; पर विद्वान् लेखक इन्द्र शब्द की अन्य आर्य भाषाओं के समान शब्दों के साथ तुलना करने में बहुत आगे बढ़ गया है, जिनमें से अधिकांश अप्रमाणित हैं (उदा० ओडिन या वोडन के यिम-थार नामक विशेषण की 'इन-दर' शब्द से तुलना)। वोडन शब्द का भी संस्कृत 'वात' से सम्बन्ध संभावित है, इन्द्र के साथ नहीं (द्रष्टव्य : प्रथम भाग, पृ० ३९)।

२. **लेक्चर्स आन लैंग्वेज**, द्वितीय भाग, पृ० ४३८।

३. **वै० मा०**, पृ० ६६।

संभवतः इन तीन संभावित व्युत्पत्तियों में ऐश्वर्यार्थक इद् (इन्द्) धातु ही सर्वाधिक उपयुक्त है। इन्दु शब्द 'उन्दी क्लेदने' (धा० पा० १४५८) से स्वर विपर्यय द्वारा (उन्दिः = इन्दुः) सिद्ध किया जाता है। इन्द्र शब्द यदि इसी धातु से बना है तो उसका रूप 'उन्द्र' होना चाहिये था। उ के इ में परिवर्तन का कोई कारण नहीं है। रोठ द्वारा निर्दिष्ट 'इन्' धातु संस्कृत में कहीं भी नहीं पाई जाती अतः संस्कृतेतर आर्य भाषाओं में प्राप्त होने वाली इस धातु से इन्द्र शब्द की, जो निश्चित रूप से भारतीय शब्द है और जिसका अस्तित्व भारोपीय काल में नहीं था, व्युत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

अस्तु, ऊपर कहा जा चुका है कि इन्द्र सबसे अधिक स्पष्ट व्यक्तित्व वाले देवता हैं। उनके सिर, उदर, भुजाओं तथा हाथों का वर्णन किया गया है। उनके शिप्र (ओष्ठ या हनु) का भी प्रायः वर्णन आता है। 'सुशिप्र' विशेषण उनके लिये प्रायः प्रयुक्त हुआ है। उनके दाढ़ी तथा मूछें भी हैं जो सोमपान के पश्चात् हिलने लगती हैं (**प्र दोधुवत् श्मश्रुषु प्रीणानो याहि हरिभ्यां सुतस्य पीतिम्,** ऋ० २।११।१७)। वे सूर्य के समान तेजस्वी हैं (१०।११२।३)। उनके बाल भूरे हैं (हरिकेश, १०।९६।८)। कठोर एवं सशक्त बाहु वाले होने के कारण उन्हें 'वज्रबाहु' भी कहा गया है। अपनी माया (या गुप्त शक्ति) के द्वारा वे चाहे जैसे बन जाते हैं (**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते,** ६।४७।१८ तथा **रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायां कृण्वानः** ३।५३।८)।

ऋग्वेद ४।१७।४ में द्यौः को इन्द्र का पिता बताया गया है। (**सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौः इन्द्रस्य कर्ता**)। एक स्थान पर इन्द्र की माता को गृष्टि या गौ बताया गया है (४।१८।१०)। १०।१११।२ में इसीलिये उन्हें **गार्ष्टेय** कहा गया है। उनके जन्म होने पर द्यावापृथिवी काँपने लगे थे (४।१७।२)। उत्पन्न होते ही वे एक महान् एवं अजेय योद्धा बन गये (३।५१।८) और देवों को उन्होंने अपने कार्यों द्वारा अभिभूत कर दिया (२।१२।१)। इन्द्र की पत्नी **इन्द्राणी** का भी उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है (१।२२।१२,२।३२।८,१०।८६।९,१०,११ आदि)। ऋ० १०।८६ में इन्द्र और इन्द्राणी में परस्पर एक सुन्दर वार्तालाप प्राप्त होता है जिसमें इन्द्राणी इन्द्र से उनके वानर वृषाकपि द्वारा अपने उद्यान के नष्ट किये जाने की शिकायत करती है। ऋ० १०।८६।११ में कहा गया है कि स्त्रियों में इन्द्राणी सबसे अधिक सौभाग्य-शालिनी है क्योंकि उसका पति कभी नहीं मरता। इन्द्र के लिये **शचीपति**

विशेषण भी प्रायः प्रयुक्त हुआ है। पिशेल का मत है कि शची शब्द यहाँ इन्द्र की पत्नी का नाम है। किन्तु अन्यत्र इस शब्द के बहुवचन में भी प्रयुक्त होने के कारण (उदा०, वा० सं० १०।३४ तथा १९।८१) मैकडानल का विचार है कि यह शब्द केवल 'शक्ति' का वाची है और इन्द्र को शक्तिशाली होने के कारण ही शचीपति कहा गया है।

इन्द्र का यान एक सुनहला रथ है जिसकी गति मन से भी तीव्र है (१०।११२।२)। इनके रथ को अनेक अश्व खींचते हैं (१।१६।१)। इस रथ पर इन्द्र श्येन की भाँति आकाश में उड़ते चले जाते हैं (८।३४।९)। **रथेष्ठा** (महारथी) विशेषण विशेष रूप से इन्द्र के लिये ही आया है।

इन्द्र का अपना विशेष अस्त्र वज्र है जो तडित् अथवा विद्युद्गर्जन का ही प्रतीक है। इस वज्र को इन्द्र के लिये त्वष्टा ने बनाया था। इसमें दो सौ पर्व हैं और एक सहस्र नोकें (भृष्टि)। इन्द्र इसे वीर कर्मों के लिये धारण करते हैं—

त्वष्टा यद् वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्।
धत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवे··· ॥

ऋ० १।८५।९

इस मन्त्र में वज्र को हिरण्मय बताया गया है किन्तु प्रायः इसे 'आयस' या लोहे का बना हुआ कहा गया है (१।५२।८)। यह अत्यन्त तीक्ष्ण धारों से युक्त है (७।१८।१८)। उनके अन्य अस्त्रों में अंकुश (६।८२।३), जाल (अ० वे० ८।८।५) तथा धनुष-बाण आदि प्रमुख हैं (१०।१०३।३)।

सम्पूर्ण वैदिक देवताओं में इन्द्र सोमपान करने के सर्वाधिक अभिलाषी हैं। जितना सोम वे पीते हैं उतना कोई भी मनुष्य या देवता नहीं पी सकता (८।२।४)। वह उनका सर्वाधिक प्रिय पेय है (८।४।१२)। मुख्यतः उन्हीं के लिये सोम का सवन होता है (इन्द्रायेन्दो परि स्रव, ऋ० ९।११२।१)। उत्पन्न होते ही उन्होंने सर्वप्रथम सोमपान किया (त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमम्·····३।३२।१०)। वृत्र दानव के वध के लिये शक्ति संचयार्थ उन्होंने सोम के तीन ह्रदों का पान किया था (५।२९।७)। एक स्थान पर (८।६६।४) तो उन्हें सोम के तीस सरोवरों का पान कर डालते हुए वर्णित किया गया है। ऋग्वेद में सोम और इन्द्र का यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि यह लगभग असंभव है कि सोम के किसी सूक्त में इन्द्र

का उल्लेख न हो। **सोम-पा** विशेषण इन्द्र के लिये विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है (२।१२।१३)। ऋ० ३।४८।४ में कहा गया है कि सोम के लिये इन्द्र ने त्वष्टा की चोरी तक कर डाली थी—

त्वष्टारमिन्द्रो जनुषाभिभूया अमुष्या सोममपिबत् चमूषु।

दानवों का वध करना इन्द्र का सर्वप्रमुख कार्य है। और दानवों में भी **वृत्र** से उनकी विशेष शत्रुता है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह राक्षस जल को सब ओर से आवृत कर लेता है (यद् वृत्रम् अपो वव्रिवांसम् ६।२०।२)। अन्तरिक्ष के जलों को घेर कर उनके ऊपर लेट जाने से (४।१९।२) जल की वृष्टि रुक जाती है। अतः इन्द्र इस वृष्ट्याच्छादक दैत्य को अपने वज्र से नष्ट कर डालते हैं (२।११।५)। वे उसके मर्म स्थानों पर अपने वज्रसे प्रहार करते हैं (३।३२।४)। उसके नष्ट होने पर सरिताओं का जल स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होने लगता है (१।५७।६, १।८५।९, अवासृजत् सर्तवे सप्तसिन्धून् २।१२।१२, तथा १।१०३।२, २।११।२, २।१९।३ आदि)। वृत्र का वध करने के कारण '**वृत्रहन्**' इन्द्र का अपना विशेषण है जो उनके लिये लगभग ७० बार प्रयुक्त हुआ है।

वृत्र के अतिरिक्त वे **नमुचि, शम्बर** एवं **बल** आदि अन्य अनेक राक्षसों का भी वध करते हैं। नमुचि का वध वे जल के फेन से करते हैं (अपां फेनेन नमुचेः शिरः इन्द्रो अवर्तयः, ८।१४।१३)। नमुचि शब्द सम्भवतः 'न मुच्' (न छोड़ने वाला) से बना है और वृत्र का विशेषण प्रतीत होता है। शम्बर पर्वतों में रहता था (२।१२।११, **यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तम्** और वहाँ उसके ९० दुर्ग थे, किन्तु इन्द्र ने उसे खोज कर मार डाला ७।१८।२०)।

इन असुरों के वध में **मरुत्** इन्द्र के विशेष सहायक बताये गये हैं। मरुद्गण से अत्यन्त घनिष्ठ संबन्ध होने के कारण इन्द्र के लिये **मरुत्वान्** विशेषण प्रायः प्रयुक्त हुआ है (५।४१।६ तथा ९।६५।१० आदि)। अग्नि के साथ युग्म-देवों के रूप में भी इन्द्र की प्रायः स्तुति की गई है (१।२१ तथा १।१०८ आदि)। इन्द्र का मध्यम-अग्नि (तडित्) से सम्बन्ध होने के कारण यह स्वाभाविक भी है।

असुरों के जिन पुरों अथवा पर्वतों का उल्लेख किया गया है वे मेघ के ही प्रतीक हैं। वृत्र तथा अन्य दैत्य इन्हीं पुरों या पर्वतों में छिपे रहते हैं

और इन्द्र मेघ रूपी पुरों को नष्ट करके उनका वध करते हैं। असुरों के इन पुरों का विभेद करने से उनका **पुरभिद्** या **पूर्भिद्** एक सामान्य विशेषण है (१०।१११।१० आदि)। ऋ० २।१२।२ में कहा गया है कि इन्द्र ने कंपायमान-पर्वतों को स्थिर किया (यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्) और ४।५४।५ के एक उल्लेख में कहा गया है कि पहले पर्वत इच्छानुसार इधर-उधर उड़ते रहते थे (यथा यथा पतयन्तो वियेमिरे) किन्तु इन्द्र ने उनका विनाश कर दिया (इन्द्र ज्येष्ठान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः)। **मैत्रायणी संहिता** १।१०।१३ में इसी आधार पर कहा गया है कि पहले पर्वतों के पंख थे। वे जहाँ चाहते थे वहाँ उतर जाते थे, अतः पृथिवी कंपित होती थी। किन्तु इन्द्र ने उन्हें काट डाला। कटे हुए पंख मेघ बन गये। अतः आज भी मेघ पर्वतों के पास जाते हैं। क्योंकि वे वहीं से उत्पन्न हुए हैं—

प्रजापतेर्वा एतद् ज्येष्ठं तोकं यत्पर्वताः। ते पक्षिण आसन्। ते परापातम् आसत, यत्र यत्र अकामयन्त। अथ वा इयं तर्हि शिथिरा आसीत्। तेषाम् इन्द्रः पक्षान् अच्छिनत्। तैः इमाम् अदृंहद्। ये पक्षा आसन् ते जीमूता अभवन् तस्माद् एते सर्पदि पर्वतम् उपप्लवन्ते। योनिः हि एषाम् एषः।

मै० सं० १।१०।१३

इन्द्र मेघों का भेदन करके जल की वृष्टि तो करते ही हैं साथ ही वे गायों को भी प्राप्त करते हैं जो उन मेघरूपी पर्वतों (की गुफाओं) में बन्द थीं। (यस्य गाः अन्तरश्मनो मदे दृल्हा अवासृजः, ६।४३।३)। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में पर्वतों में असुरों द्वारा निरुद्ध इन गायों के इन्द्र द्वारा विमुक्त करने का उल्लेख आता है (उदा० ८।४५।३, ६।१७।५, १०।११२।८, ५।३०।४ आदि)। **गो** शब्द किरणों का वाची है (सर्वे अपि रश्मयो गाव उच्यन्ते, **निरुक्तः** २।५)। आकाश का आच्छादन कर लेने वाले (वृत्राः) मेघ सूर्य की किरणों को भी अपने अन्दर निरुद्ध कर लेते हैं। इन्द्र इन मेघों के व्यूह को छिन्न भिन्न करके इन गायों का उद्धार करते हैं। जलवर्षण के उपरान्त मेघ प्रायः स्वतः छँट जाते हैं अतः इन्द्र के इन दोनों कार्यों का प्रायः साथ-साथ वर्णन हुआ है। ऋ० १।५२।८ में कहा गया है कि इन्द्र ने वृत्र को मार कर मनुष्यों के लिये जल को प्रवाहित किया और दैदीप्य-मान सूर्य को आकाश में स्थापित किया—

जवन्वान् उ हरिभिः संभृतक्रतविन्द्र वृत्रं मनुषे गातु यन् अपः ।
अयच्छथा बाह्वोः वज्रमायसम् अधारयो दिव्या सूर्यं दृशे ॥

इसी प्रकार ३।३४।८ में इन्द्र को एक साथ प्रकाश तथा जल प्राप्त करते हुए वर्णित किया गया है (ससवांसं स्वरपश्च देवीः)

इसी सम्बन्ध के कारण इन्द्र को प्रायः सूर्य तथा उषा का जनक बताया गया है (जजान सूर्यम् उषसं सुंदसा, ३।३२।८; यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता २।१२।७)। उन्होंने सूर्य को घोर अन्धकार से बाहर निकाला (सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्, ३।३९।५)।

असुर-हनन की उपर्युक्त कथाओं के अतिरिक्त इन्द्र से सम्बन्धित कुछ अन्य उपाख्यानों का भी ऋग्वेद में उल्लेख है। प्रायः यह कहा गया है कि एक श्येन आकाश से इन्द्र के लिये सोमरस को पृथ्वी पर लाया (३।४३।७, ४।१८।१३ तथा ८।८९।८ आदि)।

अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मधु आ जभार।

ऋ० ४।१८।१३

ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त (१०।१०८) में **सरमा** एवं **पणिओं** की मनोरंजक कथा प्राप्त होती है। पणि इन्द्र की गायों को चुरा ले जाते हैं। इन्द्र अपनी **सरमा** नामक शुनी को उनका पता लगाने के लिए भेजते हैं। किन्तु वह कृतघ्नता करके पणियों से ही मिल जाती है। बाद में इन्द्र उसके चरण चिह्नों पर जाकर पणियों का पता लगाकर उनका वध करते हैं (६।३९।२)। **अपाला** नामक स्त्री अपनी त्वचा के रोग को दूर करने के लिये अपने मुख में सोम सवन करती है और इन्द्र प्रसन्न होकर उसे एक सुन्दर युवती बना देते हैं (८।८०)। कुछ कथाओं में उनकी वीरता एवं अपने भक्तों को दी जाने वाली सहायता का भी उल्लेख आता है। वे समर में **सुदास** की सहायता करते हैं (७।३३।३) और उसके शत्रुओं को परुष्णी में डुबा देते हैं (७।१८।९)। वे **यदु** एवं **तुर्वसु** राजाओं का कल्याण करते हैं और उन्हें नदी के पार उतार देते हैं (१।१७४।९)। **नीतिमंजरी** में इन्द्र के सम्बन्ध में ऐसी लगभग ५० कथाओं का वर्णन किया गया है।

पराक्रम, शक्ति, ओज एवं माहात्म्य में इन्द्र अप्रतिम हैं। उत्पन्न होते

ही वे सब देवों से वीरता में आगे बढ़ गये थे । उनके पराक्रम एवं वीरता से पृथ्वी और आकाश काँपते हैं—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत ।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥
ऋ० २।१२।१

मनुष्यों और देवों में उनके समान महत्त्वशाली आज तक न तो कोई उत्पन्न हुआ और न भविष्य में होगा (न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो, न जातो न जनिष्यते; ७।३२।२३) । देवता या मनुष्य कोई भी उनकी शक्ति की थाह नहीं पा सके हैं (५।४२।६) । इन्द्र इतने बड़े हैं कि यदि वे पृथ्वी एवं आकाश को पकड़ लें तो वे उनकी मुट्ठी में ही आ जाएँ (३।३०।५) । यदि पृथ्वी दस गुना और विशाल होती तब वह इन्द्र के बराबर हो पाती (१।५२।११) । सभी प्राचीन देवों ने उनकी शक्ति एवं पराक्रम को सराहा है (७।२१।७) । सभी देवता उनके विचारों के अनुरूप कार्य करते हैं, यहाँ तक कि वरुण, सूर्य, तथा रुद्र भी उनके व्रत के अन्दर हैं (१।१०१।३, २।३८।९) । इन्द्र के अपने विशेषण भी असीम शक्ति के द्योतक हैं । **शचीपति** (शक्ति के स्वामी) का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । **शक्र** का अर्थ भी शक्तिशाली है और यह इन्द्र अपना एक विशिष्ट विशेषण है । उन्हें **तवस्** (बलवान्), **असुर** (शक्तिमान्) तथा **अमितौजाः** (अत्यधिक ओजस्वी, १।११।४) कहा गया है । उन्हीं की ऋषि सबसे अधिक स्तुति करते हैं अतः वे **पुरुष्टुत** या **पुरुहूत** (१।११।४) हैं । **शतक्रतु** एवं **शतमन्यु** विशेषण भी इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों (क्रतु या मन्यु) की ओर संकेत करते हैं ।

इन्द्र अत्यन्त उदार तथा दानी हैं । **मघवन्** (उदार) विशेषण उन्हीं के लिये प्रयुक्त होता है (३।५३।५) । वे धन के अक्षय कोष हैं (१०।४२।२) और अपने उपासकों को अपार समृद्धि प्रदान करते हैं (२।२२।३)

यजुर्वेद में इन्द्र की लगभग उन्हीं विशेषताओं का उल्लेख हुआ है जो ऋग्वेद में विस्तार से प्राप्त हैं । वे बल, पराक्रम तथा धन के धाता हैं (वा० सं० २।१०) । वे मरुत् के सखा, वृष्टिकारक, धान्यवर्धक, प्रमादरहित, बलदाता, यजमान के रक्षक तथा वज्री हैं (३।४६, ७।३६) । युद्ध में लड़ने के लिये शक्ति संचय करने के हेतु इन्द्र को सोम पान करने की आवश्यकता पड़ती है (७।३८) । वे सोमयाग की वृद्धि करने वाले, अनुपम बलशाली तथा

यजमान की इच्छा पूर्ण करने वाले हैं। (७।३९)। वा० सं० ७।४० में उनके लिये **पर्जन्य** शब्द आया है (महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमानिव)। १०।२८ में उन्हें '**विशोजा**' कहा गया है जिसका अर्थ सायण ने 'प्रजा का रक्षक' किया है। लौकिक संस्कृत में यह शब्द **विडोजा** के रूप में इन्द्र का मुख्य विशेषण बन गया है। युद्ध में इन्द्र का पराक्रम सर्वमान्य है अतः विजय के लिये उनका स्थान-स्थान पर आह्वान किया गया है (१७।४२-४३)। सदा जीतने के कारण वे **जयन्त** हैं (१७।३८)। परवर्ती देवशास्त्र में यह उनके पुत्र का नाम है। इसी मन्त्र में उन्हें **गोत्रभिद्** भी कहा गया है। गायों (किरणों) को निरुद्ध करने के कारण मेघ ही गोत्र हैं और इन्द्र उनके भेदक हैं। उन्हें **गोविद्** (गोविन्द) भी इसीलिये कहा गया है (१७।३७)। वर्धमान इन्द्र ने अपने शतपर्व युक्त वज्र से (३३।९६) उषा के पूर्व ही वृत्र को मारा था और इस कार्य में ३३ देवता उनके सहायक थे (समिद्ध इन्द्र उषसामनीके पुरोरुचा पूर्वकृद् वावृधानः। त्रिभिर्देवैः त्रिंशता वज्रबाहुः जघान वृत्रं विदुरो ववार, २०।३६)। इन्द्र ईशान (सामर्थ्यशाली) हैं (३७।३५); जहाँ तक सूर्य का प्रकाश पहुँचता है वह सब स्थान इन्द्र के वश में है (यदद्य कच्च वृत्रहन् उदगा अभिसूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे (३३।३५)[1]। परवर्ती देवशास्त्र में इन्द्र को अदिति का पुत्र बताया गया है। यह धारणा सर्वप्रथम वा० सं० २८।२५ में पाई जाती है (यं गर्भम् अदितिर्दधे शूचम् इन्द्रं वयोधसम्)।

इन्द्र का वसिष्ठ ऋषि एवं उनके वंशजों से विशेष सम्बन्ध है। ऋ० ७।१८।९, १३ में वे वसिष्ठ की प्रार्थना पर सुदास् की रक्षा करते हैं और इसी प्रकार वा० सं० २०।५४ में कहा गया है कि 'वसिष्ठ (एवं उनके वंशजों) ने तुम्हारी विशेष रूप से अभ्यर्चना की' (एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्ति अर्कैः)। इसी की ओर संकेत करते हुए **विष्णु पुराण** १।९।१-२४ की एक कथा में दुर्वासा ऋषि अपने द्वारा दिये गये पुष्प की इन्द्र द्वारा अवहेलना किये जाने पर क्रुद्ध होकर कहते हैं—

वसिष्ठाद्यैः दयासारैः स्तोत्रं कुर्वद्भिरुच्चकैः।
गर्वं गतोऽसि येनैवं मामप्यद्यावमन्यसे॥ विष्णु० १।९।२२

---

१. इस मन्त्र की थोड़ी सी भिन्न प्रकार से व्याख्या करके सूर्य एवं इन्द्र का तादात्म्य भी सिद्ध किया जा सकता है।

तै० सं० ३।५।२ में भी वसिष्ठ का इन्द्र से विशेष सम्बन्ध वर्णित करते हुए कहा गया है कि अन्य ऋषि इन्द्र को प्रत्यक्ष नहीं देख सके पर वसिष्ठ ने उन्हें देखा। इन्द्र ने उनको ब्रह्मज्ञान देकर अपनी स्तुति करने का आदेश दिया (ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्। तं वसिष्ठः प्रत्यक्षमपश्यत्। सः अब्रवीद् ब्राह्मणं ते वक्ष्यामि)।

अथर्ववेद में भी इन्द्र का महत्त्व पूर्णतः सुरक्षित है। अन्तिम (२०वें) काण्ड में लगभग १२५ सूक्त इन्द्र से संबन्धित हैं और शेष काण्डों में भी लगभग ४५० स्थानों पर उनका उल्लेख है। यदि आभिचारिक मन्त्रों को निकाल दिया जाय—जिनमें उनसे कहीं निष्ठुर प्रेमी को नष्ट करने की प्रार्थना की गई है (६।१३८।३), कहीं बच्चों के उदर के कृमियों को, (५।२३।२) तो कहीं सर्पों को (१०।४।१०); कहीं पत्नी की प्राप्ति के लिये उनकी स्तुति है तो कहीं (८।६।१३) गर्भवती स्त्री की रक्षा के लिए (८।६।१३)—तो उनका जो स्वरूप प्रकट होता है वह लगभग ऋग्वैदिक स्वरूप की ही भाँति है। वे वृत्र का हनन करने के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं (४।२४।१,६)। वे अत्यन्त बलशाली हैं और शक्ति के सर्वोत्कृष्ट निदर्शन हैं (१।३५।३)। अ० वे० १३।४।४६ में कहा गया है कि वे मृत्यु तथा अमरता से भी अधिक शक्तिशाली हैं (भूयानिद्रो नमुराद् भूयान् इन्द्रासि मृत्युभ्यः)। सब कवियों की वाणी उन्हीं की प्रशंसा करती है (४।२४।५)। वे पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं के स्वामी हैं (६।९८।२,३ आदि) और देवों के अधिपति हैं। शत्रुओं को जीतने के कारण उन्हें **विषासहि** कहा गया है।

इन्द्र की अथर्ववेद में सर्वाधिक प्रमुख विशेषता उनका सूर्य या आदित्य से तादात्म्य है। ऋग्वेद में तो केवल उन्हें सूर्य का उत्पादक तथा गो (प्रकाश) को प्राप्त करने वाला ही कहा गया है पर यहाँ वे पूर्णतः सूर्य बना दिये गये हैं (द्रष्टव्य १७।१)। उदित होते ही वे उपासक को तेज से उन्नतिशील बनाते हैं। (उदिहि उदिहि सूर्य वर्चसा मा उदिहि। मन्त्र ६)। ११वें मंत्र में कवि सूर्य को इन्द्र रूप में सम्बोधित करके उन्हें पुरुहूत, सर्ववित् आदि कहता हुआ उनसे कल्याणकारी होने की प्रार्थना करता है—

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र ।
त्वमिन्द्र सुहवंस्तोममेरस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम ॥

अ० वे० १७।१।११

नवम (त्वं न इन्द्र महते सौभगाय अदब्धेभिः परिपाहि अक्तुभिः), दशम (त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शं-तमो भव) तथा त्रयोदश मंत्रों में भी सूर्य की इन्द्र रूप में वर्णना है। किन्तु २०-२२ वें मंत्रों में पुनः उपासक के **'शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि, रुचिरसि रोचोऽसि'** तथा **'उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः। अस्तंयते नमः। अस्तमेष्यते नमः'** आदि शब्दों से पुनः इन्द्र का सूर्य-रूप उभर आता है।

देवों में सर्वाधिक शक्तिशाली होने के कारण प्रायः शत्रुओं को नष्ट करने के लिये प्रयुक्त मंत्रों में इन्द्र का विशेष स्थान है। राक्षसों एवं पिशाचों को भी वे यातविक शक्ति से नष्ट करते हैं। इन्द्र की शक्ति की स्मृति अवश्य सुरक्षित है पर उस शक्ति का उपयोग एवं विनियोग आथर्वणिक ऋषि अपने मंत्रों से ही करवाते हैं।

अब हम **ब्राह्मणों** पर आते हैं। इन्द्र की वीरता एवं पराक्रम की कथाओं पर यहाँ कर्मकाण्ड का आवरण पड़ा हुआ है। वृत्र-वध का सर्वत्र उल्लेख है, पर अनेक स्थानों पर विभिन्न कर्मकाण्डीय कृत्यों को ही इन्द्र का वज्र बताया गया है। **ऐ० ब्रा०** १।४।९ में कहा गया है कि आज्य (घृत) रूपी वज्र से ही इन्द्र ने वृत्र को मारा। घृत ही असुरों का विनाशक अशनि है (घृतेन हि इन्द्रो वृत्रमहन्)। **कौ० ब्रा०** ३।४ तथा **श० ब्रा०** ११।१।३।५ में कहा गया है कि इन्द्र ने पौर्णमास यज्ञ से पुष्ट होकर वृत्र का वध किया तो **कौ० ब्रा०** २३।२ में बताया गया है कि इन्द्र ने महानाम्नी सूक्तों द्वारा वृत्र का वध किया, आदि। ब्राह्मणग्रन्थ केवल यही जानते हैं कि वृत्र नामक कोई राक्षस था जिसे इन्द्र ने मारा। मारने की प्रक्रिया और उपकरणों के स्वरूप के विषय में कोई निश्चित धारणा प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि प्रत्येक स्थान पर यज्ञ के विभिन्न कृत्यों द्वारा वृत्र को मारा जाता हुआ बताया गया है। **ऐ० ब्रा०** २।१।३ में कहा गया है कि इन्द्र ने सोम तथा अग्नि की सहायता से वृत्र को मारा। उन्होंने इन्द्र से पुरस्कार स्वरूप कोई विशेष यज्ञिय भाग प्राप्त किया। ये सब तर्कणाएँ केवल यज्ञ के विभिन्न कृत्यों की व्याख्या मात्र हैं।

इन्द्र ने वृत्र को मार कर समस्त संसार का आधिपत्य प्राप्त किया (श० ब्रा० ५।२।३।७)। **श० ब्रा०** १।१।३।४,५ में कहा गया है कि वृत्र ने आकाश और पृथ्वी को आवृत कर लिया था। इन्द्र ने उसे मारा और उसके शरीर से जलकी धाराएँ निकल पड़ीं—

वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी । स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम । तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवापो अभिप्रसुस्रुवे ॥

श० ब्रा० १।१।३।४,५

वृत्र शब्द की बिलकुल यही व्युत्पत्ति तै० सं० २।४।१२ (यदिमान् लोकान् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्) तथा **निरुक्त** २।५।३ (वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्तते वा, वर्धते वा) में पाई जाती है।

तै० सं० २।१।४ तथा ५।४।५ में कहा गया है कि जब इन्द्र ने वृत्र (अहि) को मारा तो वृत्र ने अपनी १६ कुंडलियों से उसे लपेट लिया। इन्द्र ने अग्नि को हवि प्रदान की जिससे संतुष्ट होकर उसने **अहि** की कुंडलियों को १६ खंडों में जला दिया। उसके मुख से (विदेह की) गायें निकल पड़ी।

इन्द्र को '**विमृध्**' कहते हैं क्योंकि वे मृध् (राक्षसों, दुष्टों) को नष्ट करते हैं (श० ब्रा० ११।१।३।२)। बृहस्पति (ब्रह्म) की सहायता पाकर इन्द्र (क्षत्र) असुरों को नष्ट करते हैं (९।२।३।३)। इन्द्र क्षत्र (वीरता) के अधिपति हैं (८।४।३।१० इन्द्रियं वीर्यमिन्द्रः, क्षत्रं हि सः २।५।४।८)। वे क्षत्रियों के द्वारा उपास्य हैं (ऐ० ब्रा० ७।४।५)। इन्द्र अप्रतिरथ (अत्यन्त पराक्रमी, महारथी) हैं (९।२।३।५)। वे अकेले ही सब देवों के बराबर हैं (८।७।३।८)। वे सागर के समान विशाल हैं। (समुद्रव्यचसं)। वे सभी महारथियों में श्रेष्ठ हैं। सभी ऋषियों की वाणियाँ उन्हीं की स्तुति करती हैं। देवता भी उनकी महत्ता स्वीकार करते हैं—**इन्द्रो वै नो वीर्यवत्तमः** (श० ब्रा० ४।६।६।३)। उत्तम रक्षक होने के कारण उन्हें **सुत्रामा** कहा जाता है (५।५।४।२४)। विश् (प्रजा या मरुद्गण) ही उनकी शक्ति हैं अतः वे विशौजाः (या विडौजा) विशेषण से अभिहित किये जाते हैं (५।४।४।११)। श० ब्रा० ५।४।३।७ में कहा गया है कि इन्द्र का एक गुप्त नाम **अर्जुन** है (अर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम)। महाभारत के प्रमुख पाण्डव अर्जुन को भी इन्द्र का अवतार बताया गया है (आदि० ११२।३५)।

स्थान स्थान पर उनके अन्तरिक्ष से सम्बन्ध के संकेत मिलते हैं। उदा० **श० ब्रा०** १४।२।२।६ में कहा गया है कि इन्द्र ही **वायु** है (अयं वा इन्द्रो य एष पवते) और ११।६।३।९ में उनका **स्तनयित्नु** या तडित् से तादात्म्य किया गया है।

तैं० सं० ६।५।५ में इन्द्र के माहात्म्य तथा उत्कर्ष का एकमात्र कारण वृत्र-वध बताया गया है। वृत्र वध के कारण देवों ने उनकी महत्ता स्वीकार की जिससे उनका नाम **महेन्द्र** हो गया (इन्द्रो वृत्रमहन् तं देवा अब्रुवन् महान् अयम् अभूत् यो वृत्रमवधीः इति। तन्हेन्द्रस्य महेन्द्रत्वम् ॥)। **श० ब्रा०** ९।५।४।९ में भी इस भाव की प्रतिध्वनि प्राप्त होती है। वृत्र के वध के पूर्व वे 'इन्द्र' थे किन्तु जैसे राजा अन्य राजाओं को जीत कर महाराज बन जाता है उसी प्रकार वे भी वृत्र-वध से 'महेन्द्र' हो गये—

इन्द्रो वा एष पुरा वृत्रस्य वधात्। अथ वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यानः एवं महेन्द्रो अभवत्।

ऐ० ब्रा० ८।३।१ में इन्द्र के राज्याभिषेक का वर्णन है। सभी देवता तथा प्रजापति उन्हें एक स्वर से सभी देवों में सर्वाधिक सशक्त, पराक्रमी, वीर, सर्वकार्यक्षम तथा रक्षक स्वीकार करते हैं।

श० ब्रा० में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण उद्धरण प्राप्त होता है जिससे पता चलता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचयिताओं की स्मृति में इन्द्र एवं वृत्र के मूल प्राकृतिक आधार सुरक्षित थे और संभवतः वे समझते थे कि यह युद्ध वर्षा, तडित् एवं झंझावात के संघर्षमय प्राकृतिक दृश्य का ही रूपक है। **श० ब्रा०** ११।६।३।८ में कहे गये शब्द इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं; 'हे इन्द्र तुमने कभी किसी से युद्ध नहीं किया, और न तुम्हारा कोई शत्रु ही है। तुम्हारे जिन युद्धों का वर्णन किया जाता है वे सब माया या भ्रम मात्र हैं (अतः असत्य हैं)। न तुमने प्राचीन काल में युद्ध किया न अब करते हो—

नैतदस्ति यद् दैवासुरम्। यदिदमन्वाख्याने त्वत् उद् यत् इतिहासे त्वत्। तस्मादेतत् ऋषिणा अभ्यनूक्तम् —

न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहंन् न ते अमित्रो मघवन्‌ःकश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धानि आहुः नाद्य शत्रून् ननु पुरा युयुत्से ॥

इन्द्र के जन्म के विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों में थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में प्रायः एक ही कथा आती है। इसमें उन्हें **यज्ञ** (पुरुष) तथा **वाक्** (स्त्री) का पुत्र बताया गया है। ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषत्-साहित्य में वाक् की विश्व को उत्पन्न करने वाली सर्वोत्कृष्ट शक्ति के रूप में धारणा प्राप्त होती है और यज्ञ तो सृष्टि की सर्वोच्च शक्ति है ही। अतः इस देवश्रेष्ठ की

दोनों से उत्पत्ति स्वाभाविक ही है। कर्मकाण्डीय धारणाओं की पृष्ठभूमि में अमूर्त भावों का यह मानवीकरण ब्राह्मण ग्रंथों की ही नहीं प्रायः समस्त वैदिक एवं पौराणिक साहित्य की विशेषता है—

सोऽयं यज्ञो वाचमभिदध्यौ। मिथुनी एनया स्याम् इति तां संबभूव। इन्द्रो वा ईक्षांचक्रे। महद् वा इतः अभ्वं (अपत्यं, सायण) **जनिष्यते। यज्ञस्य च मिथुनात् वाचश्च। यन्मा तत् नाभिभवेदिति स इन्द्र एव गर्भो भूत्वा एतत् मिथुनं प्रविवेश॥**

श० ब्रा० ३।२।१।२५

तै० सं० २।१।५ में इन्द्र की उत्पत्ति एक गाय से बताई गई है जो इन्द्र को जन्म देने के पश्चात् वन्ध्या हो गई। ऋ० ४।१८।१० में भी इन्द्र की माता को 'गृष्टिः' ('गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः' **अमरकोश**) तथा इन्द्र को **गार्ष्टेय** कहा गया है (१०।१११।२)।

ऐ० ब्रा० ३।२।११ में इन्द्र की पत्नी का नाम **प्रासहा** (सेना) बताया गया है। **तै० सं०** २।२।८ में कहा गया है कि इन्द्र की पत्नी का नाम **इन्द्राणी** है और वह सेना की अधिष्ठात्री है। युद्ध के देवता इन्द्र की पत्नी का सेना से यह संबन्ध स्वाभाविक ही है—

इन्द्राण्यै चरुं निर्वपेद् यस्य सेना संशितेव स्यात्। इन्द्राणी वै सेनायै देवता।

पुराणों तथा महाकाव्यों में इन्द्र से सम्बन्धित जितनी भी प्रमुख गाथाएँ प्राप्त होती हैं उन सब के बीज ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाये जाते हैं। वृत्र-वध की भूमिका के रूप में **तै० सं०** २।४।१२ तथा २।५।१ में एक मनोरंजक कथा प्राप्त होती है। 'त्वष्टा देवता थे किन्तु उनकी पत्नी असुर-कन्या थी। उनके पुत्र **विश्वरूप** के तीन सिर थे जिनसे वह क्रमशः सोम-पान, सुरा-पान तथा अन्न-भक्षण करता था। वह देवों का पुरोहित था। यज्ञ में प्रत्यक्ष रूप से तो वह देवों को भाग देता था किन्तु परोक्ष रूप से असुरों को भी। इन्द्र ने सोचा कि इस प्रकार तो यह हमारा राज्य पलट डालेगा। अतः उसने अपने वज्र से उसके तीनों सिर काट डाले जो क्रमशः कपिंजल, कलविंक तथा तित्तिरि नामक पक्षी बन गये'—

विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत् स्वस्त्रीयो असुराणाम् । तस्य त्रीणि शीर्षाणि आसन् सोमपानं, सुरापानम् अन्नादनम् । स प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमवदत् परोक्षमसुरेभ्यः.... तस्माद् इन्द्रो अबिभेद् । ईदृक् वै राष्ट्र विपर्यावर्तयति इति । तस्य वज्रमादाय शीर्षाणि अच्छिनत् । यत्सोमपानमासीत् स कपिंजलो अभवत् यत् सुरापानं स कलविंको यदन्नादनं स तित्तिरिः ।

तै० सं० २।५।१

आगे की कथा इससे पिछले प्रपाठक में है । जब त्वष्टा को पता चला कि इन्द्र ने उसके पुत्र को मार डाला है तो उसने इन्द्र को सोमपान से वंचित कर दिया । इस पर इन्द्र ने आकर बलात् सोमपान किया । यह देख कर त्वष्टा ने सोम के उच्छिष्ट को यज्ञ कुंड में डालकर **'इन्द्रशत्रो विवर्धस्व'** कहा जिससे यज्ञ-धूम से वृत्र उत्पन्न हो गया; उसने सारे आकाश को आच्छादित कर लिया—

त्वष्टा हतपुत्रो वीन्द्रं सोमम् आहरत् । तस्मिन् इन्द्र उपहवमैच्छत् । तं नोपाह्वयत । पुत्रम् मे अवधीरिति । स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोमम् अपिबत् । तस्य यदत्यशिष्यत् तत् त्वष्टा आहवनीयम् उप प्रावर्तयत् । स्वाहा इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व इति । स संभवन् अग्नीषोमौ अभि समभवत्....इषुमात्रम् इषुमात्रं विश्वङ् अवर्धत स इमान् लोकान् अवृणोत्....।

तै० सं० २।४।१२

तब इन्द्र ने विष्णु की सहायता से उस दैत्य को नष्ट किया (तु० की०, श० ब्रा० ५।५।५।१-५)

श० ब्रा० ५।५।४।२-११ तथा १२।७।१०।१-१४ में यह कथा थोड़े से अन्तर के साथ कही गई है । वृत्र एवं विश्वरूप को यहाँ एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं माना गया है । विश्वरूप के मारने पर त्वष्टा इन्द्र को सोम से बहिष्कृत कर देते हैं । इन्द्र बलपूर्वक सोम का पान करता है किन्तु वह चोरी का सोम उसके मार्मिक स्थलों से बाहर निकल पड़ता है—

इदं वै मा सोमादन्तर्यन्तीति । स यथा बलीयान् बलीयसः

एवमनुपहूत एव यो द्रोणकलशे शुक्र आस तं भक्षयांचकार । स हैनं जिहिंस । सः अस्य विष्वङ् एव प्राणेभ्यो दुद्राव''''।

श० ब्रा० ५।५।४।८

इन्द्र की इस दशा को देख कर अश्विनौ उसके पास आते हैं और सुरा-पान करा कर उसे स्वस्थ करते हैं (कंडिका १५)। सुत्रामन् या इन्द्र से सम्बद्ध सौत्रामणि यज्ञ में इसीलिये सुरापान किया जाता है। इन्द्र द्वारा त्वष्टा के सोम की चोरी की कथा का बीज ऋग्वेद की निम्नलिखित दो ऋचाओं में विद्यमान है—

१. **त्वष्टारमिन्द्रो जनुषाभिभूया अमुष्या सोममपिबत् चमूषु** (३।४८।४)

२. **आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद् दधिषे सहः** (८।४।४)

ऐ० ब्रा० ७।५।२ में भी इन्द्र द्वारा **विश्वरूप, वृत्र, यति, अरुमंघ** आदि 'ब्राह्मण-असुरों' का वध किये जाने से अप्रसन्न होकर त्वष्टा द्वारा इन्द्र को ही नहीं अपितु उसके साथ-साथ समस्त क्षत्रिय जाति को सोमपान की अनधिका-रिणी बना देने का उल्लेख है।

वृत्र और विश्वरूप की यह कथा ऋग्वैदिक इन्द्र-वृत्र युद्ध से कहीं अधिक यथार्थ तथा वास्तविक है। ऋग्वेद में वृत्र का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। केवल सर्प की भाँति उसकी कुण्डलियों का उल्लेख किया गया है। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह कथा मानवीय आधार-भूमि पर स्थापित है। अतः इसने महा-काव्यों एवं पुराणादिकों में विस्तार से वर्णित वृत्रेन्द्र-संग्राम की भूमिका का कार्य किया है। कल्पना के चटकीले रंगों से सुसज्जित होकर पुराणों की कथा अत्यन्त रोचक बन गई है।

ब्राह्मणों में **विश्वरूप** असुर के देवों द्वारा पुरोहित बनाये जाने के किसी विशेष कारण का उल्लेख नहीं किया गया। पुराणों में मुख्यतः बृहस्पति की ही, देव पुरोहित तथा इन्द्र के मन्त्री के रूप में, मान्यता है। अतः उनको छोड़कर विश्वरूप को पौरोहित्य प्रदान करने के लिये किसी आधार का होना आवश्यक था। यह आधार **श्रीमद्भागवत** ६।७।८-१६ में विशेष रूप से वर्णित है। एक बार ऐश्वर्यातिरेक से इन्द्र उन्मत्त हो गया। गन्धर्वों एवं किन्नरों आदि की स्तुति में भूले रहने से राजभवन में आने पर उसने

उठकर देवगुरु बृहस्पति का अभिवादन नहीं किया। इससे अप्रसन्न होकर बृहस्पति घर चले आये और अपनी योग-शक्ति से अदृश्य हो गये—

स तदा परमाचार्यं देवानाम् आत्मनश्च ह।
नाभ्यनन्दत सम्प्राप्तं प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥
वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम्।
नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि समागतम् ॥
ततो निर्गत्य सहसा कविरांगिरसः प्रभुः।
आययौ स्वगृहं तूष्णीम् विद्वान् श्रीमदविक्रियाम् ॥
बृहस्पतिर्गतोऽदृष्टां गतिमध्यात्ममायया ॥

भाग० ६।७।७,८,९ १६।

इन्द्र ब्रह्मा की सलाह से त्वष्टा के योग्य पुत्र विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाते हैं (भाग० ६।७।३७-३८), पर उसकी असुरों के प्रति सहानुभूति देख कर वज्र से उसके सिर काट डालते हैं ((६।९।४)। ब्रह्महत्या को वे पृथ्वी, जल, वृक्ष तथा स्त्री-जाति में विभक्त कर देते हैं[1] (भाग० ६।९।६-१०)। त्वष्टा क्रुद्ध होकर यज्ञ कुण्ड से वृत्र को उत्पन्न करते हैं (६।९।१२)। इस भयंकर दैत्य का अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में भागवतकार ने इस प्रकार वर्णन किया है—

दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम्।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम् ॥
देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी।
नृत्यन्तमुन्नदन्तं च चालयन्तं पदा महीम् ॥
दरीगंभीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम्।
लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम् ॥
महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः।

भाग० ६।९।१३-१७

---

१. ब्रह्महत्या के पातक को इस प्रकार विभाजित करने का प्राचीनतम उल्लेख **तैत्तिरीय संहिता** २।५।१ में प्राप्त होता है। किन्तु यहाँ त्रेधा-विभाजन का ही उल्लेख है, जल की चर्चा नहीं है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि तैत्तिरीय संहिता में यज्ञकुंड से उत्पन्न वृत्र केवल यज्ञधूम का प्रतीक है। वह सोम एवं अग्नि को आत्मसात् करके बढ़ता है। वैदिक तथा लौकिक साहित्य में अनेक स्थानों पर यज्ञ के धूम को वृष्टि का कारण बताया गया है। उससे मेघ उत्पन्न होते हैं और मेघ से वृष्टि (यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसंभवः। गीता ३।१४)। यज्ञ का धूम मेघ बन कर आकाश मण्डल को व्याप्त कर लेता है। उसमें सोम (मधुर जल) तथा अग्नि (तडित्) आत्मसात् रहते हैं। इन्द्र वृत्र को मारते हैं और तब जल की धाराएँ पृथ्वी को आप्लावित कर देती हैं (तै० सं० २।५।२)। पर भागवत में वृत्र पूर्णतः मानवाकृति एवं दानवरूप है। उसका रूप स्थूल है, सूक्ष्म नहीं। उसकी भयानक आकृति को देखकर सभी लोग त्रस्त होकर इधर-उधर भाग जाते हैं (वित्रस्ता दुद्रुवुः लोकाः वीक्ष्य सर्वे दिशो दश। ६।९।१७)। इन्द्र की सहायता देवता करते हैं और वृत्र की **नमुचि, शंबर, पुलोमा** आदि राक्षस। इन्द्र अपनी पराजय संदिग्ध जानकर विष्णु की सलाह से दधीचि के पास पहुँचते हैं और उनकी अस्थियाँ लेकर विश्वकर्मा से वज्र का निर्माण करवाते हैं (भाग० ६।९।५१-६।१०।१३)। घोर देवासुर-संग्राम होता है जिसमें वृत्रासुर असीम पराक्रम का प्रदर्शन करता है (६।११।१-१५)। वह इन्द्र को निगल जाता है किन्तु इन्द्र वज्र से उसके उदर को फाड़कर निकल आते हैं (६।१२।३२) और उसका सिर काट डालते हैं। इस कथा के अन्त का यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें इन्द्र एवं वृत्र के युद्ध के प्राचीन प्राकृतिक आधार की झलक है—

> **वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः कृन्तन् समन्तात् परिवर्तमानः।**
> **न्यपातयत् तावदहर्गणेन यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये॥**
>
> भाग० ६।१२।३३

इसमें कहा गया है कि तीव्रतापूर्वक घूमते हुये इन्द्र के वज्र ने वृत्र के कंठ को पूरे एक वर्ष पश्चात् वृत्रवध के मुहूर्त में काटा। निश्चित रूप से यह प्रतिवर्ष वर्षाकाल में इन्द्र द्वारा होने वाली वृत्र की पराजय एवं तज्जन्य जलवृष्टि की ओर संकेत करता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होने वाली **दधीचि** की **अश्विनौ** को मधुविद्या प्रदान करने की कथा बाद में वृत्र-वध के इस आख्यान से जोड़ दी गई है। अश्विनौ के वर्णन में कहा जा चुका है कि इन्द्र ने अथर्वा के पुत्र दध्यङ् से अश्विनौ को

मधुविद्या प्रदान करने के लिये मना कर दिया था और ऐसा करने पर उसका सिर काट डालने की धमकी दी थी। अश्विनौ ने एक अश्व का सिर दध्यङ् के जोड़ दिया और विद्या प्राप्त की। जब इन्द्र ने उसे काट डाला तो उन्होंने उसका वास्तविक सिर लाकर लगा दिया (श० ब्रा० १४।१।१।१८-२५)। बाद में इन्द्र को वृत्रवध के लिये जब किसी प्रभावशाली शस्त्र की आवश्यकता पड़ती है तो देवता उन्हें दधीचि के अश्व-शिर की अस्थियों का उपयोग करने को कहते हैं, क्योंकि मधुविद्या के उपदेशक होने के कारण उस कंकाल में अतुल-शक्ति का वास था। सिर का कंकाल खोजा जाता है और विश्वकर्मा उसकी अस्थियों से वज्र का निर्माण करते हैं। **रामा० बाल०** २७।११ में वज्र को 'हयशिरः' कहा गया है।

महाभारत तथा **पुराणों** में आकर यह प्रसंग दधीचि के त्याग, बलिदान एवं तेज का अपूर्व आख्यान बन जाता है। वृत्र के पराक्रम से व्याकुल देवता दधीचि के पास पहुँचते हैं और उनसे अपने शरीर की समस्त अस्थियाँ प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं क्योंकि विष्णु ने उनसे कह रखा है कि ब्रह्मतेज-युक्त दधीचि की अस्थियों में ही वृत्र जैसे राक्षस का वध करने की सामर्थ्य है। दधीचि लोक कल्याण के लिए हँसते-हँसते योग-बल से अपना शरीर छोड़ देते हैं। वन्य गायें उनके शरीर का मांस चाट जाती हैं और देवता उनकी अस्थियाँ लेकर चले जाते हैं (महाभारत वन० १००।२१, शल्य० ५१।२९-३०, शान्ति० ३४२।४०; ब्रह्म पु० ११० अ०; पद्म पु० सृष्टि० १९ अ०; भाग० ६।९,१० आदि) **ब्रह्मपुराण** की कथा में इसका भी कारण वर्णित किया गया है कि देवों ने दधीचि की ही अस्थियाँ क्यों लीं। देवों ने एक बार आवश्यकता न जान कर अपने सभी शस्त्र दधीचि के आश्रम में रख दिये। किन्तु बहुत दिनों तक जब देवता उन्हें लेने नहीं आये और राक्षस उनको ले जाने की घात में रहने लगे तो दधीचि ने उनका अभिमंत्रित जल से प्रक्षालन किया और जल को पी गये जिससे उन सम्पूर्ण शस्त्रों की शक्ति और प्रभाव को उनके शरीर ने आत्मसात् कर लिया (११०।३८, ३९)। ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र के लौह या स्वर्ण-निर्मित वज्र से वर्तमान अस्थिमय-वज्र कितना भिन्न है! तथापि अभी भी यदा-कदा इसके तडित् से सम्बन्ध के संकेत मिल जाते हैं, उदाहरणार्थ **पद्म० सृष्टि०** १९।६५ में कहा गया है कि 'इन्द्र के वज्र से विद्युत् के समान गर्जन होता है।'

वृत्रवध के इस आख्यान पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि वृत्र में

कोई भी राक्षसी दोष नहीं है। इन्द्र अपने गुरु तथा पुरोहित विश्वरूप का वध करते हैं। वह ब्राह्मण है और ब्राह्मण का वध शास्त्र के अनुसार किसी भी स्थिति में क्षत्रिय द्वारा विहित नहीं है। इसके पश्चात् वह त्वष्टा की अनुमति के बिना उसके सोम का भी पान करता है। अतः त्वष्टा द्वारा उसको दण्ड देने के लिये प्रयत्न करना स्वभाविक ही है। वृत्र क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए अपने भाई की मृत्यु का बदला लेने के लिये यत्न करता है और धर्म-युद्ध में प्राण देता है। उसका चरित्र पूर्णतः निर्दोष है। वेदों में जल का अवरोध करना ही उसका मुख्य अपराध था पर उसकी स्मृति तो अब पूर्णतः लुप्त हो चुकी है। अतः धीरे-धीरे महाकाव्यों में वृत्र के स्वरूप का उत्कर्ष होता चला गया है। महाभारत में वृत्र को परम ज्ञानी, बुद्धिमान् तथा धार्मिक व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। **महा० शान्ति०** २७९।१३-३१ में उसे इन्द्र के द्वारा निहत नहीं बताया गया है। तीनों लोकों को जीतने की इच्छा से वह तपस्या करता है और फिर ऐश्वर्य के उन्माद में समस्त देवों की सम्पत्ति हस्तगत कर लेता है किन्तु बाद में उसे प्रबोध होता है और विष्णु में अटूट श्रद्धा के कारण वह युद्ध के अवसर पर विष्णु को प्रत्यक्ष देखता है—

युयुत्सुना महेन्द्रेण पुंसा सार्धं महात्मना ।
ततो मे भगवान् दृष्टो हरिर्नारायणः प्रभुः ॥

शान्ति० २७९।२८

इन्द्र केवल उसका राज्य छीन कर उसे पद-भ्रष्ट कर देते हैं। पर वृत्र को इससे शोक नहीं होता। शुक्राचार्य से वह कहता है कि मैंने सत्य और तप के प्रभाव से जीवों के आवागमन का रहस्य जान लिया है अतः मुझे हर्ष और शोक नहीं होते—

सत्येन तपसा चैव विदित्वासंशयं ह्यहम् ।
न शोचामि न हृष्यामि भूतानामगतिं गतिम् ॥

शान्ति० २७९।१६

वह सनत्कुमार आदि से विष्णु-भक्ति के विषय में प्रश्न करता है (शान्ति०, २८० अ०) और अन्त में विष्णु का ध्यान करते हुए अपने प्राणों को छोड़कर परम धाम प्राप्त करता है (योजयित्वा तथात्मानं परं स्थानमवाप्तवान्, २८०।५९ तथा २८३।६०, ६१)। युधिष्ठिर उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

अहो धर्मिष्ठता तात वृत्रस्यामिततेजसः ।
यस्य विज्ञानमतुलं विष्णोर्भक्तिश्च तादृशी ॥

शान्ति० २८१।१

श्रीमद्भागवत में भी उसे विष्णु का एक उत्कृष्ट भक्त तथा ज्ञानी बताया गया है । इन्द्र से युद्ध करते समय सांसारिक जंजाल से खिन्न होकर विष्णु के चरणों में अपने चित्त को लगा कर वह उनकी मार्मिक स्तुति करता है—'हे भगवान्, जो आपके चरण-कमलों का सहारा लेकर रहते हैं मुझे उनके दासों का भी दास बनने का सौभाग्य प्राप्त हो । मेरा मन आपका चिन्तन करे, वाणी आप के गुण गाये और शरीर आपका कार्य करे । बिना पंख वाले पक्षी जैसे अपनी माता की बाट जोहते हैं, भूख से पीड़ित बछड़े जैसे अपनी माता के दूध पीने को आतुर रहते हैं और विरहिणी जैसे अपने परदेशी प्रियतम की प्रतीक्षा में व्याकुल रहती है उसी प्रकार मेरा हृदय भी अब आपको देखने के लिये तड़प रहा है'—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥

भाग० ६।११।२६

वृत्र के शरीरपात के पश्चात् इस विष्णु-भक्त के शरीर से एक ज्योति निकल कर विष्णु में विलीन हो जाती है (भाग० ६।१२।३५) ।

कहाँ वैदिकयुगीन आसुरीभावमय वृत्रासुर और कहाँ विष्णु के प्रति संपूर्णतया समर्पित यह सात्त्विक और धार्मिक व्यक्तित्व ? दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है । विष्णु भक्ति की जाह्नवी में अवगाहन कर पुराणों में अनेक पापियों के कल्मष धुल गये हैं और एक उज्ज्वल चरित्र निखर आया है ।

वृत्र के इस उत्कर्ष के विपरीत इन्द्र का उत्तरोत्तर अपकर्ष हुआ है । पुराणों में उन्हें एक नीच, छली और ईर्ष्यालु देवता के रूप में चित्रित किया गया है और इस प्रवृत्ति की चरम सीमा तब परिलक्षित होती है जब महाभारत तथा देवी भागवत आदि पुराणों में इन्द्र को त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का अकारण वध करते हुए वर्णित किया जाता है । **महा०, उद्योग०** ९ तथा १०वाँ अ०, **देवी भाग०** ६।१।३०-६।२।२७ में त्रिशिरा को इन्द्र का पुरोहित नहीं अपितु एक तपस्वी ऋषि बताया गया है । वह घोर तपस्या करता है । इन्द्र

उसके बढ़ते हुए प्रभाव से सशंक होकर सोचते हैं कि कहीं यह इन्द्रपद प्राप्त करके मुझे नष्ट न कर दे—

तं च दृष्ट्वा तपस्यन्तं खेदमाप शचीपतिः ।
विषादमगमत् तत्र शक्रोऽयं मास्म भूदिति ।।

देवी भा० ६।१।३६

उसकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये वे अप्सराओं को भेजते हैं किन्तु उनसे जब काम नहीं चलता तो स्वयं वज्र से उसका वध कर डालते हैं (देवी भा० ६।२।४) । नीचता और भय की यह पराकाष्ठा है। इसी प्रकार **रामायण उत्तर०** ८४-८६ सर्गों में भी वृत्र को अत्यन्त सदाचारी, विद्वान् तथा धार्मिक चित्रित किया गया है। वह तपस्या करता है किन्तु इन्द्र उसके तेज से भयभीत होकर उसका वध कर देते हैं। इन्द्र की दुष्टता और निर्बलता की इस पृष्ठभूमि में वृत्र का चरित्र और भी निखर उठता है।

त्वष्टा के पुत्र **त्रिशिरा** का उल्लेख ऋग्वेद में भी है पर इन्द्र के अतिरिक्त प्रायः **त्रित** को भी उसका वध करते हुए वर्णित किया गया है। वृत्र की भाँति वह भी देवों की गायें चुरा लेता है—

त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान् त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः ।

ऋ० १०।८।८

वैदिक त्रिशिरा राक्षस पुराणों में एक तपस्वी ऋषि है। वृत्र के उपर्युक्त भक्त-स्वभाव की व्याख्या करने के लिये बाद में कुछ कथाओं का निर्माण हुआ है जिसमें प्रायः उसे पूर्वजन्म का **चित्रकेतु** (भाग० ६।१७।१-२५) या **मणिमान्** (महा० आदि० ६७।४४) नामक राजा बताया गया है जो अत्यन्त भगवद्-भक्त था किन्तु शिव का उपहास करने से पार्वती के शापवश अगले जन्म में वृत्र नामक राक्षस हुआ।

ब्रह्म० ९६।२-४, **भाग०** और **महा० उद्योग०** १०।४६ तथा **शान्ति०** २८२।११-१८ में इन्द्र का वृत्र-वध करने के उपरान्त ब्रह्महत्या के भय से भाग कर जल में जा छिपने का वर्णन है। इसका आधार **तै० सं०** २।५।३ तथा **श० ब्रा०** १।६।४।१,२ में है जहाँ कहा गया है कि इन्द्र वृत्र पर प्रहार कर (ब्रह्महत्या रूप) अपराध के भय से अभवा वृत्र को जीवित समझकर दूर भाग गये (इन्द्रो वृत्रं हत्वा परां परावतम् अगच्छद् अपराधमिति मन्यमानः, **तै० सं०**)।

अब हम इन्द्र के दूसरे प्रमुख शत्रु **नमुचि** पर आते हैं। पीछे (पृ० ४१६) कहा जा चुका है कि ऋग्वेद ८।१४।१३ में इन्द्र द्वारा जल के फेन से नमुचि का वध करने का उल्लेख है (अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रो अवर्तयः)। इसकी व्याख्या में सायण ने ब्राह्मणों के आधार पर निम्नलिखित कथा उद्धृत की है—

> **पुरा किल इन्द्रो असुरान् जित्वा नमुचिमसुरं ग्रहीतुं न शशाक। स च युध्यमानः तेनासुरेण जगृहे। स च गृहीतमिन्द्रम् एवम् अवोचत्। 'त्वां विसृजामि रात्रौ अह्नि च शुष्केनार्द्रेण चायुधेन यदि मां न हिंसीः इति' स इन्द्रः तेन विसृष्टः सन् अहोरात्रयोः सन्धौ शुष्कार्द्रविलक्षणेन फेनेन तस्य शिरश्चिच्छेद।**

सायण ने यह कथा उस शाखा के ब्राह्मण से ली है जिसके वे स्वयं अनुयायी थे, अर्थात् तैत्तिरीय ब्राह्मण से। इस ब्राह्मण में कथा का सबसे प्राचीन रूप प्राप्त होता है। वृत्र का वध करने और असुरों को पराजित कर लेने पर भी इन्द्र नमुचि को नहीं मार पाते। नमुचि ही उनको अपने बल से बाँध लेता है और इन्द्र के कहने पर इस शर्त पर छोड़ता है कि बाद में इन्द्र उसे न तो दिन में मारेंगे न रात में, न गीले शस्त्र से और न सूखे। किन्तु इन्द्र चालाकी से एक दिन प्रातःकाल उसे जल के फेन से मार डालते हैं—

> **इन्द्रो वृत्रं हत्वा असुरान् पराभाव्य नमुचिमसुरम् नालभत तं शच्या अगृह्णात्। तौ समलभेताम्। सोऽस्माद् अभिशुनतरोऽभवत्। सोऽब्रवीत् 'सन्धिं सन्दधावहै। अथ त्वा अवस्रक्ष्यामि। न मा शुष्केण नार्द्रेण हनः न दिवा न नक्तम्।' स एवम् अपां फेनेन असिंचत्। न वै एष शुष्को नार्द्रः। व्युष्टा आसीद् अनुदितः सूर्यः। न वै एतद् दिवा न नक्तम्। तस्य एतस्मिन् लोके अपां फेनेन शिर उदवर्तयः।**
>
> तै० सं० १।७।१।६

शुक्ल यजुर्वेदीय परम्परा के अनुसार कथा में अश्विनौ भी महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। **ऋ०** १०।१३१।४ तथा **वा० सं०** १०।३३ में जो मंत्र प्राप्त होता है वह इस प्रकार है—

> **युवां सुराणाम् अश्विना नमुचावसुरे सचा।**
> **विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्ववातम्॥**

इसमें अश्विनौ द्वारा नमुचि के वध के अवसर पर इन्द्र की रक्षा करने का उल्लेख है। **श० ब्रा०** १२।७।३।१-४ में इस संकेत को पल्लवित करते हुए इसे थोड़ा सा कर्मकाण्डीय पुट दे दिया गया है। सुरा से प्रमत्त नमुचि इन्द्र के बल, अन्न के रस तथा सोम को हर ले गया। इन्द्र अश्विनौ तथा सरस्वती के पास पहुँचे और बोले कि मैंने नमुचि से प्रतिज्ञा की है कि न तो तुम्हें दिन में मारूँगा न रात में। न धनुष से न डण्डे से। न थप्पड़ से न मुक्के से। न गीली वस्तु से न सूखी वस्तु से। अब तुम मेरे बल को वापिस दिलाने की चेष्टा करो। सरस्वती और अश्विनौ ने जल में फेन उत्पन्न किया। इन्द्र ने प्रातःकाल उससे नमुचि का वध किया। किन्तु उसके अन्दर जो सोम था वह रक्त मिश्रित था अतः अश्विनौ ने उसे '**सोमो राजा अमृतं सुतः**' (वा० सं० १९।७२) आदि मंत्रों से पृथक् तथा शुद्ध किया और इन्द्र को लाकर प्रदान किया—

इन्द्रस्य इन्द्रियम् अन्नस्य रसं सोमस्य भक्षं सुरया असुरो नमुचिः अहरत् सः अश्विनौ सरस्वतीं चोपाधावत्। शेपानो अस्मि नमुचये न त्वा दिवा न नक्तं हनानि। न दंडेन न धन्वना। न पृथेन न मुष्टिना न शुष्केण नार्द्रेण····। तस्य शीर्षंश्छिन्ने लोहितमिश्रः सोमो अतिष्ठत्। तस्मादभीत्सन्त। त एतदन्धसो विपानमपश्यन्···· तेनैनं स्वदयित्वा आत्मन् अदधत॥

श० ब्रा० १२।७।३।१,३,४

महाभारत में तीन स्थानों पर (वन० २५।१० तथा २९२।४, शल्य० ४३।३७, ३८) इन्द्र द्वारा नमुचि वध का उल्लेख है। शल्य पर्व की कथा इस प्रकार है—एक बार इन्द्र के भय से नमुचि सूर्य की किरणों में समा गया किन्तु इन्द्र ने उसे आश्वासन दिया कि मैं तुमको दिन या रात्रि में, सूखी अथवा गीली वस्तु से नहीं मारूँगा। नमुचि निकल आया तो एक दिन इन्द्र ने फेन से उसका गला काट डाला। वह कटा सिर विश्वासघाती इन्द्र के पीछे लग गया पर इन्द्र ने किसी प्रकार अरुणा नदी में स्नान करके उससे छुटकारा पाया—

नमुचिर्वासवाद् भीतः सूर्यरश्मिं समाविशत्।
तेनेन्द्रः सख्यमकरोत् समयं चेदमब्रवीत्॥
न चार्द्रेण न शुष्केण न रात्रौ नापि चाहनि।
वधिष्याम्यसुरश्रेष्ठ सखे सत्येन ते शपे॥

एवं स कृत्वा समयं दृष्ट्वा नीहारमीश्वरः ।
चिच्छेदास्य शिरो राजन् अपां फेनेन वासवः ॥
तच्छिरो नमुचेश्छिन्नं पृष्ठतः शक्रमन्वियात् ।
भो मित्रहन् पापेति ब्रुवाणः शक्रमन्तिकात् ॥

उद्योग० ३५-३८

वृत्र की भाँति नमुचि को भी **महाभारत, शान्ति** पर्व के २२६वें अ० में जीवित दिखाया गया है। नमुचि राजलक्ष्मी से भ्रष्ट होने पर प्रशान्त महासागर के समान गम्भीर बना रहता है (श्रिया विहीनमासीनम् अक्षोभ्यमिव सागरम्, २) और इन्द्र द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देता है। महाभारत तथा पुराणों में यह एक सामान्य धारणा है कि शुक्राचार्य अपनी संजीवनी विद्या से मृत दैत्यों को जीवित कर देते थे। अतः प्राचीन दैत्यों को इस प्रकार जीवित वर्णित कर देने पर भी कोई असामंजस्य नहीं उत्पन्न होता।

महाभारत, उद्योग० १० अ० में नमुचि कथा की कुछ विशेषताएँ वृत्र-वध की कथा से मिल गई हैं। यहाँ यह कहा गया है कि इन्द्र ने संध्या-काल में अपने वज्र पर जल-फेन लगा कर वृत्र का वध किया क्योंकि उसे ब्रह्मा से दिन या रात्रि में, सूखी या गीली वस्तु से न मरने का वरदान प्राप्त था (१०।३९)।

इन्द्र से सम्बन्धित एक अन्य महत्त्वपूर्ण कथा के बीज भी ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। **रामायण** में इन्द्र के गौतम ऋषि की पत्नी **अहल्या** के साथ व्यभिचार करने और परिणामस्वरूप ऋषि द्वारा दोनों को शाप देने की कथा विस्तार से वर्णित की गई है (बाल० ५०।११ तथा उत्तर० ३०।२१-४६)। इसका संकेत **श० ब्रा०** ३।३।२।१८ में उद्धृत इस मंत्र में प्राप्त होता है—

हरिव आगच्छ मेधातिथिर्मेषवृषणश्वस्य मेने ।
गौरवावस्कन्दिन् अहल्यायै जार इति ।

यह मंत्र **जैमिनीय ब्राह्मण** २।७९ तथा **षड्विंश ब्रा**० १।१।२ में भी प्राप्त होता है। संपूर्ण वैदिक साहित्य में अहल्या के साथ इन्द्र के संपर्क का केवल यही एक उल्लेख है। पर यहाँ अहल्या का स्वरूप अत्यन्त अस्पष्ट है। 'अहल्या का जार' बताने के अतिरिक्त इन्द्र के विषय में भी और कुछ नहीं कहा गया। प्रतीत होता है कि यह कथा लोक-विश्वास में सुरक्षित चली

आई और रामायण काल में आकर सुन्दर रूप से विकसित हुई। वास्तविक एवं प्रमुख विकास बाद में होने से कथा में परवर्ती तत्त्व आ जाने स्वाभाविक ही थे अतः मुख्य कथा का राम से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। रामायण में ऋषि गौतम को अहल्या का पति बताया गया है। **बालकाण्ड** की कथा के अनुसार इन्द्र एक बार गौतम ऋषि का रूप धारण करके आते हैं और अहल्या से संगम की याचना करते हैं। जब अहल्या को पता चलता है कि साक्षात् देवराज इन्द्र ही मेरे पास आये हुए हैं तो उसका चित्त चंचल हो जाता है। गौतम ऋषि को जब दोनों के कुकृत्य का पता चलता है तो वे इन्द्र को शाप देकर नपुंसक बना देते हैं और अहल्या को भी अपना स्थूल शरीर छोड़कर अदृश्य सूक्ष्म-रूप से वायु भक्षण करते हुए आश्रम में रहने का शाप देते है किन्तु साथ ही यह विधान कर देते हैं कि राम के इस आश्रम में प्रवेश से उसे अपना प्राचीन रूप फिर प्राप्त हो जाएगा।

वायुभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्म शायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि॥
यदा चैतद् वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि॥

रामा० बाल० ५०।३०,३१

रामायण के **उत्तरकाण्ड** में बालकाण्ड की कथा से इतना अन्तर है कि यहाँ अहल्या अपनी इच्छा से आत्मसमर्पण नहीं करती। इन्द्र को वह उसके छद्मवेश के कारण गौतम ही समझती है—

अज्ञानाद् धर्षिता नाथ त्वद्रूपेण दिवौकसा।
न कामकाराद् विप्रर्षे प्रसादं कर्तुमर्हसि॥

उत्तर० ३०।४२

अहल्या के विषय में कहा गया है कि वह त्रिलोक में अनुपम सुन्दरी थी। प्रजापति ने प्रजा के सौन्दर्य का सारभाग लेकर उसका निर्माण किया था। हल्य (कुरूपता) के अभाव के कारण वह अहल्या थी (हलं नामेह वैरूप्यं हल्यं तत्प्रभवं भवेत्। यस्मान्न विद्यते हल्यं तेनाहल्येति विश्रुता, ३०।२५)। रामायण, उत्तरकाण्ड, की यह कथा **ब्रह्मपुराण** के ८७वें अध्याय में सुन्दर रूप से विकसित की गई है। समस्त पौराणिक साहित्य में संभवतः इसका सबसे उत्तम रूप यहीं प्राप्त होता है। **महा० शान्ति०** ३४२।२३ में भी इस कथा का अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख है।

जहाँ तक इस कथा के भौतिक अथवा देवशास्त्रीय आधार का प्रश्न है, उसकी व्याख्या मीमांसकों ने बहुत पहले ही संतोषजनक रूप से कर दी थी। जैमिनीय सूत्र ९।१।४२,४४ की व्याख्या करते हुए **तन्त्रवार्तिक** में कुमारिल भट्ट ने कहा है कि अहल्या शब्द रात्रि का वाची है। अहन् या दिन में लीन हो जाने के कारण रात्रि अहल्या कहलाती है। और सूर्य ही इन्द्र है। जार का अर्थ है क्षीण करने वाला या नष्ट करने वाला। क्योंकि यह शब्द 'जॄ-वयोहानौ' धातु से बना है। रात्रि को क्षीण करने के कारण सूर्य रूपी इन्द्र को अहल्या का जार कहते हैं—

समस्ततेजः परमेश्वरत्वनिमित्तेन्द्रशब्दवाच्यं सवितैव अहनि लीयमानतया रात्रेः अहल्याशब्दवाच्यतया क्षयात्मकजरणहेतुत्वाद् जीर्यति अस्मात् अनेन वा उदितेन वा इत्यहल्याजार उच्यते न परस्त्रीव्यभिचारात् ॥

वैदिक साहित्य में इन्द्र की सूर्यात्मकता के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में तो पूरा एक सूक्त (१७वाँ काण्ड) ही दोनों का तादात्म्य सूचित करता है। ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा सूर्य के प्रकाश को पुनः प्राप्त करने का जो उल्लेख है उससे इन्द्र का सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाना स्वाभाविक ही है। **श० ब्रा०** ३।४।२।१५ में कहा गया है—**'एष वा इन्द्रो य एष तपति'**। ८।५।३।२ में पुनः उन्हें आदित्य कहा गया है। **तै० सं०** १।७।६ में भी एतद्विषयक यह वाक्य प्राप्त होता है—**'असौ वा आदित्य इन्द्रः'**। **श० ब्रा०** २।३।१।७ में सूर्य को इन्द्र बताया गया है; उसकी किरणे ही 'विश्वेदेवाः' कहलाती हैं—

एते वै विश्वेदेवा रश्मयः योऽथ परं भाः स इन्द्रः।

श० ब्रा० १।६।४।१८ के भाष्य में आदित्य और इन्द्र के तादात्म्य की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने कहा है **'आदित्य एवेन्द्रः परमैश्वर्ययोगात्'**।

वा० सं० ३।१० का निम्नलिखित मंत्र इन्द्र और अहल्या की कथा की कल्पना का आधार प्रतीत होता है—

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या। सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु।

रात्रि को 'इन्द्रवती' मानने की परिकल्पना ही अहल्या की कथा की

(और उषस् को इन्द्रवती मानने की धारणा प्रजापति और उनकी पुत्री की) कथा की आधार-भूमि है। **वाजसनेयी संहिता** के इस मंत्र की व्याख्या में **श० ब्रा०** २।३।१।३७ में कहा गया है कि सूर्य ही इन्द्र है वह रात्रि से संगत होता है—

सवितृमत्प्रसवाय। तद् रात्र्या मिथुनं करोति। सेन्द्रं करोति। इन्द्रो हि यज्ञस्य देवता तद् अह्ना वा उषसा वा मिथुनं करोति''' तत् सूर्याय प्रत्यक्षं जुहोति।

महाकाव्यों और **पुराणों** में इन्द्र के स्वरूप पर एक सामान्य दृष्टि डालने से ही विदित हो जाएगा कि वैदिक युग के एकच्छत्र सम्राट् अब अत्यन्त निर्बल तथा श्री-हीन हो गये हैं। देवों के अधिपति वे अवश्य हैं पर अब उनमें सामान्य दैत्यों का वध करने की भी शक्ति नहीं है। यहाँ तक कि कई बार तो पृथ्वी के सामान्य मर्त्य उनसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध होते हैं। **महा० आदि०** के २२६वें अध्याय में खाण्डव-दाह की घटना को लेकर इन्द्र और अर्जुन में घोर युद्ध होता है जिसमें अर्जुन अपने गांडीव के तीक्ष्ण बाणों से इन्द्र को पराजित कर देते हैं (२२७।३)। **निवातकवच** दानवों का वध करने में जब इन्द्र असमर्थ रहते हैं तो वे अर्जुन को पृथ्वी से बुलाते हैं और उनका स्वागत-सत्कार करते हैं (वन० ४३।८-१५)। कभी-कभी अपने स्वार्थ के लिये उन्हें अत्यन्त अपमानजनक कार्य भी करने पड़ते हैं। शशाद के पुत्र **पुरंजय** के पास जब वे राक्षसों का वध करने की प्रार्थना लेकर पहुँचते हैं तो वह कहता है कि यदि आप वृषभ बनें तो मैं आपके ऊपर बैठकर युद्ध कर सकता हूँ (विष्णु० ४।२। २८-३२)। इन्द्र को कार्य सिद्धि के लिये यह भी करना पड़ता है। इन्द्र की सामर्थ्य अब इतनी क्षीण हो चुकी है कि कोई भी वीर उन्हें युद्ध में बन्दी बना लेता है। **ब्रह्म पु०** के १२९वें अध्याय में **हिरण्य** राक्षस से उनकी पराजय होती है और भीषण अपमान के पश्चात् उसके पाशों में उन्हें मुक्ति मिलती है। **रामा० उत्तर०** २९।३० में इन्द्र का पुत्र **मेघनाद** उन्हें जीतकर इन्द्रजित् उपाधि प्राप्त करता है। **विष्णु पु०** ५।३० में इन्द्र और कृष्ण का घोर युद्ध होता है क्योंकि कृष्ण अपनी पत्नी सत्यभामा के लिये उनके नन्दनवन से पारिजात का वृक्ष उखाड़कर ले जाने के लिये उद्यत होते हैं। इस युद्ध में इन्द्र की कृष्ण से करारी हार होती है। **मत्स्य पु०** १४५।४७ में दिति का पुत्र **वज्रांग** इन्द्र को उसी प्रकार बांध लाता है जैसे सिंह किसी क्षुद्र मृग को दबोच लेता है—

बद्ध्वा ततः सहस्राक्षं पाशेनामोघवर्चसा ।
मातुरन्तिकमागच्छद् व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ।।

इन्द्र अत्यन्त ईर्ष्यालु हैं। उनकी किसी भी पार्थिव राजा की उन्नति देख कर उसे नष्ट करने की चेष्टा रहती है। उनकी इन्द्रत्व प्राप्ति का कारण केवल यही है कि वे १०० अश्वमेध यज्ञ कर चुके हैं। जो इतने यज्ञ कर लेता है वह इन्द्र पद का भागी हो जाता है। इन्द्र शब्द अब एक सामान्य उपाधि है और एक सामान्य पद का वाची है जिसे कोई भी प्राप्त कर सकता है। **भाग०** ८।१।१-१० में विभिन्न मन्वन्तरों में होने वाले अनेक इन्द्रों का उल्लेख है। अतः इन्द्र को इस विषय में अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है कि कहीं कोई उनका राज्य न हड़प ले। राजा पृथु का बढ़ता हुआ उत्कर्ष देखकर उन्हें बड़ी ईर्ष्या होती है—

शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम् भाग० ४।१९।२

और वे राजा पृथु का कोई अपकार करने की चेष्टा करते है—

इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तु परमोदयम् ।
असूयन् भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत् ।। भाग० ४।१९।१०

अतः पृथु के यज्ञ के अश्व को वह जटायुक्त छद्म वेश धारण करके ले भागते हैं। अपनी माया से वे चारों ओर सघन अन्धकार फैला देते हैं। ऋषिगण क्रुद्ध होकर उन्हें मन्त्रों से यज्ञाग्नि में ही हवन कर देने का विचार करते हैं पर पृथु उन्हें मना करके इन्द्र को मारने के लिये धनुष उठाते हैं। इन्द्र घबराकर पृथु को उनका अश्व लौटा देते हैं और उनके चरण स्पर्श करते हैं। वैदिक युग का सर्वशक्तिमान् एकच्छत्र सम्राट् जब पृथु जैसे पार्थिव राजाओं के चरण छूता है तो उसकी तुच्छता एवं हीनता का सर्वोच्च निदर्शन प्राप्त होता है—

स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा ।
शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह ।।

वही, ४।२०।१८

विष्णु पु० ५।११ तथा **श्रीमद्भागवत** दशम-स्कन्ध के २४वें अध्याय में इन्द्र-योग के अवसर पर कृष्ण गोपों द्वारा इन्द्र की पूजा किये जाने का घोर विरोध करते हैं। कृष्ण के द्वारा पुरातन काल से चली आ रही इन्द्र की

कर्मकाण्डीय उपासना का तिरस्कार करना एक ऐसी विद्रोहमूलक प्रतिक्रिया को सूचित करता है जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध हो रहा था। विरोध का मूल आधार था सांख्य का प्राचीन दर्शन, कर्मों के फल में विश्वास और पुनर्जन्म की धारणा। अपने-अपने सुख-दुःख के कारण मनुष्य के पूर्वजन्मगत संस्कार (स्वभाव) तथा वर्तमान जन्म में किये गये कर्म हैं। जो अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुकूल कार्य करता है उसे अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये अथवा भय से प्रेरित होकर इन्द्रादि तुच्छ देवों की उपासना करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये मनुष्य के भाग्य को नहीं बदल सकते। ईश्वर में विश्वास रखना और दीनों की सेवा करते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करना यज्ञ आदि के हिंसामय कर्मकाण्ड से कहीं अच्छा है। 'इन्द्र की पूजा करने की अपेक्षा तो जड़ गोवर्द्धन-पर्वत की पूजा करना अधिक अच्छा है। कम से कम वह गौओं को कन्द, मूल, फल आदि से तो तृप्त करता है।'

इन्द्र क्रुद्ध होकर जलवृष्टि से गोकुल को डुबा देना चाहते हैं, किन्तु अन्त में कृष्ण की ही विजय होती है। और जब इन्द्र जाकर अपना मुकुट कृष्ण के चरणों में रखते हैं और कामधेनु के दुग्ध से उनका अभिषेक करते हैं (भाग० १०।२७।२, ३ तथा २२) तो सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह एक ऐसे युग का सूचक है जब इन्द्र जैसे प्राचीन कर्मकाण्डीय देवताओं का महत्त्व समाप्त हो रहा था और उनका स्थान ईश्वर भक्ति तथा सदाचार-पालन आदि के नैतिक नियम ले रहे थे।

इन्द्र अपने पद के विषय में अत्यन्त सशंक रहते हैं। उन्हें सदा भय बना रहता है कि कहीं कोई इसे छीन न ले। जब भी कोई तपस्या करता है तो उसमें विघ्न डालने के लिये वे अप्सराओं को भेजते हैं। **विश्वामित्र** तथा **कण्डु** (विष्णु १।१५।१२) आदि की कथाएँ इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं। **भाग०** ११।४ में वे नर-नारायण की तपस्या में भी विघ्न डालते हैं। किन्तु ऋषियों का तेज इनता अधिक बढ़ा हुआ है कि बेचारे इन्द्र को कई बार उनके कोप का भाजन होना पड़ता है। **विष्णु०** १९।९।१-२४ में जब वे **दुर्वासा** के द्वारा दी गई माला का अभिनन्दन नहीं करते तो परमकोपन ऋषि उन्हें श्रीहीन हो जाने का शाप देते हैं (१६वाँ श्लोक)। इन्द्र ऐरावत से उतरकर उन्हें मनाते हैं (१।९।१८), किन्तु ऋषि उन्हें फटकार लगाकर चल देते हैं। **भाग०** १०।६।२१, २२ तथा **महा० आदि०** ५७।६० में **तक्षक** को शरण देने के

कारण जब ऋषि जनमेजय के नाग-यज्ञ में मंत्र पढ़कर हवन करते हैं तो इन्द्र अपने सिंहासन सहित हवन-कुंड में गिरने के लिये आने लगते हैं—

> **तच्छ्रुत्वा आजुहुविप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे।**
> **तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्वता ॥**
> **इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः।**
>
> भाग० १०।६।२१,२२

इसी प्रकार **महा०, वनपर्व** १२४।१९ में जब **च्यवन** ऋषि अश्विनौ को इन्द्र के मना करने पर सोमपान कराते हैं और इन्द्र उन्हें मारने के लिये वज्र उठाते हैं तो च्यवन अपने तपोबल से उनकी दाहिनी भुजा को स्तंभित कर देते हैं और इन्द्र का भक्षण कर जाने के लिये **मद** नामक दैत्य की सृष्टि करते हैं (वन० १२४।२१)। विवश होकर इन्द्र उन्हीं की शरण में जाते हैं। वैदिक 'सुत्रामा' अब अपनी ही रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।

इन्द्र की नीचता का उदाहरण **महा०, वनपर्व** २२७ वें अध्याय में भी प्राप्त होता है जहाँ वे केवल कुछ दिनों के बालक **कार्त्तिकेय** की बढ़ती हुई शक्ति देखकर युद्ध करके उसे नष्ट करने की चेष्टा करते हैं किन्तु अन्त में उससे हार कर वे उसकी महत्ता स्वीकार करते हैं। **मत्स्य०** १४५।४७ में **वज्रांग** इन्द्र को पराजित करके बाँध लेता है पर कश्यप आदि ऋषियों के कहने पर छोड़ देता है। किन्तु वे ही इन्द्र वज्रांग के तपस्या में प्रवृत्त हो जाने पर उसकी पत्नी **वरांगी** को सताते हैं और अनेक प्रकार के रूप धारण करके उसे भयभीत करते हैं—

> **तस्यां तपसि वर्तन्त्याम् इन्द्रः चक्रे विभीषिकाम्।**
> **भूत्वा तु मर्कटस्तत्र तदाश्रमपदं महान् ॥**
> **चक्रे विलोलं निःशेषं तुम्बीघटकरण्डकम्।**
> **ततस्तु मेषरूपेण कम्पं तस्या अकरोन्महत् ॥**
> **भीषिकाभिरनेकाभिः तां क्लिश्यन् पाकशासनः।**
>
> मत्स्य० १४५।६३,६४,६७

राक्षसों का वध करने के लिये वे हर संभव प्रयत्न करते हैं। अपनी पुत्री **जयन्ती** को वे तपस्या करते हुए शुक्र को मुग्ध करने के लिये भेजते हैं और फिर बृहस्पति को शुक्राचार्य का रूप धारण करके असुरों को भ्रान्त करने का

आदेश देते हैं (**मत्स्य पु०**, ४७वाँ अ०)। वे अत्यन्त स्वार्थी तथा चालाक चित्रित किये गये हैं। जब उन्हें पता चलता है कि दिति के गर्भ से मेरा विनाश करने वाला बालक उत्पन्न होने वाला है तो वे जाकर उसकी भारी सेवा-शुश्रूषा करते हैं और एक दिन मौका पाकर गर्भस्थ बालक की हत्या करने का प्रयत्न करते हैं (**ब्रह्म पु०** १२४वाँ अ०, **विष्णु** १।२१।३०-४१, **मत्स्य०** ७।५०-६५, **वायु०** ६५वाँ अ०, आदि)। इस स्थल पर उन्हें अत्यन्त क्रूर तथा हृदयहीन चित्रित किया गया है। **मरुत्** बालक की करुणामयी प्रार्थना से भी उनका हृदय नहीं पिघलता (**ब्रह्म पु०** १२४।५९-६८)। ऐसे ही कई कर्मों के कारण इन्द्र को अपने राज्य से कई बार भ्रष्ट होना पड़ता है। **ब्रह्मपुराण** १२२।४८ में ऐसे तीन प्रसंगों का उल्लेख किया गया है।

मं० सं० १।१०।१३ में इन्द्र के द्वारा पर्वतों के पंखों को काटे जाने और उन पंखो के मेघ बन जाने का जो उल्लेख है उसकी स्मृति पुराणों में भी सुरक्षित है। **भाग०** ८।११।३४ तथा **मत्स्य०** १२४।११-१३ में वर्षा करने वाले श्रेष्ठ पुष्करावर्तक नामक मेघों को पर्वतों के पक्षों से उत्पन्न बताया गया है। पर्वत पहले स्वेच्छाचारी थे और इधर-उधर उतरकर जन-विनाश किया करते थे—

> **पुष्करावर्तका नाम ये मेघाः पक्षसंभवाः।**
> **शक्रेण पक्षाश्छिन्ना वै पर्वतानां महौजसा।**
> **कामगानां समृद्धानां भूतानां नाशमिच्छताम्॥** आदि।

इन्द्र अब मुख्य रूप से वर्षा के देवता रह गये हैं। उनका वैदिक **पर्जन्य** (या मेघ) से तादात्म्य किया गया है। वे ही जल-वृष्टि से प्राणियों का पोषण करते हैं। किसी राजा से अप्रसन्न होने पर या तो वे उसके राज्य में जल-वृष्टि बिल्कुल बन्द कर देते हैं (उदा० **ऋषभदेव** की समृद्धि से ईर्ष्या होने पर, भाग० ५।४।४) या अत्यधिक जलौघ से उसके प्रदेश को आप्लावित कर देते हैं (**जैसे कृष्ण** से अप्रसन्न होकर, भाग० १०।२५।१-१२)। वैदिक देवता 'पर्जन्य' का स्वरूप अब इन्द्र के साथ मिल गया है और उनकी एक प्रमुख विशेषता बन गया है। भागवत में नन्द इन्द्र की महत्ता का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः ।
तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पयः ।।
तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् ।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः ।।

भाग० १०।२४।८-१०

लगभग इन्हीं शब्दों में **विष्णुपुराणकार** ने भी नन्द से इन्द्र की पूजा का समर्थन करवाया है। इन्द्र मेघों के स्वामी हैं। मेघों से जो जलवृष्टि होती है उससे अन्न उत्पन्न होता है और उसको खाकर हम अपने प्राण धारण करते हैं अतः वृष्टि के अधिष्ठाता देवता का तर्पण हमें अवश्य करना चाहिये—

मेघानां पयसां चेशो देवराजः शतक्रतुः ।
तेन संचोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बुमयं रसम् ।।
तद्वृष्टिजनितं सस्यं वयमन्ये च देहिनः ।
वर्तयामोपयुंजानाः* तर्पयामश्च देवताः ।।
पर्जन्यः सर्वलोकस्योद्भवाय भुवि वर्षति ।।

विष्णु ५।१०।१९,२०,२३

भारत जैसे देश के लिए वृष्टि का जो महत्त्व है उसके परिप्रेक्ष्य में इन्द्र की पूजनीयता स्वाभाविक ही थी। प्राचीन काल में वर्षा के आरम्भ में **इन्द्रमह** या **इन्द्रध्वज** उत्सव के रूप में इन्द्र की देशव्यापी पूजा होती थी। इस उत्सव में एक उत्तुंग वृक्ष-स्तम्भ या वंश-दण्ड को किसी सार्वजनिक स्थान पर स्थापित करके उसे विविध प्रकार से अलंकृत किया जाता था; उसमें इन्द्र का आवाहन तथा पूजन होता था और जनता अनेक दिनों तक नृत्य-गीतादि द्वारा इन्द्रध्वज के चारों ओर हर्षोल्लासपूर्ण उत्सव मनाती थी। तमिल साहित्य के सुप्रसिद्ध काव्य **शिलप्पतिकारम्** (५वीं शती), वराहमिहिर की **बृहत्संहिता** (७वीं शती) तथा भोज के **समरांगणसूत्रधार** (१२वीं शती) आदि ग्रन्थों में इस उत्सव का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है[1]।

---

*दुहरी सन्धि का यह आर्ष प्रयोग ध्यातव्य है।

१. उत्सव के कर्मकाण्ड तथा उसके मध्यकालीन स्वरूप के सम्बन्ध में प्रस्तुत लेखक का निम्न निबन्ध द्रष्टव्य है : *Das Indradhvaja-Fest in Orissa, Überreste der Indraverehrung in Ostindien, Z. D. M. G.* (*Supplement* III), *Wiesbaden* 1977.

मत्स्य० १७३।६ में इन्द्र के रथ का सुन्दर वर्णन है और इसे विद्युल्लता-विभूषित, इन्द्रधनुषयुक्त, पर्वत के समान (कृष्ण-वर्ण) तथा इच्छानुसार अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले मेघों (या मेघ रूपी अश्वों ?) से युक्त बताया गया है—

वज्रविस्फूर्जितोद्‌भूतः विद्युदिन्द्रायुधोदितः ।
युक्तो बलाहकगणैः पर्वतैरिव कामगैः ॥

पीछे कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में इन्द्र अपने पक्षी श्येन द्वारा आकाश से सोम को पृथ्वी पर मँगवाते हैं। यहाँ देवता स्वयं सोम के अभ्यर्थी हैं और सोम उनकी पहुँच के बाहर है। किन्तु **महाभारत** (आदि० ३०-३३ अ०) में यह स्थिति बदल गई है। यहाँ इन्द्र सोम या अमृत के रक्षक के रूप में चित्रित किये गये हैं। गरुड़ जब अमृत लेने स्वर्ग पहुँचते हैं तो इन्द्र अपनी पूरी शक्ति से उन्हें रोकते हैं (आदि० ३३।१८-३५)। इन्द्र के पास अमृत का भंडार है। वे अमृत-वृष्टि से कौरवों द्वारा मारे गये गन्धर्वों को जीवित कर देते हैं (वन० २४५ अ०)। उनका शरीर अमृतमय है। वन० १२६।३० तथा द्रोण० ६२।७ में वे अपनी अमृतवर्षिणी तर्जनी को मान्धाता के मुख में डालकर उस मातृविहीन बालक का पोषण करते हैं।

पृथ्वी के मनुष्यों के शील एवं स्वभाव की परीक्षा लेना भी इन्द्र का एक विशेष कार्य है। **महा० शल्य०** ४८।२-५८ में वे भरद्वाज की कन्या **श्रुतावती** की परीक्षा लेते हैं और बाद में उसे अपनी पत्नी बनाते हैं। **वन०** १३१वें अध्याय में राजा **उशीनर** (शिवि) की परीक्षा के लिये इन्द्र और अग्नि क्रमशः एक श्येन तथा कपोत का रूप धारण करके आते हैं और उसकी दानशीलता की परीक्षा लेते हैं। **महा० अनु०** ५।१३-२८ में वे एक शुक की दृढ़निष्ठा की परीक्षा लेते हैं जो अपने आश्रयदाता शुष्क-वृक्ष को छोड़कर कहीं नहीं जाना चाहता था। **पद्म० भूमिखंड** के ५८वें अध्याय में पतिव्रता **सुकला** के पातिव्रत्य की परीक्षा लेते हुए उसे कामदेव द्वारा अपने प्रति प्रलुब्ध और आसक्त कराने की उनकी चेष्टा भी इस श्रृंखला की एक कड़ी है।

इन्द्र की गायों की पणियों द्वारा चोरी और इन्द्र द्वारा उनका पता लगाने के लिये देवशुनी **सरमा** को भेजना आदि की ऋग्वेद में वर्णित कथा **ब्रह्म पु०** १३१वें अध्याय में अपने मूलरूप में प्राप्त होती है और **वायु पु०** ७८वें अध्याय में ऋग्वेद तथा **श० ब्रा०** आदि में उल्लिखित इन्द्र द्वारा त्वष्टा के सोम का बलात् पान किये जाने की कथा भी वर्णित की गई है। इन्द्र के मुख से गिरी सोम की बूंदें पृथ्वी पर गिरकर ईख बन जाती हैं और हाथ की उँगलियों से गिरी श्यामाक।

इन्द्र के प्रायः सभी वैदिक विशेषण पुराणों में सुरक्षित हैं। वृत्रहा, पुरुहूत या पुरुष्टुत (अत्यधिक स्तुत), पुरंदर, गोत्रभिद् (असुरों के मेघरूपी पुरों को नष्ट करने वाले), सुत्रामा (रक्षक), वासव (धनयुक्त), मघवा (उदार), विडौजा (मरुत्-विश्-ही जिसकी शक्ति हैं, या प्रजा में शक्ति संचार करने वाले) तथा मरुत्वान् आदि ऐसे ही विशेषण हैं। 'शतक्रतु' या 'शतमन्यु' का अर्थ ऋग्वेद में 'सैकड़ों पराक्रमों वाला' है किन्तु ब्राह्मण-काल में ही क्रतु का अर्थ 'यज्ञ' लेकर उन्हें 'सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला' मान लिया गया है। उनकी एक उपाधि 'सहस्राक्ष' भी है जो सम्भवतः वर्षा के उपरान्त छँटते हुए मेघों के बीच से झलकते हुए नील आकाश की परिचायक है। पर इसकी पौराणिक कथा यह है कि गौतम ने अहल्या के धर्षण के कारण इन्द्र को सहस्रभग-युक्त होने का शाप दिया पर बाद में उन चिह्नों को आँखों में परिवर्तित कर दिया।

ऋग्वेद के इस परमशक्तिशाली देवता के उत्तरोत्तर अपकर्ष का यह इतिहास धार्मिक मान्यताओं के विकास की दृष्टि से अत्यधिक रोचक है।

मरुद्गण

'मरुत्' शब्द से ही स्पष्ट है कि यह झंझावात से सम्बन्धित अथवा तीव्रता से प्रवहमान वायु को सूचित करता है। ऋग्वेद में इसकी कल्पना **एक** देवता के रूप में नहीं अपितु कई देवों के एक **समूह** के रूप में की गई है। इनका एक गण या **शर्धः** (ऋ० १।३७।१) है। किन्तु इन सभी मरुतों का आकार एवं कार्य आदि पूर्णतः एक से हैं।

निरुक्तकार ने मरुत् शब्द की तीन प्रकार से व्याख्या की है—

मरुतो मितराविणो व मितरोचनो वा। महद् द्रवन्ति इति वा।
निरुक्त ११।१३

दुर्गाचार्य के अनुसार **मित** शब्द का अर्थ है योग्य, अनुरूप या सुष्लिश्ट। जो उचित प्रकार से रव या गर्जन करते हैं वे मरुत् हैं (मितं नाम सुश्लिष्टम्, यथा तेषां योग्यं रवितुं तथा रवन्ति स्तनयन्ति)। उत्तम प्रकार से दीप्त (रोचन्ते) होने के कारण भी उनको मरुत् कह सकते हैं। इधर-उधर अत्यधिक भागने (द्रवण) के कारण भी महद्द्रुत् (क्विप्) या महद्रुत शब्द ह् तथा द् का लोप होने से 'मरुत्' में बदल सकता है। दुर्गाचार्य ने यह भी लिखा है कि कुछ व्यक्ति यास्क के ऊपर उद्धृत मूल पाठ में 'मित' शब्द के स्थान पर 'अमित' शब्द को स्वीकार करते हैं (मरुतोऽमितराविणो वाऽमितरोचनो वा), क्योंकि दोनों शब्दों की संधि समान है। इस प्रकार यास्क द्वारा सुझाई प्रथम दो व्युत्पत्तियों का अर्थ 'अत्यधिक शब्द करने वाले' या 'अत्यधिक प्रकाशित होने वाले' भी हो सकता है[1]।

मरुतों की संख्या के विषय में वैदिक साहित्य में कोई निश्चित धारणा प्राप्त नहीं होती। ऋ० ८।९६।८ में उनकी संख्या त्रिःषष्टि या १८० बताई गई है (त्रिः षष्टिस्त्वा मरुतो वावृधाना) किन्तु अन्य स्थानों पर उन्हें **'त्रिसप्त'** या २१ भी बताया गया है (त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः)। **अ० वे०** १३।१।३ में भी उन्हें **'त्रिषप्तासः'** कहा गया है। **वाजसनेयी सं०** २१।२७ में २७ मरुतों का उल्लेख है (त्रिणवे मरुतः स्तुताः) किन्तु १७।८१-८५ में मरुतों के सात-सात के गण का उल्लेख करते हुए उनकी संख्या क्रमशः ७, १४, २१, २८, ३५ तथा ४२ बताई गई है। **तै० सं०** ४।६।५, **तै० ब्रा०** २।७।५, **श० ब्रा०** २।५।१।१३, ५।४।३।१७ तथा ९।३।१।२५ में कहा गया है कि मरुतों का गण

---

१. बेनफे (**ओरियन्ट एण्ड ऑक्सीडेन्ट**) ने **ऋ० वे०** १।६।४ की टिप्पणी में लिखा है कि मरुत् शब्द मृ (या मर्) धातु से निकला है और मूलरूप में आकाश में विचरण करती हुई प्रेतात्माओं का वाची था। यद्यपि कून, मायर तथा श्योदर आदि विद्वानों ने इसका समर्थन किया है किन्तु ऋग्वेद में मरुतों के स्वरूप को देखते हुए यह कल्पना पूर्णतः निराधार प्रतीत होती है।
देखिये कीथ, **रिलीजन,** प्रथम भाग, पृ० १५३, १५४।

सात-सात के वर्गों में बँटा है (सप्त सप्त हि मारुतो गणः)। **तै० सं०** २।२।५ में इनके सात वर्ग बताये गये हैं और इस प्रकार इनकी संख्या ४९ हो जाती है। यही संख्या सभी पुराणों तथा महाकाव्यों में मान्य है।

अस्तु, ये सभी मरुत् समवयस्क हैं। इन भाइयों में आपस में न कोई छोटा है न बड़ा (अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय, **ऋ०** ५।६०।५)। इनका जन्म एक ही स्थान से हुआ है और इनका आवास (नीड) भी एक ही है (शुभा सवयसः सनीला सामान्या मरुतः सं मिमिक्षुः, १।१६५।१)।

झंझावात से संबद्ध होने के कारण **रुद्र** से इनका सम्बन्ध अत्यन्त स्वाभाविक है। अतः इन्हें 'रुद्र के पुत्र' (**रुद्रासः, रुद्रियाः**) कहा गया है (१।३९।४, ७ तथा १।३८।७ आदि)। उनकी माता '**पृश्नि**' है जिससे रुद्र (वृषभ) ने उन्हें उत्पन्न किया है (२।३४।२)। पृश्नि का अर्थ है 'अनेक वर्ण वाली गाय' अतः उन्हें **पृश्निमातरः** के अतिरिक्त '**गोमातरः**' भी कहा गया है। मैक्डॉनल का मत है कि पृश्नि शब्द वर्षा करने वाले चितकबरे मेघ का परिचायक है[1]। **ऋ०** १।२३।१२ में उन्हें विद्युत् के हास्य से उत्पन्न बताया गया है और और कुछ स्थानों में उन्हें 'आकाश का पुत्र' भी कहा गया है (३।५४।१३ आदि)।

मरुतों की दीप्तिमत्ता का भी प्रायः उल्लेख हुआ है। वे अग्नि तथा सूर्य के समान तेजस्वी हैं (ये अग्नयो न शोशुचन्, ६।६६।२; **सूर्यत्वचः** ७।५९।११)। **ऋ०** १०।७८।३ में उन्हें 'अग्नि की लपटों के समान प्रकाशमान' कहा गया है (**अग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः**)। इसमें सन्देह नहीं कि मरुत् का ज्योति से यह सम्बन्ध विद्युत् के कारण ही है। मरुतों के साथ विद्युत् का वर्णन प्रायः हुआ है (ऋ० ५।५४।२, ३ आदि)। जब मरुत् पृथ्वी पर घृत की वर्षा करते हैं तो विद्युत् पृथ्वी की ओर मुस्कुराती है (अव स्मयन्त मरुतः पृथिव्यां यदीं घृतं मरुतः प्रष्णुवन्ति, १।१६८।८)। मरुत् के भालों या 'ऋष्टि' का प्रायः उनके साथ सर्वत्र उल्लेख हुआ है। ये देदीप्यमान भाले विद्युत् के ही प्रतिरूप हैं क्योंकि ऋग्वेद में कई स्थानों पर रूपक-अलंकार के रूप में 'ऋष्टि-विद्युतः' शब्द आया है (१।१६८।५ आदि)। मरुत् स्त्रियों की भाँति

---

१. **वै० मा०**, पृ० ७८।

अपने शरीर को स्वर्ण के आभूषणों से सजाते हैं (प्र ये शुंभन्ते जनयो न सप्तयो, १।८५।१)।

मरुतों के रथ का भी उल्लेख हुआ है। यह रथ विद्युन्मय है (आ विद्युन्मद्भिः मरुतः रथेभिः, १।८८।१)। इसके चक्र स्वर्ण-निर्मित हैं और इनमें घृत (जल) की वर्षा करने वाले चर्मपात्र (कोश) रखे हुए हैं (श्चोतन्ति कोशा उप वा रथेष्वा, १।८७।२)। इनके रथों में चितकबरी घोड़ियाँ (पृषतीः) जुती रहती हैं (यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम्, १।८५।४)।

मरुतों का पराक्रम असीम है। ये कल्याणकारी हैं (मयोभुवो ये अमिता महित्वा, ५।५८।२)। उनकी शक्ति का अन्त आज तक किसी ने नहीं पाया (न हि तु वो मरुतो आरात् चित् शवसो अन्तमापुः, १।१६७।९)। वे वार्धक्य-रहित (अजर, १।६४।३) है। वे सिंह के समान गर्जना करते हैं (सिंहा इव नानदन्ति १।६४।८)। उनकी क्रियाशीलता से आकाश भी काँपने लगता है (द्यौर्न चक्रदद् भिया, ८।७।२६)। वे अपने रथ की शक्ति से पर्वतों को भी उखाड़ डालते हैं (अद्रिं भिन्दन्ति ओजसा, ५।५२।९)। बड़े-बड़े वन (वृक्ष) उनकी शक्ति के आगे नतमस्तक हो जाते हैं (वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया, ५।६०।२)।

मरुत् वर्षाकारी हैं। वे पृथ्वी को जल से आर्द्र बना देते हैं (१।३८।९) और वृष्टि को पृथ्वी की ओर प्रेरित करते हैं (वृष्टिं मे विश्वे मरुतो जुनन्ति ५।५८!३) **अथर्ववेद** ४।२७।४ में कहा गया है कि मरुत् समुद्र के जल को आकाश में ले जाते हैं और वहाँ से पृथ्वी पर बरसाते हैं (अपः समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति)।

झंझावात के गर्जन को दृष्टि में रखकर इन्हें अनेक बार गायक (ऋक्वन्) कहा गया है। ये अपनी वीणा (बाण) पर अनेक प्रकार के गीत गाते हैं (१।१९।४, १।८५।२)।

मरुत् वृष्टि के देवता **इन्द्र** के विशेष रूप से सहायक हैं (३।३५।९ आदि)। इन्द्र के गुणों का कीर्तन करके तथा गानादि के द्वारा वे इन्द्र के उत्साह एवं शक्ति को बढ़ाते हैं (१।१६५।११)। वृत्र के वध में भी उन्होंने इन्द्र की सहायता की थी (**वृत्रेण यदहिना** बिभ्रद्रायुधा विश्वे ते इन्द्र मरुतः सहात्मना अवर्धन् १०।११३।३)। **वा० सं०** ३३।६३ तथा **ऋ०** ३।४७।४ में

कहा गया है कि उन्होंने इन्द्र की वृत्र-हनन तथा शंबर-वध में सहायता की थी (ये त्वा अहिहत्ये मघवन् अवर्धन् ये शांबरे हरिवो ये गविष्टौ)। इन्द्र जो-जो भी पराक्रम के कार्य करते हैं उन सब में मरुतों का हाथ अवश्य रहता है (१।१०२।१ आदि)। 'मरुत्वान्' शब्द इन्द्र का अपना विशेषण है और यह लौकिक साहित्य में भी इन्द्र के लिये प्रायः प्रयुक्त हुआ है। एक अस्पष्ट से मंत्र में मरुद्‌गण अपने को इन्द्र का भाई बताते हुए उससे अपने को न मारने की प्रार्थना करते हैं—

किं न इन्द्र जिघांससि ? भ्रातरो मरुतस्तव ।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ।।

ऋ० १।१७०।२

ऋग्वेद में कुछ स्थानों पर मरुतों को 'सुदानवः' कहा गया है (आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः, ५।५३।६; धमन्तो बाणं मरुतः सुदानवः, १।८५।४)। इन प्रसंगों से प्रतीत होता है कि दानवः का अर्थ है 'देने वाले', दानी। अतः सुदानवः का तात्पर्य 'अत्यधिक दानी' है। यह शब्द **दा** धातु से **नु** प्रत्यय द्वारा वैसे ही बना है जैसे **भा** से **भानुः**।

शुक्ल यजुर्वेद में वर्णित मरुतों के स्वरूप में ऋग्वेद की अपेक्षा कोई विशेष अन्तर नहीं है। २।१६ में उनके सम्बन्ध में पृश्नि (माता) तथा पृषतीः (घोड़ियों) का उल्लेख हुआ है। ३।४४ में उनके उग्र एवं भयंकर रूप का वर्णन हुआ है और उन्हें **प्रघासिनः** (घातक) कहा गया है। वे रक्षा करने में अत्यन्त निपुण हैं। उनकी कृपा से मनुष्य अत्यन्त सुरक्षित रहता है (मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः। ८।३१)। १७।१ में उनसे ऊर्जा तथा शक्ति को धारण करने की प्रार्थना की गई है (तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः) ३।४६ में इन्द्र को **मरुत्सखा** कहा गया है[1]। ७।३६ में इन्द्र के लिये **'मरुत्वान्'** विशेषण आया है और ३।३७ में उनसे मरुतों के साथ आ कर सोमपान करने की प्रार्थना की गई है (इन्द्रः सगणो मरुद्भिः सोमं पिब)। १७।८६ में कहा गया है कि मरुत् **दैवी-विश्** (प्रजा) हैं और वे इन्द्र का अनुगमन करते हैं (इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतो अनुवर्त्मानः अभवन्) और ३३।६३,६४

---

१. तु० की०, **मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्,** रघुवंश २।१०।

में ऋग्वेद के (३।४७।४ आदि) मरुतों से सम्बन्धित इन्द्र-साहाय्य विषयक मंत्रों को उद्धृत किया गया है।

वा० सं० १७।४७ में मरुतों का यातविक कृत्यों से भी किञ्चित् सम्बन्ध प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ उनसे यह प्रार्थना की गई है कि वे शत्रु की सेना को इस प्रकार अन्धकार से आवृत कर दें कि वे एक दूसरे को ही न देख पायें—

असौ या सेना मरुत: परेषामभ्यैति न: ओजसा स्पर्द्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानन्॥

आकाश की घनघोर गर्जन-युक्त वृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित होने के कारण मरुतों का विप्लव, अशान्ति या युद्ध से सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही था। **अथर्ववेद** के अनेक अभिचारिक मन्त्रों में भी शत्रुओं को विनष्ट करने के लिये उनका आह्वान किया गया है। तृतीय काण्ड का प्रथम सूक्त इसका उदाहरण है। इसके दूसरे मन्त्र में प्रचण्ड मरुतों से शत्रुओं की सेना के विरुद्ध लड़ने की प्रार्थना की गई है (यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृगत सहध्वम्)। षष्ठ मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र शत्रु-सेना को अज्ञान से आवृत कर लें और मरुत् अपनी शक्ति से उसे नष्ट कर दें (इन्द्र: सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्तु ओजसा)। ४।२७।७ में कहा गया है कि मरुद्गण तेजस्वी, शक्तिशाली तथा युद्ध में अत्यन्त भयंकर हैं (तिग्मम् अनीकं विदितं सहस्वन् मारुतं शर्ध: पृतनासु उग्रम्)।

मरुत् के पिता पशुपति रुद्र हैं (**अ० वे०** २४।१२)। वे जल की धाराएँ पृथ्वी पर गिराते हैं (४।२७।५, ये अद्भिरीशाना मरुतो तर्पयन्ति)। **अ० वे०** ४।२७ सम्पूर्ण सूक्त में मरुतों से कष्टों (अंह:) से छुड़ाने की प्रार्थना की गई है। जलवृष्टि से सम्बन्ध के कारण उनका ओषधियों एवं अन्न से भी सम्बन्ध है अतः ८।१।२ में कहा गया है कि वे दीर्घ-जीवन प्रदान करते हैं। स्तोता को वे प्रजा तथा धन से समृद्ध करते हैं (७।३३।१)। कृषि से भी कई स्थानों पर उनका सम्बन्ध स्थापित किया गया है (३।१७।९, ६।३०।१ आदि)।

अ० वे० ७।७७।३ में मरुतों को स्फूर्तिमय, प्रसन्नचित्त तथा आह्लादित करने वाले (मादयिष्णु) कहा गया है (मरुत: स्वर्का उरुक्षया: सगणा मानुषास:। सांतपना मत्सरा मादयिष्णव:)।

ब्राह्मण ग्रंथों में संख्याधिक्य के कारण और सम्राट् इन्द्र से उनका सम्बन्ध होने से मरुतों को प्रायः 'विशः' अर्थात् प्रजा, कृषक अथवा वैश्य कहा गया है। **ऐ० ब्रा०** १।२।३, **कौ० ब्रा०** ७।८, **तै० सं०** ६।१।५ तथा **श० ब्रा०** २।५। १।१२, ५।१।३।३ तथा ९।३।१।१३ आदि में मरुतों को 'देवों की प्रजा' कहा गया है (विशो वै मरुतो देवविशः)। **तै० सं०** २।२।५ में कहा गया है कि मरुत् देवों की प्रजा हैं और वे वैश्य वर्ण के हैं अतः जिस राजा को प्रजा या ग्रामों की आवश्यकता हो वह मरुतों की उपासना करे। **तै० सं०** २।२।५ में कहा गया है कि मरुतों को सात कपालों में यज्ञ-भाग देना चाहिये क्योंकि मरुतों के सात गण हैं। (मारुतः सप्तकपालो भवति। सप्तगणा वै मरुतः। गणशः एवास्मै सजातानवरुन्धे) और **श० ब्रा०** २।५।१।१३ में कहा गया है कि मरुतों का प्रत्येक गण सात-सात का है। (सप्त सप्त हि मारुतो गणः), इससे प्रतीत होता है कि उस समय मरुतों की ४९ संख्या ही मान्य थी।

अश्वत्थ के वृक्ष से मारुतों का विशेष सम्बन्ध माना गया है। वे उसमें निवास करते हैं (**श० ब्रा०** ५।२।१।१७ तथा **तै० सं०** ३।५।७)। **श० ब्रा०** ७।२।२।१०, ९।१।२।५ में मरुतों को वर्षा का अधिपति बताया गया है (मरुतो वै वर्षस्येशते)। **कौ० ब्रा०** ५।४ में कहा गया है कि मरुत् जल में निवास करते हैं अतः चातुर्मास्य यज्ञ में उन्हें जलमिश्रित दुग्ध प्रदान करना चाहिये। इसी ब्राह्मण में आगे (१२।८) मरुतों और जल का तादात्म्य करते हुए कहा गया है कि 'मरुत् ही जल हैं और जल ही अन्न है अतः मरुत् को हवि प्रदान करके यजमान अन्न प्राप्त करता है।' **तै० सं०** २।१।६ में भी मरुतों को 'अन्न' कहा गया है। जो उनकी उपासना करता है वह अन्न का भागी होता है। (मारुतम् आलभेत अन्नकामो, अन्नं वै मरुतः, य एवास्मै अन्नं प्रयच्छति अन्नाद एव भवति)। **श० ब्रा०** ८।४।२।८ में उन्हें गर्भ का अधिपति एवं उसका रक्षक कहा गया है।

अथर्ववेद के ऊपर उद्धृत मंत्र में मरुतों के लिए 'सांतपना' (प्रतप्त करने वाले) विशेषण आया है। **कौ० ब्रा०** ५।५ में भी मरुतों को 'ताप देने वाला' कहा गया है। वे अग्नि को उत्पन्न करते हैं। अन्तरिक्षस्थ विद्युत् या दवाग्नि से मरुतों का यह सम्बन्ध उचित ही है। **श० ब्रा०** २।५।३।३ में कहा गया है कि मरुत् संतपनकारी हैं। उन्होंने वृत्र को प्रतप्त कर दिया जिससे शिथिल होकर वह लम्बी साँसें लेने लगा (और तब इन्द्र ने उसका वध कर डाला)—

मरुतो ह वै सान्तपना मध्यन्दिने वृत्रं सन्तेपुः। स सन्तप्तो अनन्नेव प्राणन् परिदीर्णः शिश्ये।

(सन्तपनकारिणः मरुतः वृत्रमसुरं सन्तप्तं कृतवन्तः। स यः सन्तप्तः सन् श्वासप्रश्वासौ कुर्वन् अनन् प्राणन् विदारितसर्वावयवः शयनं कृतवान्—**सायण**)।

इतस्ततः इच्छानुसार विचरण करने के कारण मरुतों को ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः '**क्रीडिन्**' या **क्रीडनकाः** अर्थात् खिलाड़ी कहा गया है। वृत्र-वध के समय इन्द्र के बल को बढ़ाते हुए (मनोरंजन करने के लिये) वे उनके चारों ओर खेलते रहे (मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रं हनिष्यन्तम् इन्द्रमागतम् तमभितः परिचिक्रीडुः महयन्तः, **श० ब्रा०** २।५।३।२०)। **कौ० ब्रा०** ५।५ में भी उन्हें 'क्रीडायुक्त' कहा गया है। और **श० ब्रा०** २।५।१।१२ में कहा गया है कि मरुत् सर्वत्र स्वच्छन्द भ्रमण करते हैं—

ता हेदमनिषेद्ध्रा इव चेरुः (नियन्तृरहिता इव, स्वतंत्राः—**सायण**)।

इन्द्र और मरुतों का अटूट सम्बन्ध है। इन्द्र मरुतों के बल से ही वृत्र को मारते हैं। **श० ब्रा०** ४।३।३।७ में इन्द्र मरुतों को बुलाते हुए कहते हैं कि तुम मेरे पास ही रहो, तुम्हारे बल से मैं वृत्र को मारूँगा (उप मा वर्तध्वम्। युष्माभिर्बलेन वृत्रं हनानीति)। **ऐ० ब्रा०** ३।२।९ में कहा गया है कि मरुतों की इन्द्र के साथ स्थायी और दृढ़ मैत्री है। वृत्र से हुए इन्द्र के युद्ध के समय मरुतों ने उसे प्रोत्साहन दिया। शंबर वध के समय उसकी सहायता की और अब वे सदा उसके साथ रहकर प्रसन्न रहते हैं। **ऐ० ब्रा०** ३।२।५ में मरुतों का तादात्म्य मनुष्यों की श्वास-प्रश्वास की वायु से किया गया है और मरुत् इन्द्र के सम्बन्ध के विषय में कहा गया कि जब इन्द्र का वृत्र से युद्ध हुआ तो सभी देवों ने उसे छोड़ दिया। केवल मरुत् उस समय इन्द्र के पास रहे। क्योंकि मरुत् श्वास-प्रश्वास हैं और ये मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट साथी हैं। उस समय भी इन्द्र इनसे युक्त रहा (इन्द्रं वै वृत्रं जघ्निवांसं नास्तृतेति मन्यमानाः सर्वा देवता अजहुः। तं मरुत एव स्वापयो नापजहुः। प्राणा वै मरुतः स्वापयः। प्राणाः हैवैनं तं नाजहुः)। इसी ब्राह्मण में अन्यत्र एक छोटी सी कथा में कहा गया है कि इन्द्र ने वृत्र-वध के समय सभी देवों से अपनी सहायता करने को कहा। जब वृत्र ने सब देवों को अपनी ओर आते हुए देखा तो

उसने घोर गर्जना की, जिससे सब देवता भाग गये। केवल मरुत् इन्द्र के साथ रह गये और उन्होंने इन्द्र का उत्साह बढ़ाया—

इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन् सर्वा देवता अब्रवीद्। अनु मा उपतिष्ठध्वम् उप मा आह्वयध्वम्। तथेति। तं हनिष्यन्तः आद्रवन्। सोऽवेद माम् वै हनिष्यन्तः आद्रवन्ति। हन्त इमान् भीषयै। तानभि प्राश्वसीत्। तस्य श्वसथाद् ईषमानाः विश्वेदेवा अद्रवन् मरुतो ह एनं नाजहुः। 'प्रहर भगवो जहि वीरयस्व' इत्येतां वाचं वदन्तः उपातिष्ठन्त।

ऐ० ब्रा० ३।२।९

ऐ० ब्रा० की इस कथा का आधार **ऋग्वेद** का ८।९६।७ मंत्र है जिसमें उपर्युक्त पूरी कथा के बीज वर्तमान हैं—

वृत्रस्य त्वा श्वशथाद् ईषमाना विश्वे देवा अजहुर्ये सहायः।
मरुद्‌भिरिन्द्र सख्यं ते अस्तु अथेमा विश्वाः पृतना जयासि॥

वैसे तो ऋग्वेद में **मारुत्** तथा **वायु** देवों में अन्तर है पर ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं कहीं मरुतों को वायु का ही रूप बताया गया है। मरुत् से बना 'मारुत' शब्द सामान्य वायु को सूचित करता है। **श० ब्रा०** ९।४।२।६ में कहा गया है कि अन्तरिक्षगत मारुत या वायु ही मारुतों का गण है—

अन्तरिक्षलोको वै मारुतो मरुतां गणः। तद् यो अन्तरिक्षलोके तमस्मिन्नेतद् दधाति।

वा० सं० १८।४५ में भी वायु के लिये मारुत शब्द प्रयुक्त हुआ है और उससे कल्याणप्रद रूप से अपनी ओर प्रवाहित होने की प्रार्थना की गई है—

मारुतो असि मरुतां गणः। शंभूः मयोभूः मा वाहि।

महाकाव्यों तथा पुराणादिकों में भी मरुतों का मानवीकरण अत्यधिक अपूर्ण है। इनका इन्द्र के परिचर ४९ देवों के रूप में उल्लेख किया गिया है जो सदा एक गण के रूप में रहते हैं। **विष्णु०** १।२२।४ में कहा गया है कि प्रजापति ने इन्द्र को मरुतों का स्वामी बनाया (वासवं मरुतामपि)। मरुतों की उत्पत्ति तथा उनकी इन्द्र से मैत्री के विषय में लगभग सभी प्रमुख पुराणों

तथा रामायण में एक मनोरंजक इतिहास प्राप्त होता है और प्रायः सर्वत्र इस कथा का एक ही रूप है । **रामायण बाल०** ४६, ४७ (१-९), **भाग०** ६।१८, **विष्णु०** १।२१-३०-४०, **मत्स्य** ७वाँ अ०, **वायु०** ६७वाँ० अ०, **पद्म सृष्टि-खंड** ८वाँ अ० तथा **ब्रह्म पु०** के १२४वें अध्याय में वर्णित यह आख्यान संक्षेप में इस प्रकार है—

अमृत मंथन के उपरान्त हुए देवासुर संग्राम में जब देवों ने असुरों को हरा दिया तो उनकी माता अदिति को अत्यन्त दुःख हुआ । उसने अपने पति कश्यप की सेवा की और उनके तुष्ट होने पर उनसे एक ऐसे पुत्र होने का वरदान माँगा जो इन्द्र का वध कर सके (वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे । भाग० ६।१८।३७)। कश्यप ने उनको एक व्रत का उपदेश दिया जिसके नियमों का एक सहस्र वर्ष तक पालन करना था । इन्द्र को जब यह पता लगा तो वे आकर दत्तचित्त होकर दिति की सेवा करने लगे और इस ताक में रहने लगे कि कभी दिति का नियम भंग हो तो उसके गर्भ को नष्ट कर दूँ । जब व्रत समाप्ति में कुछ समय रह गया तो एक दिन क्लान्ति के कारण दिति विना पैरों को धोये, बाल खोले, पलँग से नीचे सिर किये हुए दिन में ही सो गई—

अकृत्वा पादयोः शौचं प्रसुप्ता मुक्तमूर्धजा ।
निद्राभरसमाक्रान्ता दिवा परशिराः क्वचित् ॥

मत्स्य० ७।५३

अवसर देखकर इन्द्र सूक्ष्म रूप से दिति के गर्भ में प्रविष्ट हो गये और वहाँ उन्होंने अपने वज्र से गर्भस्थ बालक के सात टुकड़े कर दिये । किन्तु व्रत के प्रभाव से वे मरे नहीं और सात बालक बन कर रोने लगे । इन्द्र ने उनसे रोने के लिये मना किया (मारोदीरिति तं शक्रः पुनः पुनरभाषत, **विष्णु०** १।२१।३९) और अपने वज्र से फिर एक-एक बालक के सात-सात खंड कर डाले किन्तु फिर भी वे खंड ४९ तेजस्वी बालकों के रूप में परिणत हो गये । उन्होंने रोते हुए कहा कि 'हे इन्द्र, हम तुम्हारे भाई हैं । तुम हमें क्यों नष्ट करना चाहते हो ?' (नो जिघांससि किम् इन्द्र, भ्रातरो मरुतस्तव, **भाग०** ६।१८।६४। किं मां न रक्षसे वज्रिन् भ्रातरं त्वं जिघांससि, **ब्रह्म** १२४। ५९) जब इन्द्र ने यह सुना बोले तो यदि तुम मेरे भाई हो तो तुम निर्भय रहो (मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः, **भाग०** ६।१८।६४) । इसके पश्चात् इन्द्र ने उन्हें अपना साथी बना लिया और क्योंकि गर्भ में खंड किये

जाने पर इन्द्र ने उन्हें रोने से मना किया था, (मा रुदः) इसलिए उनका नाम 'मरुतः' पड़ गया—

यस्मान् मा रुदतेत्युक्ता रुदन्तो गर्भसंस्थिताः ।
मरुतो नाम वै नाम्ना भवन्तु सुखभागिनः ॥

मत्स्य० ७।९२

रुदन्ति बहुरूपाणि मा रुदेत्यब्रवीद् हरिः ।
ततस्ते मरुतो जाता बलवन्तो महौजसः ॥

ब्रह्म १२४-७३

कथा का मुख्य रूप यही है, वैसे विभिन्न पुराणकारों की लेखनियों से निकलकर इसमें थोड़ा बहुत अन्तर भी हो गया है। उदाहरणार्थ **ब्रह्मपुराण** में इन्द्र को अत्यन्त नीच तथा निर्दय चित्रित किया गया है। दिति का गर्भस्थ बालक जब इन्द्र को आया हुआ देखता है तो वह उसकी भर्त्सना करता हुआ कहता है—

हत्वा वा किं नु जायेत यशो व पुण्यमेय वा।
वध्यन्ते भ्रातरः कामाद् गर्भस्थाः किन्नु पौरुषम् ?
त्वं विद्यावान् वज्रपाणे मां निघ्नन् किं न लज्जसे ?

ब्रह्म १२४।६४, ६५।

किन्तु फिर भी स्वार्थी इन्द्र उसको मारने का प्रयत्न करता है, क्योंकि **'क्रोधान्धानां लोभिनां च घृणा क्वापि न विद्यते'** (१२४।६९)। इन्द्र ऐसा कार्य करता है जिसे कोई चाण्डाल भी नहीं करना चाहेगा (न यत्करोति श्वपचः प्रवृत्तस्तत्र वज्रधृक्, ७६) अतः अगस्त्य उसे शाप देते हैं कि वह युद्ध में सदा शत्रुओं को पीठ दिखा कर भागा करे—**संग्रामे रिपवः पृष्ठं पश्येयुस्ते सदा हरे** (७८) और दुःखी अदिति भी उसे स्त्रियों से पराजित होकर राज्य से भ्रष्ट होने का शाप देती है—**स्त्रीभिः परिभवं प्राप्य राज्यात्प्रभ्रश्यसे हरे** (८०)।

किन्तु **रामायण** (बाल०, ४६, ४७) की दिति इन्द्र की सेवा से बहुत प्रसन्न रहती है और एक बार तो वह इन्द्र से यह भी कहती है अब मेरा व्रत पूर्ण होने में कुछ ही समय और शेष है, मैंने तुम्हारा वध करने वाले पुत्र की कामना की थी पर अब मैं उसे तुम्हारा मित्र बना दूँगी। तुम उसके साथ **त्रैलोक्य का राज्य भोगना—**

तमहं त्वत्कृते पुत्रं समाधास्ये जयोत्सुकम् ।
त्रैलोक्यविजयं पुत्रं सह भोक्ष्यसि विज्वरः ॥

रामा० बाल० ४६।१४

कथा पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि इसका आधार ऋग्वेद का ऊपर उल्लिखित वह मंत्र है जिसमें मरुत् इन्द्र से अपने को उसके भाई बता कर न मारने की प्रार्थना करते हैं (१।१७०।१ किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव । तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः) । **भागवत और ब्रह्म** पुराणों में बिलकुल ये ही शब्द थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ पुनरावृत्त हुए हैं । **तै० ब्रा०** २।७।११ में भी इन्द्र एवं मरुत् के विरोध की एक झलक निम्न कथा में प्राप्त होती है जिसमें कहा गया है कि एक बार अगस्त्य मरुतों के लिये कुछ वृषभ समर्पित कर रहे थे किन्तु उन्हें इन्द्र चुरा ले गये । इस पर मरुत् वज्र उठा कर इन्द्र के पीछे दौड़े—

अगस्त्यो मरुद्भ्यः उक्षणाः प्रोक्षत् । तानिन्द्र आदत्त । ते एनं वज्रम् उद्यत्य अभ्यायन्त । तान् अगस्त्यश्च इन्द्रश्च 'कयाशुभीयेन' अशमयताम् ।

तै० ब्रा० २।७।११

ऋ० १।१६५।१-८ में भी इन्द्र और मरुतों के वैमनस्य के कुछ संकेत प्राप्त होते हैं[1] । ऐसे संकेतों और मरुतों तथा इन्द्र की घनिष्ठ मैत्री के विवरणों के परस्पर विरोध की व्याख्या करने के लिये ही पुराणों में उपर्युक्त कथा का निर्माण हुआ है । मरुतों के लिये ऋग्वेद में जो 'सुदानवः' (अच्छे दाता) विशेषण प्राप्त होता है उसी के प्रभाव से वे दिति की सन्तान बताये गये हैं । परवर्ती भाषा में 'दानव' का आशय दैत्य है जो दिति की संतानें हैं ।

ऋग्वेद में मरुतों को रुद्र के पुत्र कहा गया है किन्तु पुराणों से यह धारणा

---

१. इन सूक्तों के प्रथम मंत्र की भूमिका में यास्क ने लिखा है—(११५) **अगस्त्यः इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साम् चक्रे । स इन्द्रः एत्य परिदेवयांचकार ॥**

पूर्णतः विलुप्त हो गई है। **नीतिमंजरीकार** ने ३१वें श्लोक[1] की व्याख्या में मरुतों के जन्म की पुराणों में वर्णित कथा को पूर्णतया उद्धृत करते हुए रुद्र और उमा को कथा के अन्त में बलात् प्रविष्ट करा दिया है। दिति के पुत्र के ४९ खंड देखकर पार्वती रुद्र से उन्हें जीवित कर देने की प्रार्थना करती है (एकैक-मेषां लभतां शरीरं मदर्थमेतत् क्रियतां महेश) और महेश्वर सबको प्राणदान देकर उनके पिता बन जाते हैं। पार्वती की प्रार्थना पर शिव द्वारा अनेक मुमूर्षु एवं मृत प्राणियों को प्राणदान करने का यह अभिप्राय (मोटिफ़) भारतीय लोक कथाओं में सामान्यतया सर्वत्र उपलब्ध होता है।

लौकिक साहित्य में मरुतों के सात गणों की वायुमण्डल के विभिन्न विभाजनों के रूप में व्याख्या करने की चेष्टा की गई है। **रामायण** में कहा गया है कि मरुतों के ये सात गण क्रमशः ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक तथा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशाओं में विचरण करते हैं और सातवें गण का नाम है **वायु** जो सर्वत्र गमनशील है—

मरुतां सप्त सप्तानां स्थानपाला भवन्त्विमे।
वातस्कन्धा इमे सप्त चरन्तु दिवि पुत्रक ॥
ब्रह्मलोकं चरत्वेकः इन्द्रलोकं तथापरः।
दिव्यवायुरितिख्यातः तृतीयोऽपि महायशाः।
चत्वारस्तु सुरश्रेष्ठ दिशो वै तव शासनात् ॥

रामा० बाल० ४७।३।५

वायु का मरुतों के एक गण के रूप में यहाँ उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। **मरुत्** झंझावात हैं और शान्त रहने वाला पवन **वायु**। वायुपुराण के ६७वें अध्याय में (श्लोक १२-२५) मरुतों के इन सात गणों को वायु के सात स्तरों (स्कन्धों) में विचरण करते हुए वर्णित किया गया है। मरुतों का प्रथम गण **आवह** नामक वात-स्कन्ध में विचरण करता है जो पृथ्वी से लेकर मेघों तक व्याप्त है। मेघों से सूर्य तक वायु का जो **प्रवह** नामक वात-स्कंध है उसमें द्वितीय गण विचरण करता है। सूर्य से चन्द्रमण्डल तक व्याप्त वायु के **उद्वह**

---

१. यह श्लोक इस प्रकार है—

दृष्ट्वा परव्यथां सन्तः उपकुर्वन्ति लीलया।
दितेर्गर्भव्यथां हृत्वा रुद्रोऽभूत् मरुतां पिता ॥

नामक वात-स्कन्ध में तीसरा, और इसी प्रकार अन्य भी[1]। स्पष्ट है कि ऐसे वर्णनों में वायु और मरुत् का पार्थक्य अत्यन्त कठिन हो जाता है।

मरुतों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य में दो या तीन ही ऐसे उल्लेख हैं जिनसे उनके शारीरिक रूप का भान होता है। उदा० **महाभारत, द्रोण०** ५५।४० में राजा **मरुत्त आविक्षित** के विशाल यज्ञ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मरुद्गण उसमें भोजन परोसने का कार्य किया करते थे। यह धारणा **श० ब्रा०** १३।५।४।६ के उस वाक्य पर आधारित है जिसमें मरुतों को राजा मरुत्त के यज्ञ का 'परिवेष्टा' (रक्षक ? भोजन परोसने वाला ?) बताया गया है—**मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन् गृहे**। इसी प्रकार **श्रीमद्भागवत** ९।१०।३५-३९ में **बृहस्पति** एवं **ममता** (उतथ्यपत्नी) की वितथ सन्तान **भरद्वाज** को दोनों के द्वारा त्याग दिये जाने पर मरुद्गण ले जाते हैं। दुष्यन्त के पुत्र भरत दीर्घतमा ऋषि को प्रसन्न करके भरद्वाज को पुत्र के रूप में प्राप्त करते हैं।

पर सामान्यतः पुराणों में मरुतों के स्वरूप में उतनी भी शारीरिक विशेषाएँ सुरक्षित नहीं रह सकी हैं जितनी ऋग्वेद में प्राप्त होती हैं। वैदिक संहिताओं की अपेक्षा पुराणों में उनका रूप अधिक सूक्ष्म है। इनकी तुलना में तो वायु का ही मानवीकरण अधिक पूर्ण है। **वायु एक** ऐसे देवता हैं

---

१. **मत्स्य पु०** १६२।३२-३३ में वायु के इन स्तरों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

आवहः प्रवहश्चैव विवहोऽथ उदावहः। परावहः संवहश्चैव महाबलपराक्रमः॥ तथा परिवहः श्रीमान्—॥

कालिदास ने शाकुन्तल (७।६) में ज्योतिष्पिण्डों को आकाश में गतिमान् करने वाले 'परिवह' नामक वायु का इस प्रकार उल्लेख किया है—

तिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां,
ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं,
वायोरिदं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्॥

जिनका विकास-क्रम मरुतों से ठीक उलटा है। ऋग्वेद में वे केवल वाततत्त्व को सूचित करते हैं किन्तु धीरे-धीरे उनका देवरूप अधिक विकसित होता चला गया है और उनका व्यक्तित्व एक शक्तिशाली पवनदेव के रूप में उभरा है।

वायु

वायु एक ऐसे देवता हैं जिनकी धारणा का विकास अग्नि की भाँति अत्यन्त स्थूल एवं सर्वत्र दृश्यमान भौतिक तत्त्व से हुआ है। देवत्व का एक झीना सा आवरण उनके ऊपर पड़ा हुआ है। ये अन्तरिक्ष के प्रतिनिधि देवता हैं, इसलिये अन्तरिक्ष के सर्वप्रमुख देवता **इन्द्र** से उनका प्रायः तादात्म्य किया गया है और दोनों में से किसी को भी अन्तरिक्ष का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण देवता मान लिया जाता है[1]। इन्द्र और वायु का ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में एक साथ भी स्तवन किया गया है। **श० ब्रा०** ४।१०।३।१९ में **'यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः'** आदि शब्दों से दोनों का तादात्म्य सूचित किया गया है।

वायु का पर्यायवाची ऋग्वेद में **वात** भी है। पर यह वायु के देवत्व की अपेक्षा उनके तीव्रता से प्रवहित होने वाले भौतिक रूप का अधिक परिचायक है और इसलिये इसका **पर्जन्य** के साथ अधिक उल्लेख हुआ है।

ऋग्वेद के **पुरुष-सूक्त** (१०।९०) में वायु को आदि-पुरुष के प्राणों से उत्पन्न बताया गया है (प्राणाद् वायुरजायत, मंत्र १३)। प्राणों से वायु का यह सम्बन्ध समस्त संस्कृत साहित्य में प्राप्त होता है। **अथर्ववेद** ११।४।१५ का वक्तव्य है कि वायु को ही प्राण कहा जाता है (प्राणमाहुः मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते)। इसी प्रकार **तै० सं०** ५।१।१५ में भी प्राण एवं वायु का तादात्म्य किया गया है—

> **सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातु इत्याह । प्राणो वै वायुः । प्राणेने-वास्यै प्राणान् संदधाति ।**

---

१. **तिस्र एव देवताः इति नैरुक्ताः, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानाः ।**
निरुक्त ७।५

अग्निरस्मिन् अथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव वा ।
[बृहद्देवता १।६५

तै० सं० २।२।१ में वायु को 'नियुत्वत्' कहा गया है। नियुत् का अर्थ समह या गण। वायु के प्रसंग में सम्भवतः यह मरुतों को सूचित करता है। इसी प्रसंग में वायु को प्राण तथा इस नियुत् (मरुद्गण) को अपान बताया गया है (प्राणो वै वायुरपानो नियुत्। वायवे नियुत्वते आलभेत)। **ब्रह्मपुराण** १२६।१८ में भी कवि वायु को प्राण बतलाता है—

·····भवान् प्राणो, वायो सत्यं त्वयि स्थितम्।

और **मत्स्य-पुराणकार** (१७३।२८) ने तारकामय संग्राम में वायु का वर्णन करते हुए कहा है कि ये वायु-देव ही पाँच प्राणों के रूप में सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान रहते हैं और शरीरगत सात धातुओं में व्याप्त रहकर तीनों लोकों को धारण करते हैं—

यः प्राणः सर्वभूतानां पंचधा भिद्यते नृषु।
सप्तधातुगतो लोकान् त्रीन् दधार चचार च॥

रामायण के उत्तरकाण्ड (३५।६०, ६१) में ब्रह्मा जी वायु की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वायु ही जीवों का प्राण है। उसके बिना शरीर काष्ठ के समान हो जाता है।

अशरीरः शरीरेषु वायुश्चरति पालयन्।
शरीरं हि विना वायुं समतां याति दारुभिः।
वायुः प्राणः सुखं वायुः वायुः सर्वमिदं जगत्॥

इन्द्र के साथ वायु के सम्बन्ध के कारण ऋग्वेद में दोनों को एक ही रथ में बैठे हुए वर्णित किया गया है (इन्द्रवायू सरथं यातमर्वाक्, ७।९१।५)। ये दोनों देवता अपने रथ पर चढ़े हुए आकाश का स्पर्श करते हैं (उभा देवा दिवि-स्पृशा इन्द्रवायू हवामहे, १।२३।२)। वायु के रथ को अनेक अश्व खींचते हैं। ये इच्छानुसार रथ में जुत जाते हैं (मनोयुजो युक्तासः, ४।४८।४)। विभिन्न स्थानों में इनकी संख्या ९९, १०० या १००० बताई गई है। पृथिवी और आकाश के बीच में व्याप्त होने के कारण वायु को रोदसी या द्यावापृथिवी का पुत्र भी कहा है (राये नु यं जज्ञतू रोदसी इमे, ७।९०।३), दो स्थानों पर उन्हें **त्वष्टा** का जामाता बताया गया है पर उनकी पत्नी का कहीं उल्लेख नहीं है (त्वष्टुर्जामातरद्भुत, ८।२६।२१)। एक स्थान पर वायु को मरुतों का जनक भी बताया गया है, उनको उसने आकाश की नदियों से उत्पन्न किया (अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्यः, १।१३४।४)।

वायु को दर्शनीय या सुन्दर (दर्शत १।२।१) तथा सबसे अधिक सौन्दर्य-शाली (सुप्सरस्तमः, ८।२६।२४) भी कहा गया है। गरजते हुए तेजी से आगे बढ़ने के कारण वे 'क्रन्ददिष्टि' हैं (१०।१००।२)। इन्द्र के साथ उनके लिये 'सहस्राक्ष' 'मनोजुवा' (मन के समान तीव्र चलने वाले) तथा 'धियस्पती' (बुद्धिमान्) विशेष प्रयुक्त हुए हैं (१।२३।।३)। वायु के भौतिक स्वरूप **वात** के लिये ऋग्वेद में एक सुन्दर सूक्त (१०।१६८) प्राप्त होता है। वह घनघोर रव करता हुआ तथा गरजता हुआ आता है और आते ही पृथ्वी की धूलि से सभी वस्तुओं को भूरा बना देता है (रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः। दिविस्पृग्याति अरुणानि कृण्वन् उतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन्)। पृथ्वी की छोटी-मोटी वस्तुएँ उसके पीछे-पीछे उसी प्रकार एकत्र हो जाती हैं जैसे सभा में स्त्रियाँ। अन्तरिक्ष के पथ में विचरण करते हुए वह कभी विश्राम नहीं लेता (न हि विशते कत-मच्चनाहः)। किसी को यह ज्ञात नहीं है कि वह कहाँ उत्पन्न होता है और कहाँ से आता है (क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव)। जहाँ इसकी इच्छा होती है वहाँ यह विचरण करता है (यथावशं चरति देव एषः) इसका रूप किसी को नहीं दिखाई पड़ता केवल घोष ही सुनाई पड़ता है (घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपम्)।

सोम के साथ भी वायु का विशेष सम्बन्ध है। वे सोम के रक्षक हैं (वायुः सोमस्य रक्षिता, १०।८५।५)। वे शुद्ध सोम का पान करते हैं (शुचिपा)। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में वायु को इन्द्र के साथ सर्वप्रथम सोमपान करने वाला गहा गया है (पूर्वपेयं हि वां हितम्। तुभ्यं कि पूर्वपीतये देवा देवाय येमिरे, १।१३५।१, ४। त्वं हि पूर्वपा असि, ४।४६।१)। ऐ० ब्रा० २।४।१ में इस विषय में एक छोटी सी कथा का उल्लेख किया गया है जिसमें वायु को सर्वप्रथम सोमभाग देने का कारण वर्णित है—

> **देवा वै सोमस्य राज्ञो अग्रपेये न समपादयन्, अहं प्रथमः पिबेय-महं प्रथमः पिबेयमित्येव अकामयन्त। ते संपादयन्तो अब्रुवन् हन्त आजिम् अयाम स यो न उज्जेष्यति स प्रथमः सोमस्य पास्यति। तथेति।''''तेषां वायुर्मुखं प्रथमः प्रत्यपद्यत अथेन्द्रः। स अवेद इन्द्रो वायुमुद् वै जयतीति तमनुप्रापतत्।'तुरीयं मे अथ उज्जयाव' इति। तथेति। तुरीयभाक् इन्द्रो अभवत् त्रिभाक् वायुः तौ सह एव इन्द्रवायू उदजयताम्।**
>
> ऐ० ब्रा० २।४।१

सोम के प्रथम पान के लिये देवों में स्पर्धा हुई। दौड़ से इसका निर्णय करने का निश्चय किया गया। 'मनोजव' वायु ही सबसे आगे रहे। इन्द्र ने वायु से अपना आधा भाग देने के लिये कहा। पर वायु ने केवल चौथाई भाग देना स्वीकार किया। इसीलिये सबसे पहले वायु को सोम के प्रथम भाग के तीन अंश तथा इन्द्र को एक अंश प्रदान किया जाता है। **श० ब्रा०** १३।१।२।७ में वायु को देवों में सर्वाधिक वेगवान् बताया गया है (वायुर्वै देवानामाशिष्ठः) और **तै० सं०** २।१।१ में भी कहा गया है—**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता**। वेग एवं बल के लिये वायु सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

यजुर्वेद में वायु का पाप-शोधक रूप भी सामने आता है। बहता हुआ वायु पृथ्वी की दुर्गन्ध को नष्ट करता है, इसीलिये उसे 'पवन' भी कहा गया है। वायु के इसी पावन एवं शोधक रूप को ध्यान में रखकर ही **ऋग्वेद** १०।१८६।१ में वात से आयु को बढ़ाने की प्रार्थना की गई है (प्र ण आयूंषि तारिषत्)। **शु० यजुर्वेद** ४।४ में इसी कारण वायु के लिये 'अच्छिद्र' तथा 'पवित्र' विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। **वा० सं०** २०।१५ में वायु का मलशोधक रूप पापशोधक तत्त्व के रूप में परिवर्तित हो गया है और उससे दिन और रात में किये गये सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने की प्रार्थना की गई है—

यदि दिवा यदि नक्तम् एनांसि चकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चतु अंहसः॥

शतपथब्राह्मणकार ने **वा० सं०** ४।४ में प्रयुक्त अच्छिद्र एवं पवित्र शब्दों के विषय में लिखा है—**यो वा अयं पवते एषो अच्छिद्रं पवित्रम्**। इस पर सायण कहते हैं कि सर्वदा सभी वस्तुओं को पवित्र करने के कारण वायु अच्छिद्र एवं पवित्र है (सर्वदा सर्वत्र पवनात् एष वायुः अच्छिद्रं पवित्रम्) और **श० ब्रा०** २।६।३।७ में तो वायु की परिभाषा ही यह बताई गई है, कि जो पवित्र करे वही वायु है—**अयं वै वायुः योऽयं पवते** (तु० की० **कात्यायन श्रौ० सू०** २।१०२)।

श० ब्रा० ४।१।३।७ में एक कथा आती है कि एक बार सोम अत्यधिक अपवित्र हो गया और उससे दुर्गन्ध आने लगी। देवों ने वायु से उस दुर्गन्ध को दूर करके सोम को स्वादिष्ट बनाने के लिये कहा। वायु ने एक वर प्राप्त करके ऐसा ही कर दिया—

स एषामाश्यत् । स एनान् शुक्तः पूतिरभिभवौ । स नालम् आहुत्या आस, नालं भक्षाय । ते देवा वायुमब्रुवन् । वायो, इमं नो विवाहि । इमं नो स्वदयेति।.....तथेति होवाच यूयं तु मे सच्युपवातेति ।

अथर्ववेद ६।५।११ में भी कहा गया है कि सोम वायु की पावनी शक्ति द्वारा पवित्र किया जाता है—

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः ।

इसी प्रकार अ० वे० ६।६२।१ में भी वात की पावनकारिणी विशेषता का उल्लेख किया गया है।

अथर्ववेद में वायु का पशुओं से विशेष सम्बन्ध है। वे उन्हें एक स्थान पर एकत्र करते हैं (६।१२४।१)। उनसे विभिन्न रूपों और वर्णों के ग्राम्य पशुओं को मुक्त करने की प्रार्थना की गई और (पशुओं का रक्षक होने के कारण) उन्हें प्रजापति भी कहा गया है—

ये ग्राम्या पशवो विश्वरूपा विरूपा सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ।।

अ० वे ६।३४।४

अ० वे० २।२६।१ में उन्हें पशुओं का सहचर भी बताया गया है (एह यन्तु पशवो ये परेयुः वायुर्येषां सहचारं जुजोष)। वायु का पशुओं से यह सम्बन्ध बिलकुल मौलिक है और अन्यत्र कहीं भी इसका संकेत नहीं मिलता, न पूर्ववर्ती ग्रन्थों में और न परवर्ती।

सर्वत्र विचरणशील तथा शीघ्रगामी होने कारण वायु की देवों के दूत के रूप में धारणा बहुत पहले ही विकसित हो गई थी। श० ब्रा० ४।१।१।३ में आई एक लघुकथा में इन्द्र द्वारा वृत्र पर प्रहार किये जाने पर देवता वायु को इसका पता लगाने को भेजते हैं कि वह जीवित है या नहीं, क्योंकि वायु सर्वाधिक तीव्रगामी है। यदि वृत्र जीवित भी होगा तो भी वायु पुनः शीघ्रता से लौटकर आ सकता है—

ते ह देवा ऊचुः । न वै हतं वृत्रं विद्म न जीवन्तम् । ते वायुमब्रुवन् । वायो, त्वमिदं विद्धि । यदि हतो वृत्रो जीवति वा । त्वं वै न आशिष्ठो असि । यदि जीविष्यति त्वमेव क्षिप्रं पुनरागमिष्यति इति। तथेत्येयाय वायुरैद्धतं वृत्रम् । स होवाच हतो वृत्रः ।।

वायु का यह दौत्य पुराणों में भी सुरक्षित है। **महा० वन०** १९।२२-२४ में देवता शाल्व का वध करने के लिये उद्यत प्रद्युम्न के पास वायु से उनका शीघ्र वध करने के लिये संदेश भेजते है और **मत्स्य०** १५२।३९ में पार्वती की सखी कुसुमामोदिनी शिव के द्वारा **आडि** के वध का समाचार भी वायु के द्वारा ही पार्वती के पास भिजवाती है—

अपरिच्छिन्नतत्त्वार्था शैलपुत्र्यै न्यवेदयत् ।
दूतेन मारुतेनाशुगामिना नागदेवता ।
श्रुत्वा वायुमुखाद् देवी''''॥

मध्वाचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित द्वैतमार्ग में वायु की ईश्वर (विष्णु) तथा जीव के बीच संपर्क स्थापित करने वाले माध्यम के रूप में बड़ी प्रतिष्ठा है। वायु की दूतकर्म के लिये उपयुक्तता उनकी एक अन्य विशेषता से भी प्रतिफलित होती है। शरीरस्थ वायु ही मुख से निःसृत होकर वाणी का प्रादुर्भाव करती है (**वायु पुराण**, ५४।१०-१७)। फलतः वायुदेव को अत्यन्त वाग्मी चित्रित किया गया है। वाणी के अधिपति होने के कारण वे भाषण-कला में अत्यन्त निपुण हैं। **मत्स्य पु०** में जब देवता **तारकासुर** से हारकर ब्रह्मा के पास पहुँचते हैं तो वायु से सबके प्रतिनिधि के रूप में ब्रह्मा से बात करने के लिये कहते हैं—

वाचां प्रधानभूतत्वात् मारुतं तमचोदयन्

मत्स्य० १५३।२७

और विष्णु आदि देवों के द्वारा आज्ञप्त होते पर वे बोलना प्रारम्भ करते हैं—

इति विष्णुमुखैर्देवैः श्वसनः प्रतिबोधितः ।
चतुर्मुखं तदा प्राह चराचरगुरुं विभुम् ॥

मत्स्य० १५३।२८

वायु का सर्वाधिक सुन्दर तथा चित्रात्मक वर्णन **रामायण** के **उत्तरकाण्ड** में प्राप्त होता है। इसके ३५वें सर्ग में वायु के संसर्ग से वानरराज **केसरी** की **अंजना** नामक पत्नी में **हनुमान्** नामक अमित बलशाली पुत्र की उत्पत्ति

का वर्णन है।[1] राम के परम सेवक और सहायक के रूप में हनुमान् का चरित लोक-प्रसिद्ध है। विशालकाय वृक्षों को भी अपने वेग से धराशायी कर देने वाले वायु के अधिष्ठाता देवता के पुत्र का अद्वितीय शक्ति एवं बल-संपन्न होना स्वाभाविक ही है। हनुमान् को इसीलिये वज्र के समान दृढ़ तथा गरुड़ के समान वेगवान् बताया गया है—

मारुतस्यात्मजः श्रीमान् हनुमान्नाम वानरः।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे।
सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि॥

बाल० १७।१६, १७

वायु अत्यन्त पुत्रवत्सल हैं। बालक हनुमान् की वे हर प्रकार से रक्षा करते हैं। सूर्य की ओर बढ़ते हुए हनुमान् पर जब इन्द्र प्रहार करते हैं तो वायुदेव क्रुद्ध होकर प्राणियों के शरीर के अन्दर होने वाली अपनी सततगति को बन्द कर देते हैं। यहाँ वायु का तादात्म्य आयुर्वेद-शास्त्र की धारणा के अनुसार शरीर में स्थित तीन प्रमुख धातुओं में परिगणित 'वात' धातु के साथ कर दिया गया है। वात के संचार के बिना प्राणियों के मलमूत्र आदि अवरुद्ध हो जाते हैं, श्वासोच्छ्वास बन्द हो जाता है और शरीर की संधियों के टूटने के कारण अंग संचालन भी रुक जाता है—

तस्मिंस्तु पतिते काले वज्रताडनविह्वले।
चुक्रोधेन्द्राय पवनः प्रजानामहिताय सः॥
प्रचारं स तु संगृह्य प्रजास्वन्तर्गतः प्रभु।
विण्मूत्राशयमावृत्य प्रजानां परमार्तिकृत्।
रुरोध सर्वभूतानि यथा वर्षाणि वासवः॥
वायुप्रकोपाद् भूतानि निरुच्छ्वसितानि सर्वशः।
सन्धिभिर्भिद्यमानैश्च काष्ठभूतानि जज्ञिरे॥

उत्तर० ३५।४८-५१

वायु का यह रूप उसके आधिभौतिक रूप से भी अधिक सूक्ष्म है। किन्तु

---

१. **यत्र राज्यं प्रशास्त्यस्य केसरी नाम वै पिता।**
तस्य भार्या बभूवेष्टा अंजनेति परिश्रुता॥
जनयामास तस्यां वै वायुरात्मजमुत्तमम्॥

उत्तर० ३५।१९, २०

अगले श्लोकों में उनका आधिदैविक रूप फिर उभर आया है। अपने आहत पुत्र को लेकर वे पर्वत की गुफा में चले जाते हैं (गुहां प्रविष्टः स्वसुतं शिशुमादाय मारुतः, **वही** ३५।४१)। उनके शरीर में सुवर्ण के आभूषण हैं और कर्णों में चंचल कुण्डल। गले में वे माला धारण करते हैं। जब ब्रह्मा जी उनकी गुफा में आते हैं तो वे उठकर उनके चरणों में गिर पड़ते हैं—

> **ततः पितामहं दृष्ट्वा वायुः पुत्रवधार्दितः।**
> **शिशुकं तं समादाय उत्तस्थौ धातुरग्रतः॥**
> **चलत्कुण्डलमौलिस्रक् तपनीयविभूषणः॥**
> **पादयोर्न्यपतद् वायुः त्रिरुपस्थाय वेधसः॥**
>
> उत्तर० ३६।१, २

यह वायु का शुद्ध मानव (देव) रूप है। वस्तुतः वायु के दैविक तथा भौतिक रूप कभी एक में नहीं मिल पाये हैं। दोनों का तादात्म्य है अवश्य, पर साथ ही उनका पृथक् पृथक् उल्लेख भी किया गया है। फिर भी यह कहना ही होगा कि देवशास्त्र में अन्त तक अग्नि की भाँति वायु के भौतिक तथा दैविक रूपों में विभाजन की रेखा खींचना असंभव सा है। अग्नि, वायु आदि प्रत्यक्ष तत्त्वों को देव-रूप में हँसते, बोलते तथा युद्ध करते देखकर पाठक की सामान्य बुद्धि में यही प्रभाव पड़ता है कि ये देवता तत्त्वों के पीछे स्फुरित होती हुई किसी अव्यक्त चेतना के प्रतीक हैं जो इन तत्त्वों का नियमन करती है किन्तु जिसका इन तत्त्वों से पार्थक्य नहीं किया जा सकता।

महा०, शान्तिपर्व के १५६वें अध्यांय में सेमल वृक्ष का एक उपाख्यान आता है जिसमें एक विशाल शाल्मली वृक्ष नारद से अपने को अत्यधिक बलशाली बताता हुआ वायु से भी भयभीत न होने की बात कहता है। नारद वायु के पास जाकर वृक्ष की तिरस्कार भरी बातें सुनाते हैं और तब वायु वृक्ष पर प्रकोप करते हैं (शान्ति० १५६।९)। **महा० आदि०** ७२।१-४ में इन्द्र **विश्वामित्र** की तपस्या भंग करने के लिये मेनका को भेजते समय वायु को भी उसके सहायक के रूप में भेजते हैं और वायु अवसर देखकर उसका वस्त्र उड़ा देते हैं। ऐसे सभी उल्लेखों में उनके दैवी तथा भौतिक रूप साथ-साथ प्राप्त होते हैं।

महा० शान्ति १५५।९ में वायु को संसार में सर्वाधिक बलशाली बताया गया है (न हि वायोर्बलेनास्ति भूतं तुल्यबलं क्वचित्)। इन्द्र, यम, कुबेर

तथा वरुण भी उनके समान शक्तिमान् नहीं हैं (इन्द्रो यमो वैश्रवणो वरुणश्च जलेश्वरः। नैतेऽपि तुल्या मरुतः, १५५।१०)। महाभारत के प्रमुख पांडव, अतुल पराक्रमी, **भीमसेन** को वायु के अंश से उत्पन्न बताया गया है (आदि० १२२। ११-१४)। इनमें दस सहस्र हाथियों का बल वर्णित किया गया है (आदि० १२८।२०)। जन्म के दसवें दिन माता की गोद से छूटकर इनके एक शिला पर गिर जाने से वह शिला ही टुकड़े टुकड़े हो जाती है (आदि० १२२।१५)। वायु के प्रथम पुत्र हनुमान् का बल और पराक्रम तो रामायण में अनेक स्थानों पर वर्णित है ही, आज भी वे पहलवानों के इष्ट देवता हैं।

रामायण बाल० ३५, ३६ अ० में वायु के विषय में एक अन्य आख्यान भी प्राप्त होता है जिसमें उन्हें अत्यधिक स्त्री-प्रिय तथा ईर्ष्यालु चित्रित किया गया है। राजा कुशनाभ की सुन्दरी एवं यौवनशाली कन्याओं को उद्यान में विचरण करते हुए देखकर वायुदेव उनसे अपनी पत्नियाँ बन जाने का प्रस्ताव रखते हैं और बदले में उन्हें दीर्घायु प्रदान करने का वचन देते हैं (प्राणों के स्वामी होने के कारण)—

ताः सर्वगुणसंपन्ना रूपयौवनसंयुताः ।
दृष्ट्वा सर्वात्मको वायुरिदं वचनमब्रवीत् ॥
अहं वः कामये सर्वा भार्या मम भविष्यथ ।
मानुषस्त्यज्यतां भावो दीर्घमायुरवाप्स्यथ ॥

बाल० ३२।१५, १६

किन्तु कन्यायें ऐसी स्वेच्छाचारिता पसन्द नहीं करतीं। वे कहती हैं— **यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति** (२२)। इस पर वायुदेव क्रुद्ध हो जाते हैं और उनके शरीर में प्रविष्ट होकर, सब अंगों को लुंज-पुंज करके, उन्हें कुबड़ी बना देते हैं—

तासां तद्वचनं श्रुत्वा वायुः परमकोपनः ।
प्रविश्य सर्वगात्राणि बभंज भगवान् प्रभुः ॥ बाल० ३२।२३

किन्तु **महाभारत** में उन्हें अत्यन्त विद्वान्, धार्मिक तथा जिज्ञासु देवता के रूप चित्रित किया गया है। वे **सुपर्ण** ऋषि से सात्त्वत धर्म की शिक्षा प्राप्त करते हैं और स्वयं विघसाशी ऋषियों को उसका उपदेश देते हैं (**शान्ति,** ३४८।२२-२४)। कार्तवीर्य अर्जुन से वे ब्राह्मणों की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं (**अनु०** १५२-१५७ अ०)। इसी प्रकार **अनु०** १२८वें अध्याय में भी

उन्हें धर्माधर्म के रहस्य की व्याख्या करते हुए वर्णित किया गया है । शिव की महत्ता का प्रतिपादन करने वाले प्रसिद्ध 'वायु-पुराण' के भी वे ही वक्ता हैं जिसको उन्होंने नैमिषारण्य में यज्ञ करने वाले ऋषियों से वर्णित किया था (वायु० २-३७, ४५) ।

वायु पुराण २।३८-४५ में वायु के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'वे साक्षात् स्वयंभू-ब्रह्मा के शिष्य, संयमी, विद्वान् एवं प्रत्यक्ष द्रष्टा हैं । अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों से युक्त होकर वे पंचप्राणों के रूप में धर्मतः प्राणियों का पालन करते हैं । वे सातों स्कन्धों में एक-एक योजन तक प्रवहित होते हैं और उनके राज्य में मरुतों के सातों गण अपने-अपने स्थान पर नियत हैं । वे आकाश से उत्पन्न हुए हैं, शब्द एवं स्पर्श इन दो गुणों युक्त हैं तथा तैजस प्रकृति वाले हैं । वे अत्यधिक क्रियाशील तथा शब्द-शास्त्र विशारद हैं ।'

मत्स्य पुराण के १७३वें अ० में वर्णित तारकामय देवासुर संग्राम में देवों की ओर से युद्ध करते हुए वायुदेव का **मत्स्य-पुराणकार** ने जो वर्णन किया है उसमें उनकी शारीरिक विशेषताओं का ही अधिक उल्लेख हुआ है । वे अग्नि के जनक हैं[1], सबके स्वामी हैं । वाद्ययंत्रों से सप्त स्वरों में उन्हीं का प्राकट्य होता है । वे आकाशचारी, तीव्रगामी तथा वाणी के अधिष्ठाता हैं, आदि—

यमाहुरग्निकर्तारं सर्वप्रभवमीश्वरम् ।
सप्तस्वरगतो यश्च नित्यं गीर्भिरुदीर्यते ।।
यं वदन्त्युत्तमं भूतं यं वदन्त्यशरीरिणम् ।
यमाहुराकाशगमं शीघ्रगं शब्दयोगिनम् ।।
स वायुः सर्वभूतायुः उद्भूतः स्वेन तेजसा ।

मत्स्य० १७३।२९-३१

भौतिक एवं दैविक रूपों का यह विचित्र सम्मिश्रण ही वायु के पौराणिक स्वरूप की सर्वप्रमुख विशेषता है और इनके स्वरूप में यह अग्नि से भी अधिक अधिक स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष है ।।

---

१. तु०की०, तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः''''। **तैत्तिरीय उप० २।१।१**

सप्तम अध्याय

अन्तरिक्षस्थानीय देवता (२)

रुद्र (शिव), दुर्गा, गणेश तथा स्कन्द

भारत के धार्मिक इतिहास में भगवान् शिव के चरित की विविध विशेषताओं के उद्गम की समस्या सर्वाधिक जटिल है। उनका व्यक्तित्व इतना अधिक वैविध्यपूर्ण तथा विचित्र है कि वह किसी एक देवता से सम्बन्धित विचारों का क्रमबद्ध विकसित रूप नहीं जान पड़ता। एक ओर तो वे भयंकर तथा विनाशक हैं, प्रलय काल में जिनके तृतीय नेत्र से उद्भूत कालाग्नि जगत् की प्रत्येक वस्तु को भस्मसात् कर देती है और जो दिग्गजों को अपने शूल की नोक से छेदते हुए अपने प्रचण्ड ताण्डव से ब्रह्माण्ड को हिला देते हैं और साथ ही दूसरी ओर वे कल्याणमय (शिव), मंगल प्रदान करने वाले (शंकर) तथा आशुतोष भी है जो भक्तों की जरा सी तपस्या से तुष्ट होकर उन्हें मनचाही सिद्धि प्रदान करते हैं। एक ओर जहाँ वे श्मशान में नग्न विचरण करने वाले, भूतों तथा प्रेतों के साथी हैं तो दूसरी ओर श्वेताश्वतर-उपनिषद् आदि श्रुतियों तथा काश्मीरी शैव-सिद्धान्त में उनकी माया के अधीश्वर, जगत् के कारण स्वरूप, अव्यक्त, परम तत्त्व के रूप में भी प्रतिष्ठा है। शिव के इन सब रूपों का सामंजस्य करना, सब में सम्बन्ध के अस्पष्ट सूत्र का अन्वेषण करना अत्यन्त दुष्कर है।

वैदिक संहिताओं में रुद्र का स्वरूप

ऋग्वेद में रुद्र को गौरवर्ण के तेजस्वी युवक के रूप में चित्रित किया गया है जो अपने धनुष और बाणों को लेकर इतस्ततः विचरण करते हैं और क्रुद्ध होने पर मनुष्यों तथा पशुओं का विनाश कर डालते हैं। इनका रूप अत्यन्त तेज युक्त है (त्वेषं रूपं तपसा निह्वयामहे, ऋ० १०।११४।५) और उसी प्रकार चमकता है जैसे आभावान् सूर्य या स्वर्ण (यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते, १।४३।५)। स्वर्ण से इनका विशेष सम्बन्ध है। सोने के चमकीले आभूषणों को पहनने के कारण इनका शरीर दीप्तिमान् दिखाई पड़ता है

(शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः, ऋ० २।३३।९)। आभूषणों में भी सोने का बहुरंगी हार (निष्क) इन्हें विशेष प्रिय है (अर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्····बिभर्षि, २।३३।१०)। इनके शरीर का वर्ण बभ्रु या भूरा माना गया है। (२।३३।५, ९)। इनको युवक कहा गया है (२।३३।११ तथा ५।६०।५)। इनके अंग 'स्थिर' अथवा पुष्ट और दृढ़ हैं (२।३३।९)। शारीरिक अंगों में इनके हाथ तथा बाहु का विशेष उल्लेख किया गया है। इनका हाथ मंगलमय (मृलयाकु) तथा शीतलता पहुँचाने वाला (जलाष) है (२।३३।७)।

रुद्र का वाहन है रथ, और शस्त्र हैं धनुष तथा बाण (तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वाः··· ५।४।११ तथा, अहं रुद्राय धनुरातनोमि, १०।१२५।६)। **वा० सं०** ३।६१ में रुद्र के धनुष का नाम **पिनाक** बताया गया है (अवततधन्वा पिनाकावसः)। रुद्र का धनुष स्थिर है और उनके बाण तीव्र गति वाले हैं। उनके अन्य आयुध भी तीक्ष्ण हैं (७।४६।२)। एक स्थान पर उनको हाथ में वज्र लिये भी वर्णित किया गया है (तवस्तमः तवसां वज्रबाहो, २।३३।३)। तडित् (विद्युत् या दिद्युत्) को उनका एक विशेष अस्त्र बताया गया है जो रुद्र के द्वारा आकाश से फेंका जाकर पृथ्वी पर आता है। **ऋ०** ७।४६।३ में कवि इस विद्युत् से अपने और पुत्रादिकों को बचाने की रुद्र से प्रार्थना करना है (या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः)।

ऋग्वेद में अन्य देवों की तुलना में रुद्र के स्वरूप की जो विशेषता उन्हें इतर देवों से पृथक् करती है वह है उनका भयानक, उग्र तथा मनुष्यों और पशुओं को नष्ट करने वाला भीषण रूप। उनके लिये **भीम** (भयानक), **उग्र** तथा **उपहत्नु** (घातक) विशेषण प्रयुक्त हुए हैं (स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम् २।३३।११)। **अ० वे०** ११।२।७ में उनको **अर्धक-घाती** (पौराणिक **अन्धक** राक्षस ?) कहा गया है (रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि)। ऋग्वेद में रुद्र के प्रति कहे गये मंत्रों में स्तुतिकर्ता का भय स्पष्ट झलकता है। १।११४।७ तथा ८ में कवि रुद्र से अपने बच्चों, माता-पिता तथा अश्व, वृषभ आदि पशुओं को नष्ट न करने की प्रार्थना करता है (मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः, तथा, मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः, आदि)। **ऋ० वे०** २।३३।१४ में कवि कहता है कि रुद्र की शक्ति (या शूल) हम लोगों को छोड़ दे और उसकी विनाश करने वाली दुर्बुद्धि हमारे विषय में न उत्पन्न हो (परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिः मही गात्)।

स्तोता रुद्र से बराबर प्रार्थना करता है कि वे उस पर क्रुद्ध न हों (मा त्वा रुद्र चुक्रुधाम, ऋ० २।३३।४)। उनके लिये **नृघ्न** या 'मनुष्यों के नाशक' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है (ऋ० ४।३।६ ; **पुरुषघ्न** १।११४।१०)।

ऋग्वेद से परवर्ती वैदिक साहित्य में भी रुद्र का भयंकर रूप पूर्णतः सुरक्षित है। **वा० सं०** ३।६१ का कवि रुद्र को उनका उपयुक्त भाग देने के उपरान्त बिना किसी की हिंसा किये हुए **मूजवान् पर्वत** के पार जाने की प्रार्थना करता है (अहिंसन् नः शिवः परो मूजवतः अतीहि)। **अथर्ववेद** ११।२।२२ तथा २६ में ज्वर, विष, खाँसी तथा दिव्य-अग्नि या तडित् ये चार रुद्र के प्रमुख अस्त्र बताये गये हैं। रुद्र से इन सब को अपने से दूर रखने की तथा अपने विद्युत् रूपी वज्र को कहीं अन्यत्र गिराने की प्रार्थना की गई है (अन्यत्र विद्युतं पातयैताम्)।

किन्तु साथ ही ऋग्वेद में ही रुद्र के स्वरूप का दूसरा पक्ष भी हैं जिसमें उन्हें अत्यन्त कृपालु, कल्याणमय तथा श्रेष्ठ वैद्य कहा गया है जो अपनी विविध प्रकार की ओषधियों के द्वारा मनुष्यों के सब रोगों को दूर करते हैं। उनका हाथ **मृलयाकु** (मंगलमय) है (२।३३।७) तथा वे उदार दाता (मीढ्वान्) हैं हैं (१।११४।३ तथा २।३३।१४)। **वा० सं०** तथा **अ० वे०** में **मीढुष्टम** (अत्यन्त उदार) शब्द केवल रुद्र के लिये प्रयुक्त हुआ है (उदा० वा० सं० १६।५१)। वे अत्यन्त मंगलमय (**शिव**) हैं तथा स्तोता को प्रचुर धन धान्यादि से पूर्ण कर देते हैं (१०।९२।२)। रुद्र देवों के क्रोध तथा उनसे होने वाले संकटों को भी दूर करते हैं(आरे अस्मद् दैव्यं हेलो अस्यतु, ऋ० १।११४।४)। **'शम्'** (कल्याण) तथा **'मयस्'** (सुख) के वे कर्ता हैं (ऋ० १।४३।६)। इसीलिये उनको **वाजसनेयी संहिता** आदि में **शंकर** एवं **मयस्कर** कहा गया है। **तै० ब्रा०** २।२।५।५ का कथन है कि जो 'शिव' है वही 'मय' भी है (यद्वै शिवं तन्मयः)। संसार की सभी ओषधियों पर उनका अधिकार है। (यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य, ऋ० ५।४२।११) उनके पास सहस्रों ओषधियाँ हैं (सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा, ७।४६।१)। अपने स्तोताओं के लिये वे इन्हें हाथ में लिये रहते हैं (१।११४।५) और इन ओषधियों का उपयोग करके मनुष्य सौ वर्षों तक जीवित रह सकता है (त्वा दत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः, ऋ० २।३३।२)। यही कारण है कि रुद्र को 'सभी वैद्यों में श्रेष्ठ' की उपाधि दी गई है (भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि २।३३।४)।

रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति

वैदिक रुद्र का आधिभौतिक स्वरूप क्या था इस विषय पर विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है, और इसी पर निर्भर करती है रुद्र शब्द की व्युत्पति तथा अर्थ । **श० ब्रा०** ६।१।३।८ तथा ११।६।३।७ में प्रजापति के द्वारा एक कुमार की उत्पत्ति का उल्लेख है । उत्पन्न होते ही वह रोने लगा और प्रजापति से अपने नाम रखने की प्रार्थना करने लगा । तब प्रजापति ने उसके आठ नाम रखे । उत्पन्न होते ही रोने से उनका नाम **रुद्र** या 'रोने वाला' पड़ गया (रुदिर् अश्रुविमोचने, **धा० पा०** १०६७)—

....कुमारः अजायत । स अरोदीत् तस्माद् रुद्रः ।

तैत्तिरीय संहिता १।५।१ में एक छोटी सी मनोरंजक कथा है । इसके अनुसार एक बार जब देवों का असुरों से युद्ध हुआ तो देवों ने अपना धन (वसु) अग्नि के पास निक्षिप्त कर दिया । अग्नि की उस धन को लेने की इच्छा हुई । वह उसके साथ चला गया । संग्राम के पश्चात् देवों ने बलात् अग्नि से अपना धन लेना चाहा जिससे वह रो पड़ा । और क्योंकि अग्नि 'रो पड़ा' इसलिये उसे ही **रुद्र** कहते हैं—

देवासुराः संयत्ता आसन् । ते देवा....अग्नौ वामं वसु संन्यदधत.... ....तदग्निर्न्यकामयत तेनापाक्रमत् तद् देवा अवरुरुत्समाना अन्वायन् । तदस्य सहसा आदित्सन्त । सः अरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् ।

एक अन्य स्थान पर **श० ब्रा०** रुद् धातु को णिजर्थक मानते हुए रुद्र का अर्थ 'रुलाने वाला' करता है । ११।६।३।७ में कहा गया है कि दश प्राण और आत्मा इनको मिलाकर रुद्र कहते हैं क्योंकि शरीर निकलते समय ये संबन्धियों को रुलाते हैं—

कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणाः । आत्मैकादशः । ते यदा अस्मात् मर्त्याच्छरीराद् उत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति । यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः[1] ।

---

१. इन **एकादश** रुद्रों अथवा रुद्रगण पर इसी खंड में आगे प्रकाश डाला गया है ।

स्वामी **दयानन्द** जैसे कुछ आधुनिक विद्वान् भी रुद्र का अर्थ 'रुलाने वाला' लेने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार पापियों और दुष्टों को रुलाने के कारण परमात्मा का ही नाम रुद्र है[1]।

श० ब्रा० में ही एक अन्य स्थान पर (९।१।१।६, ७) रुद्र तथा रुद्रों का **रुद्** धातु से सीधा नहीं अपितु कुछ दूर का सम्बन्ध माना गया है। एक कथा के अनुसार एक बार सृष्टि-रचना से श्रान्त प्रजापति को छोड़ कर सभी देवता चले गये। केवल **मन्यु** (क्रोध) नहीं गया। प्रजापति रो पड़े और उनके जो आँसू भूमि पर गिर पड़े उनसे रुद्रों की तथा जो मन्यु पर गिरे उससे शतमुख, सहस्राक्ष तथा शततूणीरधारी रुद्र की उत्पत्ति हुई। इनको रुद्र इसलिये कहते हैं कि ये प्रजापति के रुदन से उत्पन्न हुए—

तद् यद् रुदितात् समभवन् तस्माद्रुद्राः।

पुराणों के समय तक भी रुद्र की यही व्युत्पत्ति सामान्यतः मान्य थी। **मत्स्य पुराण** इस शब्द को दो धातुओं से सम्बन्धित करता है, **रुद्** तथा **द्रु** (दुद्रु गतौ, भागना) से। ब्रह्मा की कामरूपिणी पत्नी ब्रह्माणी **सुरभि** (गौ) का रूप धारण करके उनके पास गई। उसमें उन्होंने रुद्रों को उत्पन्न किया जो रोते हुए और पितामह की निन्दा करते हुए इधर-उधर भागने लगे—

ते रुदन्तो द्रवन्तश्च गर्हयन्तः पितामहम्।
रोदनाद् द्रवणाच्चैव रुद्रा इति ततः स्मृताः॥ मत्स्य० १७०।३८

वायुपुराण (९।८२) भी रुद्रों की बिलकुल यही व्युत्पत्ति देता है।

महाभारत (शान्ति० २८४) में **दक्ष** शिव की स्तुति करते हुए कहता है कि 'रु' संकट को कहते हैं और उसको 'दूर करने' (द्रावण = भगाना) के कारण आपका नाम रुद्र है। इसी प्रकार **ऋ० वे०** १।११४।१ तथा २।१।६ की व्याख्या में सायण ने भी **रुद्** का अर्थ 'कष्ट', 'दुःख' लेकर रुद्र का अर्थ 'कष्ट का अपनोदन करने वाला' लिया है। लगभग ५वीं शती ई० पू० में रचित **अथर्वशिरस् उपनिषद्** में रुद्र शब्द की यह रोचक व्युत्पत्ति दी हुई है—

.........अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्माद् ऋषिभिः मान्यैर्भक्तैः द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते।

---

१. **सत्यार्थ, प्रकाश**, पृ० ५।

पर वस्तुतः ऐसी व्युत्पत्तियाँ रुद्रोपासकों की अपने इष्टदेव के प्रति श्रद्धा की भले ही परिचायक हों, इनसे रुद्र के मूल एवं वास्तविक स्वरूप पर तनिक भी प्रकाश नहीं पड़ता।

रुद्र की व्युत्पत्ति के विषय में भारतीय परम्परा से हटकर पूर्णतः भिन्न दृष्टि से सोचने वालों में जर्मन विद्वान् **ग्रासमान्** तथा **पिशेल** उल्लेखनीय हैं। प्रथम विद्वान् के अनुसार रुद् धातु का प्रारम्भिक अर्थ 'चमकना' या 'प्रकाशित होना' है; अतः रुद्र का अर्थ है प्रकाशमान या तेजस्वी। पिशेल के के अनुसार इस धातु का अर्थ है 'भूरे वर्ण का होना'; अतः इसका अर्थ 'भूरा' या 'रक्त वर्ण का' होना चाहिये[1]। ऋग्वेद में रुद्र के लिये बहुशः प्रयुक्त **बभ्रु** शब्द से इसकी पुष्टि होती है। **बार्थ** ने भी इस व्युत्पत्ति की पुष्टि की है[2]। कहना न होगा कि रुद् धातु के यह दोनों ही अर्थ काल्पनिक हैं और वैदिक अथवा लौकिक संस्कृत में रुद् धातु का यह भाव कहीं प्राप्त नहीं होता।

रुद्र का भौतिक आधार : अग्नि

अब प्रश्न यह है कि रुद्र देवता का मूल भौतिक स्वरूप क्या है? सौभाग्य से इस सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रंथों तथा पूर्ववर्ती संहिताओं में भी अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऊपर रुद्र की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में **तैत्तिरीय संहिता** का जो उद्धरण दिया गया है उसमें अग्नि को रुद्र बताया गया है। देवताओं के द्वारा धन छीनने पर रोने के कारण अग्नि का नाम रुद्र पड़ा। इसी संहिता में एक अन्य स्थान पर पुनः अग्नि को रुद्र कहा गया है (रुद्रो वा एष यदग्निः, ५।४।३)। **श० ब्रा०** में भी अनेक स्थानों पर स्पष्ट शब्दों में अग्नि को ही रुद्र कहा गया है—**यो वै रुद्रः सो अग्निः** (५।२।४।१३), **अग्निर्वै रुद्रः** (५।३।१।१०)। इसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थान पर (१।७।३।८) अग्नि के विषय में जो शब्द कहे गये हैं उनसे रुद्र का स्वरूप स्पष्ट रूप से भासित हो जाता है। इसके अनुसार "अग्नि के ही **शर्व** तथा **भव** ये दो नामान्तर है। अग्नि को 'शर्व' पूरब के लोग कहते हैं और 'भव' पश्चिम के। किन्तु ये अग्नि के भयंकर रूप के वाची हैं। उसके सबसे शान्त रूप को **अग्नि** कहा जाता है जो 'स्विष्टकृत्' (मंगलमय, अभीष्ट पूर्ण करने वाला) है।

---

१. **वेदिशे श्टूडियन्**, प्रथम भाग, पृ० ५७।

२. **दि रिलीजन्स आफ् इंडिया**, पृ० १४।

अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा बाहीकाः। पशूनां पती रुद्रः अग्निरिति। तानि अशान्तानि एव इतराणि नामानि। अग्निरित्येव शान्ततमम्। तस्माद् अग्नय इति क्रियते स्विष्टकृत् इति।

श० ब्रा० १।७।३।८

शर्व तथा भव शब्दों को **श० ब्रा०** अग्नि के 'अशान्त' नाम बताता है। वे इसी ब्राह्मण में अन्यत्र (६।१।३।८-१८) रुद्र के आठ प्रमुख नामों में परिगणित हुए हैं। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि रुद्र अग्नि के भयंकर, प्रचण्ड तथा विनाशकारी स्वरूप का द्योतक है। एक ओर तो अग्नि यज्ञ-पुरोहित है, यज्ञ को देवताओं तक वहन करता है और यज्ञ की समस्त क्रियाओं का आधार बन कर यजमान को प्रत्येक कामना की प्राप्त कराता है; इसीलिये 'स्विष्टकृत्' कहलाता है। साथ ही 'वैश्वानर' के रूप में प्राणियों के अन्दर प्रविष्ट होकर अन्न-रसादि के सम्यक् परिपाक द्वारा जीवन को भी धारण करता है। किन्तु दूसरी ओर उसका सर्वभक्षी तथा विनाशक रूप भी है। कुपित होने पर यही अग्नि बड़े-बड़े प्रासादों को अस्मसात् कर देता है, विशाल वन भी बात की बात में राख बन जाते हैं और कई बार तो मनुष्य तथा पशु आदि भी इसके उग्र रूप की चपेट में आ जाते हैं। रुद्र की धारणा के पीछे अग्नि का यही जनविनाशक रौद्र-रूप ऋग्वेद के कवियों की दृष्टि में था।

श० ब्रा० ९।१।१।१,२ में **शतरुद्रिय** के मंत्रों की व्याख्या करता हुआ ऋषि कहता है कि अग्नि का दाहकता शक्ति से पूर्ण, अमर रूप ही रुद्र है। अपने इस अविनाशी रूप में अग्नि सर्वभक्षी और सर्वविनाशक है। अतः उसे रुद्र कहते हैं। देवताओं ने उससे डर कर उसे शान्त करने के लिये इन मन्त्रों का पाठ किया—

अथातः शतरुद्रियं जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः। स एषो अत्र रुद्रो देवता। तस्मिन् देवा एतद् अमृतं रूपम् उत्तमम् अदधुः। स एषो अत्र दीप्यमानो अतिष्ठद् अन्नमिच्छमानः। तस्माद् देवा अबिभ्युः यद्वै नो अयं हिंस्याद् इति।

श० ब्रा० ९।१।१।१

अग्नि को रुद्र मानने की धारणा ब्राह्मणों में स्वतन्त्र रूप से उद्भूत नहीं हुई। इसके बीज प्राचीनतर वैदिक संहिताओं में ही प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद

में ऐसे मंत्र हैं जिनमें अग्नि और रुद्र तादात्म्य किया गया है अथवा जिनमें रुद्र शब्द अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल की निम्न ऋचा विशेष महत्त्वपूर्ण है—

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।

ऋ० २।१।६

इस ऋचा में अग्नि को रुद्र के अतिरिक्त 'असुर', 'मरुतों का गण' तथा 'पुष्टिकारक' कहा गया है जो क्रमशः रुद्र के 'ईशान' 'मरुत्पिता' आदि विशेषणों तथा जल एवं ओषधियों से उनके सम्बन्ध का परिचायक हैं। इसकी व्याख्या में सायणाचार्य लिखते हैं कि रुद् (दुःख) को दूर करने (द्रावण) के कारण ही अग्नि को रुद्र कहते हैं।

रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा पापादि:। तस्य द्रावयिता एतन्नामको देवो असि, रुद्रो वै एष यदग्निः इत्यादिषु (तै० सं० ५।४।३) अग्नेः रुद्रशब्देन व्यवहारात्।

आगे सायण ने रुद्र शब्द की दूसरी मनोरंजक व्युत्पत्ति दी है। रुद्र **रौति** (अन्तर्भावितण्यर्थ-रावयति) से बना है। उसका पूजन न करके मनुष्य दुःख में पड़कर रोते हैं—

यद्वा त्वं रुद्रः। रौति। माम् अनिष्ट्वा नराः दुःखे पतिष्यन्ति। रुद्रस्तादृशो असि।

ऋचाओं में भी रुद्र शब्द अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है—

अग्निं सुम्नायं दधिरे पुरोजनाः वाजश्रवसमिह वृक्तबर्हिषः।
यतस्रुचः सुरुचं विश्वदेव्यं रुद्रं यज्ञानां साधदिष्टिमपसाम्॥

ऋ० ३।२।५

आ वो राजानम् अध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा स्तनयित्नोः अचित्ताद् हिरण्यरूपम् अवसे कृणुध्वम्॥

ऋ० ४।३।१

प्रस्तुत ऋचा अग्नि और रुद्र की एकात्मकता सिद्ध करने के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें रुद्र का एक प्रमुख नाम 'उग्र' अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है और अग्नि को 'दुर्गों का विनाशक' कहा गया है

जो परवर्ती वैदिक साहित्य में रुद्र के द्वारा असुरों के **त्रिपुरविनाश** की कथा से सम्बन्धित है—

य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृंगो न वंशगः ।
अग्ने पुरो रुरोजिथ । ऋ० ६।१६।३९

सायण ने इस ऋचा की व्याख्या करते हुए लिखा है—

रुद्रो वै एष यदग्निरिति श्रुतेः रुद्रकृतमपि त्रिपुरदहनम् अग्नि-कृतमेव इत्यग्निः स्तूयते ।

अथर्ववेद में भी इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त स्पष्ट मंत्र आता है जिसमें कवि परमसामर्थ्यशाली अग्निरूपी रुद्र को प्रणाम करता है—

य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्तु अग्नये[1] ।
अ० वे ७।८७।१

उपर्युक्त उद्धरणों में यद्यपि अग्नि के सामान्य रूप को ही रुद्र कहा गया है किन्तु प्रतीत होता है कि रुद्र के स्वरूप के साथ अग्नि का माध्यमिक अथवा अन्तरिक्षस्थानीय रूप (विद्युत्) ही विशेष रूप से सम्बद्ध था। पार्थिव एवं आकाशीय अग्नि (सूर्य) तो अपेक्षाकृत कम हानिप्रद सिद्ध हो सकते हैं किन्तु अन्तरिक्ष से गिरने वाली तडित् प्रायः पशुओं और मनुष्यों के जीवन के लिये घातक होती है अतः रुद्र का विशेष सम्बन्ध उसी से था। तडित् से सम्बन्धित होने पर उससे अनिवार्यतया सम्बन्धित तीक्ष्ण हिममय झंझावात, वृष्टि तथा मरुद्गण से रुद्र का सम्बन्ध होना आवश्यक ही था। पीछे कुछ ऐसे ऋग्वैदिक मंत्रों का उल्लेख किया गया है (उदा० ७।४६।३) जिनमें रुद्र से अपनी विद्युत् रूपी **हेति** या वज्र को अन्यत्र गिराने की प्रार्थना की गई है। रुद्र का अग्नि तथा विद्युत् से सम्बन्ध महाभारत एवं पुराणों के कवियों को भी विस्मृत नहीं हुआ है। अग्नि और रुद्र के तादात्म्य के अनेक संकेत ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं, उदाहरणार्थ—

---

१. यह मंत्र **अथर्वशिरस् उपनिषद्** के षष्ठ खण्ड में भी उद्धृत किया गया है।

स वै रुद्रः स शिवः सोऽग्निः सर्वः स सर्वजित् ।
वदन्त्यग्निं महादेवं तथा स्थाणुं महेश्वरम् ।

महा० अनु० ६०।३८,४६

निम्न श्लोक में इस देवता की रुद्र तथा शिव, ये दो घोर तथा शान्त मूर्तियाँ बताई गई हैं। इनमें से घोर मूर्ति अग्नि, विद्युत् तथा सूर्य के प्रचण्ड रूप को सूचित करती है तथा शान्त मूर्ति अग्नि-सोमात्मक है—

द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः ।
घोरामन्यां शिवामन्यां ते तनू बहुधा पुनः ॥
उग्रा घोरा तनूर्या सा सोऽग्निर्विद्युत् स भास्करः ।
आत्मनोऽर्धं तु तस्याग्निः सोमोऽर्धं पुनरुच्यते ॥

अनु० ६०।४७, ४८

वायु पुराण २१।७५ तथा ३१।२३ में अग्नि को **काल-रुद्र** कहा गया है। अग्नि का ही स्वरूप होने के कारण सूर्य भी काल-रुद्र है क्योंकि वह दिन-रात आदि का नियमन करके प्राणियों की आयु क्षीण करता है। **विष्णु पुराण** ६।३।२४ में प्रलयकाल में शेषनाग की फुफकारों से उत्पन्न, प्राणियों को भस्म कर देने वाली कालाग्नि के लिये 'रुद्र' की संज्ञा प्रयुक्त की गई है—

ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूत्वा सर्वहरो हरिः'''''।

झंझावात तथा वृष्टि से रुद्र के इसी सम्बन्ध के कारण रुद्र के शिव अथवा मंगलमय रूप की कल्पना उद्भूत हुई है। ऐसे विद्युद्गर्जन-युक्त सवृष्टिक-झंझावात से वातावरण पूर्णतया शुद्ध हो जाता है और पर्वतों तथा मैदानों पर अनेक प्रकार की लाभदायक ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं जिनसे मनुष्य रोगमुक्त हो सकता है। रुद्र के **भिषक्तम** होने का यही रहस्य है[1]।

रुद्र के मूलरूप को तडित् से सम्बन्धित मान लेने पर उनके नाम का अर्थ ठीक प्रकार से समझ में आ जाता है। गरजती हुई विद्युत् का 'रुद्र' (चिल्लाने या रोने वाला) नाम सर्वथा संगत है। किन्तु साथ ही यह भी संभव है कि यह शब्द तीव्रता से जलती हुई पार्थिव अग्नि के चटखने की

---

१. देखिये, डा० यदुवंशी, **शैवमत** (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५५), पृ० ३।

ध्वनि को सूचित करता हो। भीषण रूप में दंदह्यमान अग्नि से इस प्रकार की चटचटाहट प्रायः सुनी जा सकती है[1]। यास्क ने रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए सम्भवतः इधर ही संकेत किया है—

रुद्रो रौतीति सतः रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा।
(निरुक्त १०।५)

अग्निरपि रुद्र उच्यते। (निरुक्त १०।७)

यहाँ निरुक्तकार अग्नि को रुद्र बताकर इस शब्द की तीन व्याख्याएँ सुझाते हैं। 'वह चिल्लाता है' (रु-रौति), अथवा 'शोर करते हुए इधर-उधर भागता (प्रसरित होता) है' अथवा '(विद्युत्-पात से) लोगों को रुलाता है'— इसलिये उसे रुद्र कहते हैं। स्पष्ट है कि ये तीनों ही व्याख्याएँ पार्थिव अग्नि तथा विद्युत् दोनों पर सन्तोषजनक रूप से घट सकती हैं। पर बृहद्देवता-कार को रुद्र का अन्तरिक्ष-स्थानीय स्वरूप अधिक अभीष्ट है। उनका मत है कि वृष्टि के समय अग्नि का विद्युत्-रूप अन्तरिक्ष में रोता (गरजता) है अतः (अन्तरिक्षस्थानीय) अग्नि को ही रुद्र कहते हैं—

अरोदीदन्तरिक्षे यद् विद्युद्वृष्टिं ददन्नृणाम्।
चतुर्भिऋर्षिभिस्तेन रुद्र इत्यभिसंज्ञितः॥

बृहद्देवता २।३४

ऋ० वे० १।११४।१ की व्याख्या में सायण ने रुद्र शब्द की एक अन्य विद्वत्तापूर्ण व्युत्पत्ति सुझाई है जिससे रुद्र का अग्नि से तादात्म्य सिद्ध किया जा सकता है—**रुणद्धि आवृणोति इति रुद्** (क्विप्) **अन्धकारादिः। तद् दृणाति विदारयति इति रुद्रः।**

जर्मन विद्वान् वेबर का मत है कि रुद्र शब्द का जो चिल्लाना या शब्द-करना भाव है वह मूलतः अग्नि से नहीं अपितु झंझावात से सम्बन्धित है। काश्मीर की उपत्यकाओं में रहने वाले आर्यों के लिये उस समय झंझावात की प्रचण्डता विशेषरूप से दुःखद रही होगी अतः उन्होंने उसके पीछे एक अनुदार तथा कठोर देवता की कल्पना की। उसके अनुसार रुद्र का बहु-वचन 'रुद्राः' तथा 'मरुतः' पर्यायवाची हैं। किन्तु अग्नि तथा झंझावात में रव

---

१. तु० की०, डा० फतेह सिंह, **वैदिक एटिमॉलजी**, पृ० १९१।

तथा भयंकरता दोनों का साम्य है अतः धीरे-धीरे रुद्र के व्यक्तित्व में अग्नि के भी तत्त्वों का मिश्रण हो गया। उनके अनुसार यजुर्वेद के शतरुद्रिय स्तोत्र में रुद्र के कुछ विशेषण झंझावात को सूचित करते हैं और कुछ अग्नि को[1]।

यद्यपि वैदिक साहित्य के अगणित प्रमाणों के सामने अग्नि को छोड़ कर रुद्र का मूल सम्बन्ध झंझावात से मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती किन्तु वेबर का मत फिर भी श्योडर अथवा ओल्डेनबर्ग की अपेक्षा अधिक तर्क-संगत है जिनमें से प्रथम मरुतों को प्रेतात्माओं का प्रतीक तथा रुद्र को को उनका आकाशचारी नेता मानते हैं[2] और द्वितीय रुद्र को पर्वतों का देवता मानने के पक्ष में हैं जहाँ से रोग रूपी रुद्रबाण मनुष्यों को पीडित करते हैं[3]।

अग्नि, विद्युत् एवं झंझावात से रुद्र को सम्बन्धित मान लेने पर उनके लिये वैदिक साहित्य में प्रयुक्त अधिकांश विशेषणों की सन्तोषजनक व्याख्या की जा सकती है। ऊपर रुद्र को ऋग्वेद में प्रायः **अरुष** (१।११४।५) तथा **बभ्रु** (२।३३।५, ८, १५) कहा गया है। दोनों शब्दों का अर्थ है भूरा या ललछौंह (कुछ-कुछ लाल)। ये विशेषण सम्भवतः पार्थिव अग्नि के पीत-रक्त वर्ण को सूचित करते हैं और **कल्मलीकिन्** (तेजस्वी, देदीप्यमान, २।३३।८) तथा **श्वित्यञ्च्** (श्वेत द्युतिवाले २।३३।८) आदि विशेषणों से सम्भवतः घने मेघों के अँधेरे में तीव्रता से चमक जाने वाली श्वेतवर्ण की तेजस्वी विद्युत् की ओर संकेत है। ऊपर कहा जा चुका है कि ऋग्वैदिक रुद्र के शारीरिक वर्णन में कवि ने हिरण्य के आभूषणों का प्रायः उल्लेख किया है। यह सारी स्वर्णराशि विद्युत् की ही परिचायक है। रुद्र की **दिवो-वराह** (आकाश का शूकर) उपाधि सम्भवतः श्वेत विद्युल्लेखा युक्त काले मेघ का प्रतीकात्मक अभिधान है। विद्युत् वराह के दाँतों की और कृष्ण-मेघ उसके शरीर के प्रतीक हैं। अ० वे० ११।२।१८ में रुद्र के भयानक काले रथ को लाल अश्वों द्वारा खींचा जाता हुआ बताया गया है।

---

१. वेबर, **इंदिशे स्टूडियन्**, द्वितीय भाग, पृ० २०-२१।

२. **वियेनर त्साइटश्रिफ्ट फ़्युर् डी कुन्डे डेस मॉर्गनलान्डेस**, नवम भाग, पृ० २४८।

३. ओल्डेनबर्ग, **डी रिलीगियोन डेस वेद**, पृ० २१६-२४।

श्यावाश्वं कृष्णमसितं गृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् ।

यह रूपक भी बिलकुल इसी प्राकृतिक दृश्य को सूचित करता है ।

रुद्र की जटाएँ, उनका विषपान एवं नीलकण्ठत्व

यहाँ रुद्र के लिये जो **केशी** (बालों वाला) विशेषण प्रयुक्त हुआ है वह **ऋग्वेद** में रुद्र के लिये दो स्थानों (१।११४।१ तथा १०।१०२।८) पर प्रयुक्त **कपर्दी** (जटाधारी) विशेषण की याद दिलाता है। सम्भवतः यह विशेषण अग्नि के धूम से आवृत रूप को सूचित करता है। पूर्णतः प्रज्ज्वलित होने से पहले अग्नि की ज्वालाओं के ऊपर जो धूम का आवरण रहता है उसकी उपमा एक गौरवर्ण व्यक्ति के सिर की जटाओं से बड़ी सरलता पूर्वक दी जा सकती है[1]। महाकाव्यों तथा पुराणों में कपर्दी के ही अर्थ में शिव के लिये **धूर्जटि** विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है। **महा० अनु०** पर्व में (१६०।५०) शिव और अग्नि का साम्य दिखाते हुए कहा है कि धूम्रयुक्त होने के कारण ही शिवरूपी अग्नि को धूर्जटि कहा जाता है—

वदन्त्यग्निं महादेवं तथा स्थाणुं महेश्वरम् ।
धूम्ररूपं च यत्तस्य धूर्जटीत्यत उच्यते ॥

कुछ ऐसा ही भाव रुद्र की **नीलशिखण्डिन्** उपाधि का भी है। **अथर्ववेद** में तीन स्थानों पर (२।२७।६, ६।९३।१, ११।२।७) रुद्र के लिये यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है 'नीले केशों या शिखा वाला'। यह शिखण्ड और कुछ नहीं केवल अग्नि का धूम है। **श० ब्रा०** २।३।२।९ से इसकी पुष्टि होती है। इसमें कहा गया है कि जब अग्नि सर्वप्रथम प्रज्ज्वलित होता है तो

---

१. रुद्र के इस विशेषण पर डा० यदुवंशी लिखते हैं—"आकाश में उमड़ कर आई हुई मटियाले रंग की मेघमाला वास्तव में जटाओं सी लगती है और उसमें जब बिजली चमकती है तब रुद्र की यह **कपर्दिन्** उपाधि भी सार्थक हो जाती है" (**शैवमत**, पृ० ३)। किन्तु क्षणिक विद्युत् को रुद्र का शरीर मानना अधिक संगत नहीं है। इसके अतिरिक्त जटा शरीर के ऊपर रहती है और इस दृष्टि से अग्नि और धूम वाली व्याख्या अधिक **सहज** है। डा० यदुवंशी के मत से **नीलशिखंडिन्** का भी उपर्युक्त अर्थ है (पृ० ८)।

धूम से पूर्ण वह अग्नि रुद्र का स्वरूप है। दोनों के स्वभाव-साम्य का भी श० ब्रा० यहाँ उल्लेख करता है। जिस प्रकार रुद्र प्रजा को अचानक क्रूरता-पूर्वक समाप्त कर देता है उसी प्रकार यह अग्नि भी उस समय हूयमान अन्न आदि को तत्क्षण नष्ट कर देता है—

तद्यत्रैतत् प्रथमं समिद्धो भवति धूयत इव। तर्हि हैष भवति रुद्रः। यथेमा रुद्रः प्रजा अश्रद्धयेव त्वत् निघातमिव त्वत् सचते एव-मन्नमद्याम् इति।

इन वाक्यों पर सायण यह टिप्पणी करते हैं—काष्ठैः समिद्धः अग्निः यदा प्रथमं धूमायमानो भवति तस्मिन् समये एष रुद्रात्मको भवति। यथा खलु रुद्रः सर्वाः प्रजाः अप्रियेणेव एकवारं बलात्करेणेव....प्रजानां हननमिव समवेति एवमेव....।

शुक्लयजुर्वेद में रुद्र की यही उपाधि **असितग्रीव** (वा० सं० २३।१३) तथा **कृष्ण-यजुर्वेद** (तै० सं० १६।१।६६।८) में **नीलग्रीव** के रूप में प्राप्त होती है। शिखंड की नीलिमा से कवि अब ग्रीवा की नीलिमा पर आ गया है। पर विशेषण के मूल भाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है क्योंकि **वा० सं०** के प्रस्तुत शब्द की व्यवस्था में **श० ब्रा०** कहता है **अग्निर्वा असितग्रीवः** (१३।२।७।२) सायण ने इसे और स्पष्ट किया है—**अग्निर्वै कृष्णग्रीवः धूममिश्रत्वात्।**

यही वह बीज है जिस पर पौराणिक युग में शिव के विष-पान और तदनन्तर नीलकण्ठ हो जाने की कथा आधारित है। देवताओं तथा असुरों ने मिल कर **मन्दराचल** को मन्थनदण्ड तथा **शेषनाग** को रज्जु बना कर अमृत के लिये क्षीरसागर को मथा। सागर के मथे जाने पर सर्वप्रथम उससे भयंकर नीलवर्ण का **हालाहल** विष निकला। उस उग्र विष के प्रभाव से जगत् के सभी प्राणी त्रस्त हो गये। तब देवतागण शिव के पास पहुँचे। जगत् की रक्षा के लिये शिव उसे हथेली पर रख कर पी गये किन्तु वह विष इतना भयंकर था कि उनका भी गला उससे नीला पड़ गया[1]—

---

१. यद्यपि सामान्य परम्परा यही है किन्तु **महा०** (शान्ति ३४२।११४) में रुद्र की शितिकण्ठता के विषय में एक विचित्र तथा मनोरंजक कारण वर्णित किया है। दक्ष-यज्ञ-विध्वंस के अवसर पर दक्ष को नष्ट करने के उपरान्त क्रोध में भरे हुए शिव ने अपना त्रिशूल

अनेक विचित्र कर्मों के कर्ता एवं असामान्य आचरण वाले शिव का विषपान रूपी कर्म के लिये उपयुक्त समझा जाना स्वाभाविक ही था। **रामायण** (बाल० ४५।१८-२६), **महाभारत** (आदि० १३।२०-३०), **अग्नि पु०** (३।१-१०) तथा **भागवत** (८।७।१८-४६) आदि अनेक स्थानों पर विषपान का प्रसंग वर्णित है[1]।

> **तच्छ्रुत्वा देवदेवेशो लोकस्यास्य हितेप्सया ।**
> **अपिबत् तद् विषं रुद्रः कालानलसमप्रभम् ।**
> **यस्मात्तु नीलता कण्ठे नीलकण्ठस्ततः स्मृतः ।।**

महा० आदि० १३।२६

> **क्षीराब्धेर्मथ्यमानाच्च विषं हालाहलं ह्यभूत् ।**
> **हरेण धारितं कण्ठे नीलकण्ठस्ततोऽभवत् ।।**

अग्नि० ३।९

बदरिकाश्रम में तपस्या करते हुए नर-नारायण की ओर भी छोड़ दिया। नारायण ने उसे हुंकार से लौटा दिया। इस पर रुद्र उनकी ओर झपटे। तब नारायण ने अपने हाथों से उनका गला पकड़ लिया जिससे वे शितिकण्ठ हो गये। (बाद में दोनों देवों में सुलह हो गई)—

> **अथ रुद्र उपाधावत् तावृषी तपसान्वितौ ।**
> **तत एवं समुद्भूतं कण्ठे जग्राह पाणिना ।।**
> **नारायणः स विश्वात्मा तेनास्य शितिकण्ठता ।**

इस प्रसंग के पीछे किसी शिव-द्रोही विष्णु-भक्त का हाथ स्पष्ट दिख रहा है।

१. शिव के परम भक्त **पुष्पदन्त** ने अपने शिवमहिम्नस्तोत्र में इस प्रसंग का एक सुन्दर श्लोक में वर्णन किया है—

> **अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-**
> **विधेयस्यासीद् यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः ।**
> **स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो,**
> **विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः ।।**

—शिवमहिम्नस्तोत्र, १४।

निर्मथ्यमानाद् उदधेरभूद्विषं महोल्बणं हालहलाह्वमग्रत: ।
संभ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात् तिमिद्विपग्राहतिमिंगिलाकुलात् ॥
तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधो विसर्पदुत्सर्पदसह्यमप्रति ।
भीताः प्रजा दुद्रुवुरंग सेश्वरा अरक्ष्यमाणाः शरणं सदाशिवम् ॥
ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम् ।
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥
तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः ।
यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥

भागवत ८।७।१८, १९, ४२, ४३

उपर्युक्त उद्धरणों में शिव के जिस विषपान रूपी विचित्र कर्म का उल्लेख है वह पुराणकारों की कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान से ही समुद्भूत नहीं है। **ऋग्वेद** के एक अस्पष्ट मन्त्र में ही इसके संकेत प्राप्त होते हैं। इसके उत्तरार्द्ध में कहा गया है कि **केशी** ने **रुद्र** के साथ विषपान किया—

वायुरस्मा उपामन्थत् पिनष्टि स्मा कुनन्नमा ।
केशी विषस्य पात्रेण यद् रुद्रेणापिबत् सह ॥

ऋ० वे० १०।१३६।७

इस **केशी** का स्वरूप कुछ अस्पष्ट है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में **केशी** को अग्नि, विष, द्यावापृथिवी तथा सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाला बताया गया है और उसे ज्योति से सम्बन्धित किया गया है—

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी ।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ १०।१३६।१

निरुक्तकार का मत है इस मन्त्र में केशी का अर्थ सूर्य है। केश किरणों को कहते हैं उनसे युक्त होने के कारण सूर्य को केशी कहा जाता है।

केशी केशा रश्मयः तैस्तद्वान् भवति—
प्रकाशनाद् वा....केशीदं ज्योतिरुच्यते इत्यादित्यम् आह ।

निरुक्त १२।२५, २६

ऋ० वे० १।१६४।४४ में तीन केशियों (**त्रय केशिनः**) का उल्लेख है। इसके विषय में **यास्क** का कथन है कि अग्नि के तीनों ही रूप केशी कहलाते है (१२।२७)। **बृहद्देवताकार** का भी कथन है कि ज्वालाओं की कल्पना केश

के रूप में कर के पार्थिव अग्नि को, विद्युल्लेखाओं से युक्त होने के कारण मध्यम अग्नि को, तथा किरणों के कारण सूर्य को केशी कहते हैं। ये ही तीन केशी इस ऋचा में वर्णित हैं—

> **अर्चिभिः केश्ययं त्वग्निर्विद्युद्भिश्चैव मध्यमः।**
> **असौ तु रश्मिभिः केशी तेनैनानाह केशिनः॥**
> **एतेषां तु पृथक्त्वेन त्रयाणां केशिनामिह।**
> **संलक्ष्यन्ते प्रक्रियासु 'त्रयः केशिन' इत्यृचि॥**

बृहद्देवता १।९४, ९५

आगे शौनक कहते हैं कि रातभर दूसरे स्थान पर रहने के उपरान्त प्रातःकाल सूर्य अपनी किरणों से प्रकाश करता हुआ आकाश में जाता है अतः उसे केशी कहते हैं—

> **कृत्वा सायं पृथक् याति भूतेभ्यस्तमसोऽत्यये।**
> **प्रकाशं किरणैः कुर्वंस्तेनैनं केशिनं विदुः॥**

सायण ने भी प्रस्तुत मन्त्र के भाष्य में इस प्राचीन परम्परा का समादर किया है।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ उल्लिखित **विष** पुराणों के विष से भिन्न है। विष शब्द का अर्थ यहाँ पर गरल नहीं अपितु **जल** है। लौकिक संस्कृत में भी विष शब्द का यह अर्थ सुरक्षित है। 'विष' का जल अर्थ लेने से इस मन्त्र का भाव कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाता है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य का अपनी किरणों से पृथ्वी के जल का पान (शोषण-वाष्पीकरण) किया जाना ही यहाँ संकेतित है। किन्तु केशी द्वारा रुद्र के साथ विष (जल) पान करने का क्या तात्पर्य है? सम्भवतः रुद्र शब्द सूर्य की प्रचण्ड आग्नेय-शक्ति का वाची है। ग्रीष्मकालीन सूर्य की उग्र दाहकता शक्ति, जिससे जल का शोषण होता है, यहाँ **रुद्र** कही गई है। लौकिक संस्कृत में ग्रीष्म की प्रचण्ड धूप के लिये **रौद्र** शब्द प्रयुक्त होता है जो निश्चित रूप से इसी ओर संकेत करता है कि सूर्य के भयंकर आग्नेय-तत्त्व का रुद्र के साथ अवश्य सम्बन्ध था। अतः इस पंक्ति का मूल भाव यही प्रतीत होता है कि सूर्य ने अपनी दाहक शक्ति से पृथ्वी के जल का शोषण किया। यह अर्थ लेने पर इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध से भी अर्थ की संगति बैठ जाती है जिसमें वायु द्वारा (मेघों को) आन्दोलित किये जाने तथा केशी द्वारा पृथ्वी पर झुके हुए उन मेघों को द्रवित करने

('पिनष्टि') का उल्लेख है। इस प्रकार यह पूरा मन्त्र सूर्य के द्वारा जल-शोषण एवं वायु अथवा झंझावात की सहायता से मेघ रूपी उस जल के उमड़ने-घुमड़ने तथा वर्षण आदि की प्राकृतिक क्रिया का परिचायक है। **ऋ० वे०** ३।३३।६ एवं **निरुक्त** २।२६ तथा १०।३२ में सूर्यदेव **सविता** का भी वृष्टिप्रक्रिया से इसी प्रकार सम्बन्ध वर्णित है[1] और **ऋ० वे०** १०।९२।५ रुद्र के द्वारा जल के स्रोतों से समस्त पृथ्वी को आप्लावित कर देने का वर्णन प्राप्त होता है—**प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवः तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।** वैदिक रुद्र के 'नीलशिखण्डित्व' को देखते हुये तथा उनके 'विषपान' पर विचार करते हुए पुराणों में पल्लवित शिव के विषपान की कथा को पढ़ने पर इसके लेखकों की कल्पनाशीलता एवं उद्भावन-प्रवणता पर आश्चर्य होता है।

रुद्र का मरुत्पितृत्व

ऋग्वेद में रुद्र की एक और महत्त्वपूर्ण उपाधि है **'मरुत्पिता'** (देखिये, पीछे पृ० ४४८, ४५१, ४५७)। उनको स्थान-स्थान पर मरुतों का पिता कहा गया है (उदा०, इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः १।११४।६, तथा, आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु २।३३।१)। रुद्र ने उन्हें **पृश्नि** के गर्भ से उत्पन्न किया। रुद्र के पुत्र होने के कारण मरुतों को प्रायः **रुद्राः** अथवा **रुद्रियाः** कहा गया है (उदा० युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो १।६४।३, दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः १।८५।२) और पृश्नि के पुत्र होने के कारण **पृश्निमातरः** (अधिश्रियो दधिरे पृश्निमातरः १।८४।२)। बृहद्देवताकार ने ऋग्वेद ५।५७ के प्रारम्भिक मन्त्रों में रुद्रगण (रुद्राः) तथा मरुद्गण (मरुतः) को एक माना है—

'आ रुद्रास' इति त्वस्यां (५।५७।१) रुद्राणां संस्तुतो गणः।
मरुतां तु गणस्यैतत् नाम रुद्रा इति स्मृताः॥ बृ० दे० ५।४७

मरुतों की माता पृश्नि का स्वरूप तथा रुद्र का मरुत्पितृत्व दोनों ही स्पष्ट नहीं है। डा० यदुवंशी का मत है कि 'पृश्नि पृथ्वी है और रुद्र सूर्य। ऋग्वेद

---

१. तु० की, **बृहद्देवता** १।६८ तथा २।६ (वायु से सम्बन्धित दिव्य-अग्नि का वर्णन)—
रसान् रश्मिभिरादाय वायुनायं गतः सह।
वर्षत्येव च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृतः॥
रसादानं तु कर्मास्य.....।

में ही अग्नि से सम्बन्धित होने के कारण रुद्र का सम्बन्ध दिव्य-अग्नि (सूर्य) से हो गया है। पृथ्वी पर सूर्य की किरणों का ताप पड़ने से ही हवाओं (मरुतों) की उत्पत्ति होती है इसीलिये उन्हें सूर्य, रुद्र तथा पृश्नि का पुत्र कहा गया है'[1], पर यह बहुत तर्क-संगत नहीं लगता क्योंकि रुद्र का सूर्य से सम्बन्ध अत्यन्त निर्बल है। दोनों का तादात्म्य कभी नहीं किया गया। यदि यही बात होती तो सूर्य, सविता, विवस्वान् आदि विशिष्ट सूर्य देवों से तो मरुतों का और भी घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये था, पर ऐसा है नहीं। इसके अतिरिक्त हवाओं की उत्पत्ति का यह वैज्ञानिक कारण वैदिक ऋषियों को ज्ञात रहा हो, इसमें सन्देह है।

मैक्डॉनल का मत है कि चितकबरे रंग के मेघ ही पृश्नि कहे गये हैं[2]। यद्यपि पृश्नि की—जिसे प्रायः गो कहा गया है–यह व्याख्या बहुत अधिक सन्तोषजनक नहीं है तो भी इतना तो लगभग निश्चित है कि रुद्र का ऋग्वेद में झंझावात से जो सम्बन्ध है उसी के कारण मरुतों को रुद्र के पुत्र बना दिया गया है[3]। परवर्ती युग में जब रुद्र का स्वरूप अनेक छोटे-मोटे लौकिक देवों से घुलमिल कर अपने मूलरूप से बहुत दूर जा पड़ा तो मरुतों को रुद्र का पुत्र मानने की धारणा पूर्णतः विलुप्त हो गई। महाभारत या पुराणों में दूर-दूर तक इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। यहाँ मरुतों की माता है **दिति** और पिता हैं देवर्षि **कश्यप**। नीतिमंजरीकार **द्या द्विवेद** ने अपनी पुस्तक के ३१वें श्लोक में इस वैदिक धारणा की ओर संकेत करते हुए **कात्यायनविरचित सर्वानुक्रमणी** की **षड्गुरुशिष्यवृत्ति** से १४ श्लोक उद्धृत किये हैं। इनमें इन्द्र द्वारा ४९ भागों में खंडित दिति के गर्भ को पार्वती की प्रेरणा से शिव द्वारा ४९ मरुतों

---

१. **शैवमत**, पृ० ६। डा० यदुवंशी ने इस सम्बन्ध में श्री जी० राव नामक एक अज्ञात लेखक के मत का उल्लेख किया है।

२. **वै० मा०**, पृ० ७८, १२५, १५०।

३. मरुतों के आध्यात्मिक स्वरूप की विशद व्याख्या के लिये देखिये, एम० पी० पंडित **अदिति एण्ड अदर डीटीज इन दि वेद**, पृ० ७५-१५८। रेले ने अपने **वैदिक गॉड्स एज दि फिगर्स आफ बायॉलजी** (पृ० ५५-५७) में इनको शरीर के स्नायु माना है।

का रूप दिया जाना वर्णित है। शिव द्वारा जीवन प्राप्त करने के कारण मरुत् उनके पुत्र कहलाये।

नीतिमंजरी का श्लोक निम्न है—

दृष्ट्वा परव्यथां सन्त उपकुर्वन्ति लीलया।
दितेर्गर्भव्यथां हत्वा रुद्रोऽभून्मरुतां पिता ॥३१॥

और अन्तःकथा इस प्रकार—

यथा रुद्रो मरुतां वै पितासीत् तथेतिहासः प्रदर्श्यतेऽधुना ॥१॥

शतक्रतोरसुरारेर्वधार्थं दितिस्तु गर्भं लभते स्म भर्तुः
शुश्रूषमाणाः किल तामथेन्द्रो मायाविदामग्रणी रन्ध्रदर्शी ॥२॥

प्रकीर्णकेशी च दितिं प्रसुप्तामवेक्ष्य वज्री ह्यणुमात्ररूपः।
प्रविश्य कुक्षिं प्रबिभेद गर्भं मा रोद रोदेति वदंस्तु गर्भम् ॥३॥

भित्वा गर्भं निर्गते वै महेन्द्रे प्रबुद्धा सा रोदिति स्मार्तरूपा।
अत्रान्तरे त्वन्तरिक्षे तदासीद् जगज्जनित्री त्वखिलेशपत्नी ॥४॥

गर्भस्य मातुश्च तदार्तनादं शुश्राव चाकाशगता यदृच्छया।
सुरांगनानामवलोक्य वृन्दं कृपापरा साथ हरं ययाचे ॥७॥

एकैकमेषां लभतां शरीरं मदर्थमेतत् क्रियतां महेश।
स्युश्चैव सर्वे तरुणाः सर्वव स्वलंकृतास्ते मरुतस्तवैव ॥६॥

तथेति देवः प्रतिपन्नवाक्यो देव्या यथोक्तं प्रचकार सर्वम्।
इत्थं तु सिद्धं मरुतां पितृत्वं जगद्गुरोर्देवदेवस्य शंभोः ॥१२॥

ये श्लोक मूलतः कहाँ से लिये गये इसका मुझे अभी तक परिज्ञान नहीं हो सका है। प्राप्त पुराणों अथवा महाभारत या रामायण में ये नहीं है। बहुत सम्भव है कि स्वयं षड्गुरुशिष्य ने ही इनकी रचना की हो। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि रुद्र के मरुत्पितृत्व के सम्बन्ध में उसके सामने कोई निश्चित **पारंपरिक** धारणा नहीं थी। किसी कार्य के बिगड़ जाने पर विशेषतः किसी व्यक्ति के मर जाने पर, आकाश में भ्रमणार्थं जाते हुए शिव-पार्वती द्वारा काम का सँभाल दिया जाना या मृत व्यक्ति को पुनरुज्जीवित कर देना यह प्राचीन भारतीय साहित्य का ही नहीं, आधुनिक

ग्रामीण लोककथाओं का भी एक प्रिय अभिप्राय है। सुखमय अन्त की ओर प्रवृत्ति वाली आदर्शवादी भारतीय कथाओं में चरमबिन्दु (क्राइसिस) की स्थापना के लिये जब नायक की मृत्यु हो जाती है तो इसी प्रकार की रूढ़िगत धारणाओं द्वारा उसे जीवित करवा कर कथा को आगे बढ़ाया जाता है। **रामायण** के उत्तरकाण्ड में (४।२८, २९, ३०) शिव, **विद्युत्केश** राक्षस की पत्नी **सालकटंकटा** द्वारा छोड़े हुए, **सद्योजात** नामक बालक को हृष्ट-पुष्ट तथा माँ के समान अवस्था वाला कर देते हैं—

तयोत्सृष्टः स तु शिशुः शरदर्कसमद्युतिः।
निधायास्ये स्वयं मुष्टिं रुरोद शनकैस्तदा॥
ततो वृषभमास्थाय पार्वत्या सहितः शिवः॥
वायुमार्गेण गच्छन् वै शुश्राव रुदितस्वनम्।
अपश्यदुमया सार्धं रुदन्तं राक्षसात्मजम्॥
कारुण्यभावात् पार्वत्या भवस्त्रिपुरसूदनः।
तं राक्षसात्मजं चक्रे मातुरेव वयः समम्॥
अमरं चैव तं कृत्वा महादेवोऽक्षरोऽव्ययः॥

रामा० उत्तर० ४।२६-२९

इसी प्रकार **महा०, शान्ति** १५३।११४-११५ में भी शिव श्मशान ले जाए गये एक मृत ब्राह्मण बालक को जीवन-दान करते हैं। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पुराणकाल तक रुद्र के मरुतों के पिता होने की धारणा सुरक्षित नहीं रह सकी थी।

हाँ, इतना अवश्य है कि रामायण में रुद्र का मरुतों से थोड़ा सा सम्बन्ध अवश्य था, क्योंकि **'कृतोद्वाहं तु देवेशं गच्छन्तं समरुद्गणम्'**। (रामा० बाल० २३।१०) आदि कतिपय श्लोकों में मरुतों को शिव के परिचर रूप में चित्रित किया गया है।

षड्गुरुशिष्य ने मरुतों और रुद्र के सम्बन्ध में एक दूसरे इतिहास का भी उल्लेख किया है किन्तु यह अत्यन्त अस्पष्ट है और इससे दोनों के सम्बन्ध पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता—

अथापरे वर्णयन्तीतिहासं यथा रुद्रो मरुतां वै पितासीत्।
इमां हि गोरूपधरां तु पृश्निं वृषोऽथ भूत्वा रमयन् महेशः।
अजीजनत् मरुतः पृश्निपुत्रान् रुद्रस्य पुत्रा अपि ते बभूवुः॥

ऋ० वे० २।३३।७ में रुद्र को 'वृषभ' कहा गया है (अभि नु मा वृषभ चक्षमीथाः) और अन्य कई मन्त्रों में मरुतों की माता पृश्नि को 'गो' (प्र ये मे बन्ध्वेषे गां वोचन्त सूरयः पृश्निं वोचन्त मातरम्, ५।५२।१६) । इसी आधार पर प्रस्तुत रूपक बाँधते हुए दोनों का सम्बन्ध जोड़ा गया है ।

रुद्र के कुछ विशिष्ट अभिधान

परवर्ती साहित्य में रुद्र के लिये प्रयुक्त कुछ अन्य विशेषण भी ऋक् तथा यजुर्वेद में प्राप्त होते हैं ऋग्वेद के विशेषणों में **उग्र** तथा **ईशान** महत्त्वपूर्ण हैं । उग्र विशेषण रुद्र के लिये तीन बार प्रयुक्त हुआ है—

मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्—२।३३।११
स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो—३।३३।९
उग्रं मरुद्भी रुद्रं हुवेम—१०।१२६।५

पुराणादिकों में ईशान या ईश शब्द शिव का नियमित विशेषण है[1] । इसकी परम्परा प्राचीन है और ऋ० वे० २।३३।९ में ही यह रुद्र का एक प्रमुख विशेषण बन चुका है—

ईशानादस्य भुवनस्य भूरेः न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम् ।

रुद्र को 'अस्य भूरेः भुवनस्य ईशानः' कह कर कवि जगत् के ऊपर रुद्र की प्रभुसत्ता व्यक्त करना चाहता है । १।११४।१ तथा २ में रुद्र के लिये जो **क्षयद्वीर** विशेषण प्रयुक्त हुआ है उसका भी सम्भवतः यही भाव है । **क्षि** धातु ऐश्वर्य के अर्थ में ऋ० वे० में प्रायः प्रयुक्त हुई है (उदा० ऋ० ५।४२।११) । अतः इस शब्द का अर्थ है 'मनुष्यों पर शासन करने वाला' (तु० की, ऋ० वे० ८।१९।१०)[2] । ऋ० वे० २।१।६ तथा ५।४२।११ में उन्हें असुर अथवा शक्तिशाली भी कहा गया है । **महादेव** शब्द भी रुद्र के उत्कर्ष

---

१. तु० की०, प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिः ईशः । **अभिज्ञानशाकुन्तल**, (नान्दी) ।

२. इस शब्द के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये, म्यूर, **ओ० सं० टे०**, चतुर्थ भाग, पृ० ३०१-३०२ टिप्पणी ८ ।

का वाची है और यह उनके लिये सर्वप्रथम **अथर्ववेद** (९।७।७) में प्राप्त होता है। यहाँ स्मरणीय है कि विष्णु का वैदिक संहिताओं में इतना गौरव नहीं बढ़ा है कि उन्हें महादेव की उपाधि दी जाय। उनके उत्कर्ष का आरम्भ ब्राह्मण ग्रन्थों से होता है।

अ० वे० में ही सर्वप्रथम प्राप्त होने वाला शिव का एक प्रमुख विशेषण है **पशुपति**। यह लगभग १० स्थानों पर उनके लिये स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है—

१—य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।

अ० वे० २।३४।१

२—मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मामवतु।

अ० वे० ५।२४।१२ आदि

रुद्र का पशुओं से विशेष सम्बन्ध क्यों है इसका समुचित समाधान अभी तक नहीं हो सका है। मैक्डानल का मत है कि अधिकतर घर के बाहर खुले गोष्ठ में रहने या खेतों में चरने के कारण पशुओं पर बिजली गिरने की अधिक सम्भावना होती है। प्रारम्भिक वैदिक संहिताओं में इसीलिये विद्युत्-रूपी रुद्र से उनकी रक्षा करने की प्रार्थना है और इस प्रकार धीरे-धीरे रुद्र की पशुओं के सामान्य रक्षक के रूप में प्रतिष्ठा हो गई है[1]।

पर यह मत सन्तोषजनक नहीं जान पड़ता क्योंकि रुद्र चार पैर वाले ही नहीं दो पैर वाले पशुओं (मनुष्यों) के भी अधिपति कहे गये हैं, जैसा कि ऊपर उद्धृत मन्त्र (अ० वे० २।३४।९) से स्पष्ट है। **अ० वे०** ११।२।१ तथा अन्य स्थानों में उन्हें पशुपति के साथ-साथ **भूतपति** भी कहा गया है। वस्तुतः झंझावात और वृष्टि से सम्बन्ध होने के कारण रुद्र को पशुओं तथा मनुष्यों

---

१. **वै० मा०**, पृ० ७५ तथा **शैवमत**, पृ० ९। परवर्ती शैवदर्शन में 'पशु' शब्द पाशयुक्त जीव का वाची है। 'पशुपति' की अवधारणा पर एक गवेषणापूर्ण उत्कृष्ट शोध कार्य १९७६ में डा० होफ़श्टैटर (Hofstetter) ने फ्राईबुर्ग वि० वि० (प० जर्मनी) से किया है। यह पुस्तक *Herr der Tiere* नाम से Freiburger Beitraege zur Indologie नामक ग्रन्थमाला में Otto Harrassowitz द्वारा Wiesbaden से प्रकाशित है।

का स्वामी माना जाना स्वाभाविक है क्योंकि वृष्टि से ही पशुओं के लिये घास आदि चारा और मनुष्यों के लिये अन्न उत्पन्न होता है। पर रुद्र की यह भूतपति उपाधि आगे चल कर रुद्र को भूतों तथा प्रेतों का अधिपति बनाने में बड़ी सहायक होती है।

शुक्ल यजुर्वेद में हमें रुद्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषण प्राप्त होता है—**त्र्यम्बक। वा० सं०** ३।६० में वह प्रसिद्ध मन्त्र प्राप्त होता है जिसे बाद में **महामृत्युञ्जय मंत्र** की संज्ञा मिली। इसी में यह विशेषण आया है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

श० ब्रा० का मत है कि रुद्र की **अम्बिका** नामक एक बहन है। उस स्त्री-अम्बिका से सम्बन्धित होने के कारण रुद्र को 'स्त्र्यम्बक' या 'त्र्यम्बक' कहते हैं—

अम्बिका ह वै नाम अस्य स्वसा तया अस्यैष सह भागः तद् यदस्यैष स्त्रिया सह भागः तस्मात् स्त्र्यम्बको नाम।

श० ब्रा० २।६।२।९

सायण इस पर लिखते हैं—

स्त्रीरूपी-अम्बिका सम्बन्धाद् रुद्रस्यैते पुरोडाशा आदिवर्ण-लोपेन त्र्यम्बका इत्याख्यायन्ते।

किन्तु वस्तुतः इस शब्द की यह व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। **अम्बा** का अर्थ है माता। अतः इस शब्द का मूल अर्थ 'तीन माताओं वाला' (तिस्रः अम्बाः यस्य) प्रतीत होता है। ऋग्वेद में पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश, अग्नि के ये तीन जन्मस्थान (माताएँ) माने गये हैं। अतः बहुत सम्भव है कि यह विशेषण मूलतः अग्नि को सूचित करता रहा हो और बाद में अग्नि और रुद्र के ताद्रूप्य के कारण रुद्र से सम्बन्धित हो गया हो[1]। किन्तु **अम्बक** शब्द का एक अर्थ नेत्र भी होता है अतः धीरे-धीरे रुद्र के इस विशेषण से

---

१. देखिये, ग्रासमान, **ऋग्वेद का अनुवाद**, प्रथम भाग, पृ० ५५५। मेक्डॉनल, **वै० मा०** पृ० ७४। यदुवंशी, **शैवमत** पृ० १७।

उनके तीन नेत्र होने की धारणा परवर्ती काल में विकसित हो गई। परवर्ती साहित्य में शिव के ये तीन नेत्र सूर्य, चन्द्र तथा अग्निमय बताये गये हैं। **बृहत्स्तोत्ररत्नाकर** (निर्णयसागर, बम्बई) में संकलित **वेदसारशिवस्तवः** में शिव को सूर्य-चन्द्र एवं अग्नि रूपी तीन नेत्रों से युक्त बताया गया है—

विरूपाक्षमिन्द्वर्कवह्नित्रिनेत्रं, सदानन्दमीडे प्रभुम्''''।

सृष्टि के विनाश से सम्बन्धित होने के कारण रुद्र के इस तृतीय वह्निमय नेत्र का कार्य प्रलयकाल में विश्व का विनाश निर्धारित कर दिया गया।

महा० अनु० १४०।२६ में एक कथा है कि एक बार पार्वती ने परिहास में पीछे से आकर शिव की दोनों आँखें बन्द कर दीं किन्तु सूर्य-चन्द्र रूप उन नेत्रों के बन्द होने से सम्पूर्ण जगत् में अंधेरा छा गया अतः उनके मस्तक में स्वतः एक अग्निमय नेत्र प्रकट हो गया।

रुद्र के स्वरूप के विभिन्न तत्त्वों की व्याख्या एवं उनमें सामंजस्य करने की भावना ने विद्वानों को भाँति-भाँति की कल्पनाएँ और अनुमान उपन्यस्त करने के लिये प्रेरित किया है। सबसे जटिल समस्या यही है कि परवर्ती साहित्य में इनके व्यक्तित्व में घोर और मांगलिक दोनों ही प्रकार के तत्त्व प्राप्त होते हैं। रुद्र (भयानक) और **शिव** (कल्याणकारी) ये दो शब्द ही इन विरोधी विचारधाराओं के सूचक है। एक ओर तो वे विश्व के संहारक हैं और प्रत्येक उत्पन्न प्राणी के विनाश तथा जगत् की सामूहिक प्रलय के उत्तरदायी हैं साथ ही दूसरी ओर वे **आशुतोष** भी हैं जो जरा सी भक्ति से प्रसन्न होकर अपने भक्तों को सर्वस्व प्रदान करते हैं। अंग्रेज विद्वान् क्लेटन[1] का मत है कि रुद्र आर्यों के देवता हैं और शिव अनार्यों के। ऋग्वेद के समय तक आर्य अपने धार्मिक विचारों में स्वतन्त्र थे। किन्तु धीरे-धीरे अनार्यों के संपर्क के कारण उनके देवता आर्य-देवमंडल में प्रविष्ट होने लगे। इस प्रक्रिया में अनार्यों के कल्याणकारी-देवता **शिव** एवं आर्यों के संहारक-देवता रुद्र का तादात्म्य होने लगा और शनैः शनैः इस संयुक्त देवता का महत्त्व बढ़ता गया। **वा० सं०** ३।६१ तथा ३।८३ में रुद्र के साथ आया हुआ 'शिव' विशेषण उस समय तक संपन्न दोनों के तादात्म्य को सूचित करता है। क्लेटन

---

१. ए० सी० क्लेटन, **ऋग्वेद एण्ड वैदिक रिलीजन** : मद्रास १९१३।

ने शिव को वैदिक भाषा का शब्द नहीं माना है। उसके अनुसार यह द्रविड भाषा की **से** या **सेव्** जैसी किसी धातु से बना है जिसका अर्थ है 'लाल (या भूरा) होना' और इस प्रकार यह रुद्र के **बभ्रु** विशेषण का पर्याय-वाची है[1]।

क्लेटन का मत सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रुद्र के ऋग्वैदिक स्वरूप में ही भीषण तथा सौम्य दोनों ही रूपों का समावेश था। ग्रिसवोल्ड का यह विचार कि भयंकर एवं विनाशकारी रुद्र से डरकर उनकी चाटुकारी करते हुए वैदिक कवि उन्हें **मील्हुष्** (मीढ्वान्) या उदार और **सौम्य** आदि बताते हैं,[2] भी समीचीन नहीं है। वात्या एवं वर्षा आदि से सम्बन्धित किसी भी देवता के चरित्र में ऐसे विरोधी तत्त्वों का होना अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि एक ओर तो जहाँ उसमें झंझावात की प्रचण्डता (विशेषतः शिशिरऋतु में) तथा तडित्पात आदि दुःखदायी तत्त्व रहते हैं वहीं ओषधियों तथा धन-धान्यादि की वृष्टि में भी वह कारण है। 'शिव' शब्द रुद्र के लिये ऋग्वेद में ही प्राप्त होता है, इससे इस धारणा का पूर्णतः निरसन हो जाता है कि शिव शब्द द्रविड भाषा की से धातु से बाद में गढ़ा जा कर आर्य भाषा में लिया गया—

स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदेष्टन ।
येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः ॥

ऋ० १०।९२।९

उपर्युक्त मन्त्र से यह सिद्ध है कि रुद्र के शिव या मंगलमय होने की धारणा प्राचीन है और किसी आर्येतर देवता के रुद्र से तादात्म्य का परिणाम नहीं है। साथ ही यह 'शिव' विशेषण रुद्र के लिये बहुशः प्रयुक्त होने पर भी अथर्ववेद तक अन्य देवों के लिये भी आया है[3] जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह वैदिक भाषा का एक प्राचीन सामान्य विशेषण है और इसका प्रयोग रुद्र के लिये ही सीमित नहीं है।

---

१. वही, पृ० ७६।

२. ग्रिसवोल्ड, **वही रिलीजन आफ् दि ऋग्वेद**, पृ० २९३।

३. देखिये, मैक्डानल, **वै० मा०**।

रुद्र-शिव के स्वरूप में लोक विश्वास की अभिव्यक्ति

यद्यपि रुद्र के व्यक्तित्व में आर्येतर या द्रविड सम्मिश्रण के कोई भी निश्चित प्रमाण नहीं मिलते फिर भी पौराणिक शिव वैदिक रुद्र के ही स्वाभाविक विकास नहीं हैं। उनका स्वरूप अनेक प्रकार के लोक-विश्वासों एवं जन-सामान्यगत धार्मिक-परम्पराओं से परिबृंहित हुआ है।

ऋग्वेद अपने समय के धार्मिक विश्वासों का पूर्ण प्रतिनिधि नहीं है। उसकी रचना विशेष रूप से ब्राह्मण-पुरोहितों द्वारा हुई है अतः वह एक ऐसे वर्ग-विशेष के धार्मिक विचारों का दर्पण है जो पौरोहित्य, कर्मकाण्ड तथा विभिन्न प्रकार के उच्च-देवताओं में विश्वास रखता था। प्रत्येक युग में अभिजात तथा सामान्य वर्ग की धार्मिक विचारधारा में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य विद्यमान रहता है। भारत में आज भी ग्रामवासी तथा वनवासी जन विष्णु या शिव की अपेक्षा प्रायः अपने स्थानीय देवी-देवताओं तथा भूत-प्रेतों में अधिक विश्वास रखते हैं। गृह्यसूत्रों से स्पष्ट है कि ऐसे विविध देवी-देवता वैदिक काल में भी मान्य थे। गृह्यसूत्रों में जिन **विनायकों** का उल्लेख मिलता है वे लोक-विश्वास के अभद्रदर्शन किन्तु शक्तिशाली देवता थे जिनका प्रमुख कार्य माङ्गलिक कार्यों में विघ्न डालना या बनते हुए कार्य को बिगाड़ना था। अतः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य को प्रारम्भ करते समय इनका प्रसान्त्वन आवश्यक माना जाता था। लोक-विश्वास की धार्मिक प्रवृत्ति आज भी श्रद्धा की अपेक्षा भय से अधिक उत्पन्न होती है। यह एक रोचक तथ्य है कि इन निम्न स्तर की लौकिक दैवी-शक्तियों में देवत्व और दानवत्व दोनों के तत्त्व मिले रहते हैं। लौकिक विश्वास इन दोनों में कभी अन्तर नहीं करता। उसके देवता शक्तिशाली तथा भयानक होते हैं। यदि उनका पूजन न किया जाय और विशेष समय तथा स्थान पर उनके लिये बलि आदि न प्रदान की जाय तो मनुष्य को अनेक कठिनाइयों एवं अमंगलों का सामना करना पड़ता है, किन्तु उनके प्रसन्न हो जाने पर उपासक के प्रत्येक अभीष्ट मनोरथ पूर्ण हो सकते हैं। आज भी लौकिक विश्वास के भूत, बरम (ब्रह्मराक्षस), जक्ख (यक्ष) एवं काली-माई, नागदेवता आदि अतिमानवीय शक्तियों के स्वरूप में ऐसे ही विरोधी तत्त्वों का विचित्र समावेश प्राप्त होता है। **मानव-गृह्य-सूत्र** (२।१।४) में वैदिक काल के लौकिक विश्वास के ऐसे चार 'विनायकों' का उल्लेख प्राप्त होता है—शालकटंकट, कूष्माण्ड, डस्मित तथा देवयजन। जिन मनुष्यों पर इनका प्रकोप है वे पागलों की तरह आचरण

करते हैं। उनको दुःस्वप्न दिखाई पड़ते हैं और ऐसा लगता है मानों कोई उनका पीछा कर रहा हो। इनके कोप से ग्रस्त कन्यायों को वर प्राप्त नहीं होते, विद्यार्थियों को विद्या नहीं प्राप्त होती, विवाहिता पुत्र से वंचित रह जाती हैं और वणिकों को व्यापार में हानि होती है। जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा पौरणिक युग के विघ्नेश्वर, हस्तिमुख, शिव के पुत्र, **गणेश** भी इन्हीं विनायकों के विकसित एवं परिष्कृत रूप हैं।

रुद्र को छोड़ कर अन्य किसी वैदिक देवता में अमंगल करने या हानि पहुँचाने वाले तत्त्व प्राप्त नहीं होते। शेष सभी देवता प्रायः उदार तथा दयालु हैं। वैदिक ऋषि विविध प्रकार की स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करके अपना कार्य सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु अपनी स्तुति न करने वाले के प्रति न तो वे अप्रसन्न होते हैं और न ही उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाते हैं। स्तोता उनकी स्तुति अपने ही लाभ के लिये करता है। वे सब मंगलमय तथा कल्याणकारी हैं।

अपने इसी विशेष स्वरूप के कारण वैदिक देवमण्डल में रुद्र अन्य देवों से भिन्न एक विशेष व्यक्तित्व रखते थे। उनका यह व्यक्तित्व लोकविश्वास के देवताओं से अधिक मिलता था। अतः धीरे-धीरे कर्मकाण्ड के क्षेत्र से हट कर सामान्य निम्नवर्गीय लौकिक क्षेत्र में उनकी लोकप्रियता बढ़ने लगी। इसमें एक मुख्य कारण यह भी था कि आर्यों के उच्च वर्ग के द्वारा विहित वैदिक कर्मकाण्ड में रुद्र का महत्त्व नहीं के बराबर था। किसी भी प्रमुख यज्ञ में उन्हें मुख्य भाग नहीं दिया जाता था और उनके तथा अन्य देवों के बीच एक विशेष प्रकार की पार्थक्य भावना विद्यमान थी। इसका परिणाम यह हुआ कि रुद्र का स्वरूप वैदिक पुरोहितों के हाथ में जकड़ा नहीं रह सका। वह स्वतन्त्र रूप से लौकिक देवों के साथ में सम्मिश्रित होकर परिवर्तित एवं परिवर्द्धित हुआ तथा लोकविश्वासों से युक्त होकर उत्तरोत्तर विकसित होता रहा। यही कारण है कि परवर्ती वैदिक युग में कर्मकाण्ड के महत्त्व के क्षीण होने पर जहाँ इन्द्र, वरुण आदि महान् दैवी शक्तियाँ भी तिरस्कृत होकर अपना महत्त्व खो बैठीं वहीं रुद्र का महत्त्व अनुदिन बढ़ता ही रहा और महाकाव्यों तथा पुराणों के काल तक आते-आते वे जगत् की सर्वोच्च शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

अथर्व-एवं यजुर्वेद में रुद्र, भव तथा शर्व

लोक-विश्वास के देवों तथा धार्मिक मान्यताओं से संयुक्त होकर वैदिक

रुद्र के स्वरूप में एक तीव्र परिवर्तन आना स्वाभाविक था और यह परिवर्तन शुक्ल यजुर्वेद तक आते-आते बहुत स्पष्ट हो उठता है। **अथर्ववेद** ऋक् तथा यजुः के बीच में अवस्थित है। यह वेद आभिजात्य-वर्ग के कर्मकाण्डीय तथा निम्नवर्ग के लौकिक विश्वासों का विचित्र सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है। रुद्र के ही स्वरूप से मिलते-जुलते **भव** और **शर्व** नामक दो देवों का वर्णन इसमें प्राप्त होता है। **श० ब्रा०** का कथन है कि अग्नि के अशान्त (घोर) रूप को ही भारत के पूर्व की ओर (बिहार आदि में) रहने वाले 'शर्व' नाम से और पश्चिम की ओर (पंजाब तथा आगे) रहने वाले 'भव' नाम से पूजते हैं—

> **अग्निर्वै स देवः तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीका तानि अशान्ततराणि एव इतराणि नामानि ।**
>
> श० ब्रा० १।७।३।१८

अथर्ववेद के एक प्रारम्भिक सूक्त (४।२८) में भव और शर्व का साथ-साथ स्तवन है। इन मंत्रों में दोनों को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी कहा गया है (यौ विदितौ इषभृताम् असिष्ठौ, मंत्र २)। पास से पास और दूर से दूर रहने वाली वस्तुएँ उनके अधिकार में है (ययोरभ्यध्व उत यद् दूरे चित्, वही)। विशेष रूप से वे मनुष्यों तथा पशुओं के अधिपति हैं (यौ अस्य ईशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदः)। रुद्र को भी अ० वे० १।३४।१ में द्विपदों और चतुष्पदों का अधिपति कहा गया है। इसी सूक्त के तृतीय मंत्र में भव और शर्व को **सहस्राक्षौ** कहा गया है जो संभवतः इन शक्तिशाली देवों की सर्वज्ञता को सूचित करता है। **अ० वे०** ११।२।३, ७ में रुद्र को भी 'सहस्राक्ष' कहा गया है। भव और शर्व के रोष से कोई नहीं बच सकता, चाहे वह मनुष्य हो या देवता (ययोर्वधात् नापपद्यते कश्चन अन्तर्देवेषु उत मानुषेषु, मंत्र ५)। षष्ठ तथा सप्तम मंत्रों में उनसे आभिचारिक मंत्रों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों तथा राक्षसों और पिशाचों को अपने वज्र से नष्ट करने की प्रार्थना की गई है (यः कृत्याकृत् मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्रमुग्रो, सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी)। चतुर्थ मंत्र में कहा गया है कि भव और शर्व साथ-साथ ही प्रत्येक कार्य करते हैं (यावारेभाथे बहु साकमग्रे)।

स्पष्ट है कि भव और शर्व दोनों उपर्युक्त सूक्त में रुद्र से पृथक

तथा परस्पर स्वतंत्र दो देवताओं के रूप में वर्णित हैं[1]। किन्तु दोनों के स्वरूप में अधिकांश तत्त्व ऐसे हैं जो रुद्र से मेल खाते हैं। और यदि हम श० ब्रा० के कथन पर विश्वास करें तो दोनों ही रुद्र की भाँति अग्नि के घोर रूप के परिचायक है। अतः इन दोनों का रुद्र से तादात्म्य हो जाना स्वाभाविक था। अ० वे० का १०।२ सूक्त भी इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सूक्त में भव, शर्व और रुद्र तीनों का साथ-साथ उल्लेख हुआ है और तीनों की ही एक समान विशेषताएँ वर्णित की गई हैं। भव और शर्व के लिए प्रथम मंत्र में ही **भूतपती** तथा **पशुपती** विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। इकतीस मंत्रों के इस संपूर्ण सूक्त में इन देवताओं से अपनी तथा अपने संबन्धियों एवं पशु आदि की रक्षा करने; खुले बालों से युक्त, चीखने वाली चुड़ैलों एवं राक्षसों को दूर करने; कल्याण करने तथा अपने बाण एवं वज्र आदि का दुष्टों पर प्रयोग करने की प्रार्थना की गई है। किन्तु जो विशेष बात इस सूक्त में ध्यान आकृष्ट करती है, वह है शर्व तथा रुद्र का तादात्म्य। यद्यपि कई मंत्रों में भव और शर्व का साथ साथ उल्लेख हुआ है (उदा० भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्। भवाय च शर्वाय च उभाभ्यामकरं नमः, १ तथा १६)। किन्तु निम्नलिखित कुछ मंत्र ऐसे हैं जिनमें भव के साथ रुद्र का उल्लेख हुआ है। ऐसे मंत्रों में शर्व का उल्लेख बिल्कुल नहीं है—

(१) क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भवरोपयः।
नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥३॥

(२) भवारुद्रौ सयुजा संविदानौ उभौ उग्रौ चरतौ वीर्याय ॥१४॥

बहुत से स्थानों में प्रथम मंत्र भव के लिए तथा द्वितीय रुद्र के लिए कहा गया है। शर्व शब्द का शरु (बाण, शल्य; तु० की०, दिवानक्तं शरुमस्मद् युयोतम्, ऋ० ७।७१।१) शब्द से संबन्ध भुलाना कठिन है। इस रूप में प्रारम्भ में संभवतः यह रुद्र के विद्युत् रूपी बाण या वज्र का सूचक था।

---

१. अ० वे० के प्रस्तुत (११।६।९) मंत्र में भी पशुपति-रुद्र का भव और शर्व से पृथक् एक स्वतंत्र देवता के रूप में उल्लेख है—

भवाशर्वाविदं ब्रूमो, रुद्रं पशुपतिश्च यः।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥

भव शब्द में ऐसा संहारात्मक भाव नहीं है । अतः तादात्म्य की प्रक्रिया शर्व देवता से प्रारम्भ हुई जो इस सूक्त में प्रतिबिम्बित है[1] । यजुर्वेदीय **शतरुद्रिय** में तो भव और शर्व दोनों ही रुद्र के विशेषण बन चुके है ।

अथर्ववेद में रुद्र की सामान्यतः वे ही विशेषताएँ विकसित हुई हैं जिनका उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है । हाँ, रुद्र का मानवीकरण ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक पूर्ण है । उनके मुख, आँखें, त्वचा, रूप, उदर, जिह्वा, दाँत तथा नासिका आदि का उल्लेख हुआ है (अ० वे० ११।२।५,६) । **सहस्राक्ष** विशेषण उनकी वरुण की भाँति मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों का अवलोकन करने की क्षमता को व्यक्त करता है । रुद्र का बाण मनुष्यों के अंगों तथा हृदय में प्रविष्ट हो जाता है (अ० वे० ६।९०।१) । स्तुतिकर्त्ता उससे सदा भमभीत रहता है । अतः वह रुद्र से प्रार्थना करता है कि वे उसके शत्रुओं, कृपणों तथा राक्षस-पिशाचादिकों का वध करें (११।२।२६) । रुद्र की ओषधियों का भी उल्लेख किया गया है और साथ ही स्वयं रुद्र का भी ज्वर तथा व्याधिनाश के लिए आह्वान किया गया है (६।२०।२,६।५७।१,१९।१०।६) ।

व्रात्य

किन्तु कुछ अंशों में **अथर्ववेद** रुद्र के विषय में महत्त्वपूर्ण संकेत देता है । इसका पंचदश काण्ड **व्रात्यकाण्ड** नाम से प्रसिद्ध है । **व्रात्य** नाम से अनेक आध्यात्मिक अर्थों की व्यञ्जना इस काण्ड के विविध सूक्तों में प्राप्त होती है । साथ ही अनेक सूक्तों में व्रात्य का रुद्र से घनिष्ठ सम्बन्ध वर्णित किया गया है । प्रथम सूक्त के चौथे तथा पाँचवें मंत्रों में ही कहा गया है कि "व्रात्य बढ़ा, वह महान् हुआ और महादेव बन गया", "उसने देवों के ऊपर आधिपत्य (ईशा) स्थापित कर लिया और ईशान बन गया"—

---

१. शर्व और रुद्र के इस सम्बन्ध को न समझते हुए डा० यदुवंशी ने लिखा है कि इस सूक्त में भव और शर्व शब्द रुद्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं (**शैवमत**, पृ० १०) । किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है । यहाँ केवल शर्व और रुद्र का ही तादात्म्य है भव और रुद्र का नहीं । भव का स्वतंत्र एवं स्पष्ट उल्लेख है जब कि शर्व शब्द कभी रुद्र के साथ नहीं आया । हाँ, **अ० वे०** १५।५ से अवश्य प्रतीत होता है कि रुद्र के साथ भव तथा शर्व का तादात्म्य हो चुका था ।

सः अवर्धत स महानभवत् स महादेवः अभवत् ।
स देवानाम् ईशां पर्यैत् स ईशानः अभवत् ।

सप्तम तथा अष्टम मंत्रों में रुद्र की भाँति व्रात्य को भी **नील-लोहित** बताया गया है[1]। इन रूपों से वह अप्रिय व्यक्तियों तथा शत्रुओं का वध करता है, ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं—

नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ।
नीलेनैव अप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥

पंचम सूक्त में रुद्र का व्रात्य से और भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहाँ रुद्र के विभिन्न रूपों भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, महादेय तथा ईशान को व्रात्य का अनुष्ठाता बताया गया है। रुद्र के ये विविध रूप व्रात्य की सभी दिशाओं में रक्षा करते हैं।

व्रात्य शब्द के अर्थ का ठीक-ठीक निश्चय अभी तक नहीं हो सका है[2]। किन्तु ऐसा लगता है कि व्रात्य एक विशेष प्रकार का यायावर या परिव्राजक वर्ग था[3] जो वैदिक कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं करता था। उनमें संभवतः

---

१. कालिदास ने भी अभिज्ञानशाकुन्तल के भरतवाक्य में (जो संभवतः उनकी अन्तिम कृति का अन्तिम वाक्य है) शिव के लिए **नीललोहित** अभिधान प्रयुक्त किया है और उनसे अपना पुनर्जन्म नष्ट करने की प्रार्थना की है—

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ।

२. व्रात्य शब्द के आध्यात्मिक अर्थ तथा इस काण्ड के मंत्रों की दार्शनिक व्याख्या के लिये देखिये, डा० सम्पूर्णानन्द : **व्रात्य काण्ड ऑफ अथर्ववेद**, मद्रास ।

३. मेरी दृष्टि से इन व्रात्यों को अनार्य जाति का मानने का कोई कारण नहीं है जैसा कि ए० एन० घोष (**इंडो आर्यन लिटरेचर एण्ड कल्चर : ओरिजिन्स**), करमारकर (**रिलीजन्स आफ् इंडिया**, प्रथम भाग) तथा यदुवंशी आदि ने प्रतिपादित करने की चेष्टा की है।

ब्रह्मविद्या या वे दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित थे जिनका बाद में उपनिषदों में विकास हुआ। यह भी पूर्ण संभव है कि ये योगशास्त्र या ध्यान, समाधि आदि में निपुण रहे हों। वैदिक कर्मकाण्ड से पृथक् एवं लौकिक क्षेत्र में पूज्यमान-देव **रुद्र** को उन्होंने सम्भवतः अपने इष्ट-देव के रूप में स्वीकार कर लिया था। यदि ऐसा ही है तो एक ओर तो हम **श्वेताश्वतर-उपनिषद्** तथा बाद में **पाशुपत-दर्शन** में जगत् के आदिकारण के रूप में मान्य रुद्र के उत्कर्ष की व्याख्या कर सकते हैं और दूसरी ओर उनके 'योगीश्वरत्व' (तु० की०, योगीश्वरं शिवं वन्दे) तथा योग आदि रहस्यमय गूढ़ विद्याओं के अधिष्ठातृत्व की।

जो हो, कम से कम इतना तो निश्चित है कि अथर्ववेद के समय रुद्र की ब्राह्मणधर्म से इतर लौकिक वर्गों में लोकप्रियता धीरे-धीरे बढ़ रही थी। केवल उन्हीं के लिये प्रयुक्त **महादेव** विशेषण (अ० वे० ९।७।७) उनकी इस महत्ता का विशेष परिचायक है।

त्र्यम्बक होम और अम्बिका

लौकिक क्षेत्र में रुद्र के इस महत्त्व के परिणाम **यजुर्वेद** में परिलक्षित होते हैं। त्र्यम्बक-होम कृष्ण तथा शुक्ल यजुर्वेद में राजसूय यज्ञ से सम्बन्धित कर्मकाण्ड का एक प्रमुख अंग है (**तै० सं०** १।८।६, **कठ०** से ९।७ **कपि० सं०** ८।११, **मै० सं०** १।१०।४ तथा **वा० सं०** ३।५७,६१)। इस क्रिया में घर के सभी व्यक्तियों की रक्षा के लिये उनकी संख्या से एक अधिक (परिवार में नवागन्तुक के लिये) पुरोडाश रुद्र को अर्पित किये जाते हैं। इन पुराडाशों को एक डलिया में बन्द करके उत्तर दिशा की ओर जाकर किसी वृक्ष से बाँध दिया जाता है। साथ ही उत्तर-पश्चिम की ओर किसी चतुष्पथ पर जाकर दाक्षिणात्य अग्नि से प्रवर्तित अग्नि में भी **रुद्र** तथा **अम्बिका** को भाग दिया जाता है। इस अंश में निम्नलिखित वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) **एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थ, आखुस्ते रुद्र पशुस्तं जुषस्व।**

(२) **एष ते रुद्र भागः सह स्वस्रा अम्बिकया तं जुषस्व, भेषजं गवे अश्वाय पुरुषाय अथो अस्मभ्यं भेषजं सुभेषजं यथा असति। अवं अम्ब रुद्रमदिमह्यवदेवं त्र्यम्बकम्। यथा नः श्रेयसः करद् यथा नो वस्यसः करद् यथा नः पशुमतः करद् यथा नो व्यवसायात्।**

(३) **एष ते रुद्र भागस्तं जुषस्व तेनावसेन परो मूजवतः अतीहि।**

अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः ॥
(अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन् नः शिवः अतीहि । वा० सं० ३।६१)
—तै० सं० १।८।६

द्वितीय उद्धरण में रुद्र को उनका भाग देने के उपरान्त उनसे पशुओं तथा मनुष्यों को अपनी ओषधियों से नीरोग करने के अतिरिक्त, कल्याण करने, धन प्रदान करने, पशुयुक्त बनाने तथा बलशाली करने की प्रार्थना की गई है । ये सब तो रुद्र की प्राचीन विशेषताएं हैं किन्तु उपर्युक्त उद्धरणों के पर्यालोचन से रुद्र के सम्बन्ध में चार मुख्य प्रश्न उभरते हैं । पहला तो यह कि यहाँ **मूषक** को रुद्र का पशु क्यों बताया गया है ? दूसरा यह कि यह **अम्बिका** कौन है जिसे 'रुद्र की बहन' और मनुष्यों की माता (संबोधन **अम्ब**) बताया गया है ? इसके अतिरिक्त रुद्र को **कृत्तिवासा** या खाल पहनने वाला क्यों कहा गया है और अन्ततः उनसे अपने धनुष (पिनाक) की प्रत्यञ्चा उतार कर उत्तर में **मूजवत्** पर्वत के पीछे भाग जाने की क्यों प्रार्थना की गई है ?

त्र्यम्बक होम में रुद्र का जो स्वरूप है उससे इतना निश्चित है कि यज्ञकर्ता को यज्ञ में रुद्र की उपस्थिति अभीष्ट नहीं थी और इसका कारण था संभवतः उनका क्रूर तथा अनुदार स्वभाव । भयभीत होते हुए यजमान रुद्र के भाग को ले जाकर वल्मीक पर डाल देता है अथवा वृक्ष पर बाँध देता है । इसका उद्देश्य भी स्पष्टतया यही है कि रुद्र को दूर ही रखा जाए । यज्ञमण्डप अथवा आवास के निकट आकर कहीं रुद्र यज्ञ में विघ्नादि न करें अथवा परिवार में किसी को नष्ट न करें । **श० ब्रा०** २।६।२।१० का कथन है कि रुद्र के वाहन के रूप में मूषक को इसलिये निर्दिष्ट किया जाता है कि यदि किसी अन्य पशु को उनका वाहन बताया जायेगा तो वह रुद्र के संपर्क के कारण नष्ट हो जायेगा—

तदस्मा आखुमेव पशूनामुपदिशति । तेनो इतरान् पशून् न हिनस्ति ।

(पशूनां मध्ये आखुमेव पशुत्वेन उपदिशति । तेन कारणेन इतरान् नृगवाश्वादीन् पशून् न हिनस्ति, **सायण**)

रुद्र का पशु परवर्ती देवशास्त्र में उनके पुत्र **गणेश** का वाहन बन गया है । आगे हम देखेंगे कि गणेश (विनायक) के रूप में गणेश और रुद्र प्राचीन काल में एक ही देवता थे । बाद में गणेश का व्यक्तित्व रुद्र से स्वतंत्र होकर

विकसित होने लगा अतः ऐसी विशेषताओं का पारस्परिक आदान-प्रदान असम्भव नहीं है। इस होम में रुद्र का भयानक रूप इतना प्रबल है कि उनके पुरोडाशों को इस भय से घृत से लिप्त नहीं किया जाता कि उससे उस पशु की हानि होगी जिसके दुग्ध से वह घी बना है।

अभिमानको ह रुद्रः पशूनत्स्याद् यदञ्ज्यात् तस्मादनक्ता एव स्युः।

श० ब्रा० २।६।२।६

वैदिक भारत में **मूजवत्** पर्वत की स्थिति उत्तर की ओर थी। यह दिशा ब्राह्मण ग्रन्थों में निरन्तर रुद्र की आवासभूमि बताई गई है (उदा० **कौषी० ब्रा०** २।२)। इसीलिये रुद्र को बलि आदि उत्तर दिशा की ही ओर दी जाती है। **श० ब्रा०** का कथन है कि रुद्र प्रायः मूजवत् पर्वत के उस पार ही (पर्वतों पर) विचरण करते हैं, इसीलिये उनको वहाँ जाने को कहा गया है—

अत्र ह वा अस्य परो मूजवद्भ्यश्चरणम्।
तस्मादाह परोमूजवतः अतीहि ॥

श० ब्रा० २।६।२।१७

लगता है रुद्र का विशेष आवास पर्वतों पर ही माना जाता था। यजुर्वेद की **शतरुद्रिय** में उनके लिये **गिरिशन्त, गिरित्र, गिरिचर, गिरिश** तथा **गिरिशय** विशेषण आते हैं। परवर्ती देवशास्त्र में भी शिव का विशेष निवास-स्थान **कैलास** (श) पर्वत है। भारत की उत्तरी सीमा में पर्वतों के आधिक्य के कारण रुद्र को उत्तर-दिशा (या ईशान-कोण) का विशेष अधिपति बताया गया है।

उनका **कृत्तिवासस्** विशेषण सूचित करता है कि उनका तादात्म्य किरात आदि किसी वनेचर जाति के देवता से अवश्य हो चुका था जो स्वयं भी संभवतः खाल के वस्त्र धारण करती थी। शिव का यह विशेषण बाद में गजासुर या **अन्धक**-वध की कथा का आधार बना है। **कूर्मपुराण** (पूर्वभाग, अध्याय ३२) में एक कथा आती है जिसमें कहा गया है कि शिव ने गजासुर को मार कर उसकी खाल ओढ़ना प्रारम्भ कर दिया[1]; पुराणों में इसी कारण

---

१. तु० की०—

(क) विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा।

कुमारसम्भव ५।७८

प्रायः शिव को गजचर्मधारी कहा गया है। इसके अतिरिक्त **लिंग पुराण** में उन्हें 'व्याघ्रचर्मधारी' भी कहा कहा गया है और इस संबन्ध में उसमें एक कथा वर्णित है (पूर्वार्द्ध ९२।८०)। **शिव पुराण** में शिव के द्वारा **शरभावतार** लेकर नृसिंह का वध करके उनकी खाल पहनने का भी उल्लेख है (उत्तर० शतरुद्रिय सं० १२।३६)।

त्र्यम्बक होम में अम्बिका नामक देवी से रुद्र का संबन्ध यह सूचित करता है कि रुद्र का अन्य लौकिक देवी-देवताओं से भी संबन्ध तीव्रता से बढ़ रहा था। ये अम्बिका अवश्य ही जन-विश्वास की कोई सौभाग्य प्रदात्री देवी है। प्राचीनतर वैदिक संहिताओं में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता। **श० ब्रा०** इनके विषय में कहता है कि त्र्यम्बक होम के समय जो अग्नि जलाई जाती है उसको चारों ओर से कुमारियाँ घेर लेती हैं और सौभाग्य तथा पति की प्राप्ति के लिये अम्बिका से प्रार्थना करती है, 'क्योंकि वे सौभाग्य ('सुहाग') की अधिष्ठात्री है'—

> **तदुहापि कुमार्यः परीयुः। 'भगस्य भजामहै' इति। या ह वै सा रुद्रस्य स्वसा अम्बिका नाम। सा ह वै भगस्य ईष्टे। तस्माद् हापि कुमार्यः परीयुः भगस्य भजामहै इति।**
>
> श० ब्रा० २।६।२।१३

इस पर सायणाचार्य लिखते हैं—

> तया कुमार्यः अपि तमग्निम् उक्तप्रकारेण परीयुः। भगस्य सौभाग्यस्य कर्मणि षष्ठी। सौभाग्यं भजामहै प्राप्नुयामहै इति। अम्बिका नाम या खलु रुद्रस्य स्वसा सा भगस्य ईष्टे-सौभाग्यस्य स्वामिनी भवति"""तस्मात् अंबिकासहितस्य रुद्रस्य संबन्धिनि कर्मणि भगप्राप्तिकामाः कुमार्यः अपि परीयुः इति॥

त्र्यम्बक होम में रुद्र का जो भयंकर स्वरूप है, अंबिका की उदारता और कल्याणकारिता उसे सन्तुलित करती है। रुद्र से संबन्धित अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए अंबिका से पति की याचना करना शिव और अंबिका

(ख) **नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छाम्।** मेघदूत, १।३६
(ग) **गजेन्द्रस्य कृत्तिं वसानं वरेण्यम्।** वेदसारशिवस्तव, ९
(घ) **क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना....शिवेन।** माघ १।४

के विशेषरूप से घनिष्ठ संबन्ध को सूचित करता है। यही कारण है कि ये अंबा या अम्बिका नामक देवी परवर्ती युग में गौरी के रूप में शिव की पत्नी बन गई हैं और बहन के रूप में उनका संबन्ध रुद्र से पूर्णतः भुला दिया गया है। पुराणों में शिव 'अम्बिकाभर्ता' हैं 'अम्बिकाभ्राता' नहीं—

अचिन्त्यायाम्बिकाभर्त्रे सर्वदेवस्तुताय च।
अभिगम्याय काम्याय सद्योजाताय वै नमः॥

पद्म पु०, सृष्टि ३५।१४४

वा० सं० ३।६० में रुद्र के विषय में जो 'त्र्यम्बकं यजामहे' आदि (मृत्युञ्जय) मंत्र प्राप्त होता है उसमें ही थोड़ा सा परिवर्तन करके **श० ब्रा०** में उसे कुमारियों की पति-प्राप्ति के लिये विनियुक्त और उपयुक्त कर लिया गया है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनाद् इतो मुक्षीय मामुतः॥

श० ब्रा० २।६।२।१४

श० ब्रा की इन्हीं **अम्बिका** के लिये **वा० सं०** २३।१८ में **अम्बा** एवं **अम्बालिका** अभिधान भी प्रयुक्त हुए हैं और कोई कुमारी उपालम्भ भरे स्वर में उनसे कहती है कि अभी तक उसे (पितृगृह से) कोई ले नहीं गया जब कि अमुक अन्य सौभाग्यशाली सुन्दरी काम्पील[1] जैसी श्रेष्ठ नगरी में अपने पति के साथ रमण कर रही है—

अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्ति (v. l. रमति) अश्वकः सुभद्रिकां भद्रां काम्पीलवासिनीम्॥

अम्बिका पुराणों में कुमारियों के लिये पति एवं सौभाग्य की प्रदात्री कात्यायनी-देवी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तथा दुर्गा, भद्रकाली, चामुण्डा आदि सभी देवियाँ शिव-पत्नी पार्वती की ही विविध मूर्त्तियाँ मानी जाती है। श्रीमद्भागवत में गोपियों द्वारा कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने के लिये आग्रहायण मास में कात्यायनी की तुष्टि के हेतु व्रत करने का उल्लेख है—

---

१. दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी जो सम्भवतः वर्तमान कन्नौज के आस-पास थी। (काम्पीलनगरे हि सुभगाः सुरूपा विदग्धा विनीताश्च स्त्रियो भवन्ति, उव्वट)।

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ।
आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे ।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ।
कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।
इति मंत्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ।
एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः ।
भद्रकालीं समानर्चुः भूयात् नन्दसुतः पतिः ।।

भाग० १०।२२।१,२,३,५

आज भी हिन्दू समाज में कन्या के विवाह संस्कार के एक दिन पूर्व अम्बिका या मातृपूजन का विधान है और कन्या किसी समीपस्थ मन्दिर में गौरी या दुर्गा के दर्शन करके सौभाग्य हेतु उनका आशीर्वाद प्राप्त करने अवश्य जाती है ।

पिनाक

तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त उद्धरण (१।८।६) में रुद्र के **पिनाक** का उल्लेख किया गया है । महाकाव्यों तथा पुराणों में यह शिव के धनुष का नाम है । **तै० सं०** में रुद्र को **अवततधन्वा** तथा **पिनाकधारी** (पिनाकहस्त) कहा गया है । **वा० सं०** में शिव से पिनाक को छिपा कर ले जाने (पिनाकावसः, अवस् = रक्षा या गोपन) की प्रार्थना की गई है । दोनों ही स्थानों में रुद्र के धनुष और पिनाक का पृथक् पृथक् उल्लेख है । अतः संभवतः पिनाक धनुष नहीं है । कीथ ने अपने तै० सं० के अनुवाद में इसका अर्थ **गदा** (अं० क्लब) किया है[1] **अ० वे०** १।२७।२ भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है (विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती) पर यहाँ भी संभवतः धनुष का भाव नहीं है । महाकाव्यों तथा पुराणों में आकर यह शब्द शिव के धनुष की विशेष-संज्ञा बन

---

१. कीथ : **वेद आफ् ब्लैक यजुस् स्कूल ट्रान्सलेटेड** : (हा० ओ० सी०, १८) प्रथम भाग, पृ० ११८ ।

गया है और इसी कारण उनके लिये पिनाकी, पिनाकधृक् या पिनाकपाणि जैसे विशेषण प्रयुक्त होते हैं।

शतरुद्रियम् और रुद्र

यजुर्वेद के **शतरुद्रिय** सूक्त (तै० सं० ४।५, कठ० सं० १७।११, कापि० सं० २७।१, मै० सं० २।९।१४ तथा वा० सं० १६ वाँ अ०) में हमें रुद्र के तत्कालीन व्यक्तित्व की सम्पूर्ण रूपरेखा प्राप्त होती है। महाभारत के **विष्णुसहस्रनाम** आदि स्तोत्रों की भाँति यहाँ भी रुद्र को सैकड़ों विशेषणों तथा उपाधियों से विभूषित किया गया है। स्थूल अथवा सूक्ष्म, भौतिक अथवा आध्यात्मिक, कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जो रुद्र से सम्बन्धित न हो और जिस पर रुद्र का आधिपत्य न हो। यद्यपि रुद्र के लिए **शिव** विशेषण यहाँ कई बार प्राप्त होता है और उन्हें **मयोभु**, **शंकर** तथा **मीढुष्टम** भी कहा गया है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्तोता रुद्र के कोप और भयानक रूप से भयभीत होकर ही उनकी इस प्रकार स्तुति कर रहा है और इसीलिए बार-बार उनसे अपने कल्याणमय रूप को ही दिखाने की प्रार्थना करता है[1]—

---

1. श० ब्रा० ९।१।१।२,६ का कथन है कि प्रजापति के अश्रुबिन्दुओं के मन्यु के ऊपर गिरने से जो शतशीर्षा रुद्र उत्पन्न हुए और अन्न की इच्छा से भयानक आकार में इधर उधर घूमने लगे उन्हें देवों ने अन्न रूपी इस शतरुद्रिय स्तोत्र से शान्त किया। अतः इसका वास्तविक नाम शान्तदेवत्यम् है। किन्तु देवता अपनी परोक्षप्रियता के कारण **शान्तरुद्रियम्** को **शतरुद्रियम्** कहते हैं—'**ते अब्रुवन् अन्नमस्मै संभराम। तेनैनं शमयाम इति। तस्मै एतदन्नं समभरन् शान्तदेवत्यम्। तेनैनमशमयन्.....शान्तदेवत्यं ह वै तत् शतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्**'। वेबर ने (**इंडिशे श्टूडियन** भाग २, पृ० २०) शतरुद्रिय का यह प्राचीन भाव स्वीकार किया है और कहा है कि जिस प्रकार गम् से 'गत' बन जाता है उसी प्रकार शम् से 'शत' भी बन सकता है।
किन्तु यह रूप पाणिनिसम्मत नहीं है (द्रष्टव्य : '**वा दान्तशान्त०**' अष्टाध्यायी ७।२।२७)।
(ग्रन्थकार के पिता डा० रामशरण शास्त्री की टिप्पणी)

१—नमस्ते रुद्र मन्यवे उतो त इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः।

२—या ते रुद्र शिवा तनूः अघोरा[1] पापकाशिनी।

तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीह ॥ वा० सं० १६।१,२

रुद्र के बाण तथा हेति का भय स्तुतिकर्त्ता को सबसे अधिक है और वह बार-बार यही प्रार्थना करता है कि रुद्र का धनुष उनके ऊपर न तने और उनके बाण तथा हेति उसको प्राणदान दें (श्लोक ९-१६ आदि)। इस प्रसंग में रुद्र को वृक्षों का अधिपति तथा वनों और क्षेत्रों का स्वामी कहा गया है। वे वणिक् हैं, सेनापति हैं, प्राणियों के अधिपति हैं तथा यात्रियों के रक्षक है। यहाँ तक कि उन्हें चोरों, डाकुओं, वंचकों तथा लुटेरों का भी स्वामी (या नायक) कहा गया है (स्तेनानां पतये, स्तायूनां पतये, तस्कराणां पतये, मुष्णतां पतये नमः। श्लोक २०, २१)। वे अरण्य में रहने वाले लोगों के तथा इतस्ततः विचरण करने वाले व्रात्यों के भी स्वामी हैं (२५)। शायद ही कोई ऐसा प्रमुख विशषण होगा जिसको **शतरुद्रिय में** रुद्र से सम्बन्धित न किया गया हो। स्पष्ट है कि रुद्र का लौकिक स्वरूप यजुर्वेद के समय अत्यन्त प्रबल था और उन्हें मानव-समाज के क्या उच्च क्या निम्न, सभी प्रकार के वर्गों का स्वामी माना जाता था।

रुद्राः या रुद्र के गण

शतरुद्रिय के प्रथम ५३ मंत्रों में रुद्र की विशेषताओं का गुणगान करने के पश्चात् आगे के १३ मंत्रों में कवि रुद्रगण (या रुद्राः) का वर्णन करता है। ये रुद्राः रुद्र के आधिपत्य में रहने वाले उनके अनुचर हैं जिनका कार्य मनुष्यों को कष्ट देता है। प्रत्येक मंत्र के उत्तरार्द्ध में सर्वत्र विद्यमान **तेषां सहस्रयोजने अवधन्वानि तन्मसि**' (उनके धनुष को उतार कर हम उन्हें एक सहस्र योजन दूर भगाते हैं) शब्दों से लगता है कि मंत्र-बल से रुद्रों को भगाने की अपनी सामर्थ्य पर स्तोता को पूर्ण विश्वास है। इन रुद्रों की लगभग वे ही विशेषताएँ बताई गयी हैं जो प्रायः रुद्र के लिए उल्लिखित हैं। उनकी संख्या गणनाहीन है (असंख्याता सहस्राणि)। वे भूमि, समुद्र, अन्तरिक्ष तथा आकाश सभी स्थानों

---

१. 'शिव' का पर्यायवाची 'अघोर' शब्द बाद में एक विशेष प्रकार के जीवनदर्शन से संबद्ध हो गया है जिसके अनुयायी वेदों में उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये यही मन्त्र अद्धृत करते हैं।

में परिव्याप्त हैं। कुछ वृक्षों पर रहते हैं तो कुछ भूमि के अन्दर भी विचरण करते हैं। कुछ घास की भाँति भूरे हैं (शष्पिंजर) तो कुछ नीलग्रीव तथा विलोहित। वे जटाएँ रखते हैं (कपर्दिन्) पर उन्हें ऊपर नहीं बाँधते (विशिखासः)। नदी, तालाब आदि स्थानों में वे बछियां तथा धनुषबाण लेकर घूमते रहते हैं (ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषंगिणः)। आकाश-चारी रुद्रों के बाण हैं वर्षा, अन्तरिक्षचारी के वायु, भूमिचारी के अन्न जिनसे वे व्याधियाँ फैलाते है। स्तोता उन सबसे अपनी रक्षा करने की प्रार्थना करता हुआ कहता है कि वे उसका भक्षण करें 'जो हमसे द्वेष रखता है या जिससे हम द्वेष रखते हैं'—

तेभ्यो नमो अस्तु ते नो अवन्तु ते नो मृडयन्तु।
ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ (१६।६५,६६)

स्पष्ट है कि ये रुद्राः आजकल के लोक विश्वास के भूत, प्रेत, ब्रह्मराक्षस आदि के समान सूक्ष्म-शरीरधारी हानिकारक जीव थे। जिस प्रकार आज भी पुराने सघन वृक्ष, ठूटे-फूटे परित्यक्त घर, नदी, तालाब या पर्वत-गुफाएँ आदि इनके निवास-स्थान माने जाते हैं उसी प्रकार प्राचीन समय में भी सोचा जाता था। इन्हीं रुद्रों को **रुद्र के गण** कहा गया है। इन गणों (रुद्र की सेना) का प्रथम उल्लेख **अथर्ववेद** ११।२।३१ में प्राप्त होता है जिसमें इनको 'चिल्लाने-वाले' तथा 'खुले केश रखने वाले' कहा गया है।

नमस्ते घोषणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः।
नमस्ते देवसेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः॥

इस मन्त्र की मरुत्परक भी व्याख्या की जा सकती है, जो ऋग्वेद में रुद्र के पुत्र (तथा अनुचर) कहे गये हैं और जिनके लिये रुद्राः (रुद्रासः) विशेषण प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यजुर्वेद के रुद्राः तो बिलकुल पृथक् प्राणी हैं। उन सब का एक गण है और रुद्र उनके स्वामी हैं। शतरुद्रिय में ही '**नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च**' (मन्त्र २५) कह कर दोनों की वन्दना की गई है। **वा० सं०** ११।१५ में यज्ञ रूपी अश्व से कहा गया है '**रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि**'। रुद्र के गण और उनका आधिपत्य एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। **वा० सं०** २३।१९ में जो '**गणानां त्वा गणपतिं हवामहे, प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे**' आदि प्रसिद्ध मन्त्र आता है वह भी संभवतः रुद्र और उनके गणों का ही बोधक है।

रुद्र के इन गणों का परवर्ती साहित्य में बड़ा विचित्र तथा मनोरंजक वर्णन है। इनमें से कोई बौना है, कोई लंबा, कोई कुबड़ा तो कोई मोटा। किसी का मुख व्याघ्र की भाँति है तो किसी का हाथी की तरह। कोई अज-मुख है और कोई मेषमुख। जितने भी प्रकार के वैभिन्न्य की उनमें कल्पना की जा सकती है वे उतने प्रकार के हैं—

यावन्तस्ते कृशा दीर्घाः स्थूला ह्रस्वा महोदयाः।
व्याघ्रेभवदना केचित् केचिन्मेषाजरूपिणः॥
अनेकप्राणिरूपाश्च ज्वालास्याः कृष्णपिंगलाः।
सोम्या भीमाः स्मितमुखाः कृष्णपिंगजटासटाः॥
नानाविहंगवदना नानाविधमृगाननाः।
कौशेयचर्मवसना नग्नाश्चान्ये विरूपिणः॥
गोकर्णा गजकर्णाश्च बहुवक्त्रेक्षणोदराः।
बहुपादा बहुभुजा दिव्यनानास्त्रपाणयः॥
अनेककुसुमापीडा नानाव्यालविभूषणाः।
विचित्रवाहनारूढा दिव्यरूपा वियच्चराः॥
वीणावाद्यरवाघुष्टा नानास्थानकनर्तकाः॥

मत्स्य पु० १५३।५३१-५३७

मत्स्य पु० में विवाहोपरान्त घर आयी हुई पार्वती शिव के इन विचित्र गणों को देखती हैं और उत्सुकतावश शिव से पूछती हैं—

गणेशाः कति संख्याताः किंनामानः किमात्मकाः।
एकैकशो मम ब्रूह्यधिष्ठिता ये पृथक् पृथक्॥५३८॥

इस पर शिव उत्तर देते हैं कि ये गण करोड़ों की संख्या में है, इनकी गणना भी नहीं की जा सकती। सारा संसार इनसे भरा हुआ है। तीर्थों में, सड़कों पर, जीर्ण भवनों में, प्राचीन वृक्षों पर तथा दानवों के शरीर आदि में सर्वत्र ये विद्यमान रहते है। इनका आहार भी अनेक प्रकार का है। कोई अग्नि पान करते हैं, कोई जल का फेन, कोई धूम, कोई मधु, कोई रक्त और कोई केवल वायु-भक्षण करके जीवित रहते हैं। ये इतने विविध कर्म और गुण वाले हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता—

कोटिसंख्या ह्यसंख्याता नाना विख्यातपौरुषाः।
जगदापूरितं सर्वैरेभिर्भीमैर्महाबलैः॥

सिद्धक्षेत्रेषु रथ्यासु जीर्णोद्यानेषु वेश्मसु ।
दानवानां शरीरेषु बालेषून्मत्तकेषु च ॥
एते विशन्ति मुदिता नानाहारविहारिणः ।
ऊष्मपाः फेनपाश्चैव धूमपा मधुपायिनः ॥
रक्तपाः सर्वभक्षाश्च वायुपा ह्यम्बुभोजनाः ।
गेयनृत्योपहाराश्च नानावाद्यरवप्रियाः ॥
न ह्येषां वै अनन्तत्वाद् गुणान् वक्तुं हि शक्यते ॥

मत्स्य० १५३।५३९-४२

वायुपुराण के एक उल्लेख से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि पुराणों में वर्णित ये ही **रुद्रगण** शतरुद्रियसूक्त में **रुद्राः** नाम से विख्यात हैं। दशम अध्याय में एक कथा आती है (श्लोक ४५-६२) कि ब्रह्मा जी ने एक बार नीललोहित-महादेव से सृष्टि करने के लिये कहा। इस पर महादेव जी ने अपने-समान गुण और स्वभाव वाले अमर मानसपुत्रों को उत्पन्न किया। ये सभी चर्म (ढाल) धारण किये हुए थे तथा हरितकेश, क्रूर-दृष्टि और कपालधारी थे; इनके कई हाथ, मुख तथा नेत्र थे.....आदि। इस रौद्रसृष्टि को देखकर ब्रह्माजी घबराये और उनसे सौम्य तथा मरणशील सृष्टि करने के लिये कहा। शिव ने कहा, ऐसी प्रजा उत्पन्न करना हमारे वश का नहीं है। यह काम आप ही कीजिये। पर "हमने जो इन नीललोहित और विरूप जीवों को उत्पन्न किया है ये महाबली देवगण भूलोक और अन्तरिक्ष में **रुद्र** नाम से प्रसिद्ध होकर यज्ञीय देवों के मध्य परिगणित होंगे एवं **शतरुद्र** नाम से विख्यात होकर यज्ञ-भाग का भोग करेंगे।" **महा० शान्ति०** (२८४।६०-१८२) में दक्ष, शिव की स्तुति करते हुए, जीर्ण-शीर्ण घरों, पुराने-वृक्षों तथा चौराहों पर रहने और विचरण करने वाले रुद्रों को नमस्कार करता है। ये 'रुद्र' शिव के गण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। **वायुपुराण** ५४।२५-३० तथा ६९।२४०-२५६, **स्कन्दपुराण**, काशीखंड, ५३।८-१२, **वराह पुराण** १०।४४-५० आदि में भी शिव के इन गणों का विशेष वर्णन है। इनके वर्णन में कवि ने अपनी कल्पना को पूरी स्वच्छन्दता दे दी है। ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र तथा रुद्राः (रुद्रगण) में भेद करते हुए कहा गया है कि रुद्र **क्षत्र** (राजा, अधिपति) हैं और रुद्रगण **विश्** या प्रजा (**श० ब्रा०** ९।१।१।१५)। ऊपर उल्लिखित (पृ० ४७४) **श० ब्रा०** ९।१।१।६,७ की कथा के अनुसार प्रजापति के जो अश्रुबिन्दु **मन्यु** (क्रोध) पर गिरे उनसे रुद्र की और जो भूमि पर गिरे

उनसे रुद्रगण की उत्पत्ति हुई है। रुद्र में इसीलिये उग्रता और तेज का आधिक्य है।

पशुपति

यद्यपि रुद्र को ब्राह्मण ग्रन्थों में अगणित स्थानों पर 'पशुओं का स्वामी' या **पशुपति** कहा गया है (उदा०, श० ब्रा० १।७।३।८, ३।६।२।२०; ५।३।३।७, ५।७।४।२०; **जैमिनीय ब्रा०** १।१३३ आदि) किन्तु सबके हृदय में यह भय परिव्याप्त रहता है कि कहीं वे इन पशुओं का वध न करें (**ताण्ड्य ब्रा०** ७।९।१६-१८)। एक स्थान पर स्तोता यह भी प्रार्थना करता है कि उसके पशु रुद्र के सम्पर्क में न आयें (नेद् रुद्रेण यजमानस्य पशून् प्रवृहाजनि, कौषी० ब्रा० ३।४)। **श० ब्रा०** १२।७।३।२० में भी रुद्र से अपनी हेतियों (बर्छियों) को वन्य पशुओं की ओर फेंकने की प्रार्थना की गई है, ग्राम्यों की ओर नहीं। इस वाक्य में रुद्र को **क्रूरदेव** कहा गया है। **तै० ब्रा०** १।६।१० तथा **ताण्ड्य ब्रा०** ७।९।१६ में कहा गया है कि जब देवों ने पशुओं का परस्पर विभाजन किया तो जानबूझ कर रुद्र का भाग कल्पित नहीं किया किन्तु बाद में इस भय से कि रुद्र कहीं उनकी कोई हानि न करें, उन्होंने उनको एक **मूषक** दे दिया (देखें, पीछे पृ० ५०३)।

गवेधुक होम

रुद्र का वैदिक कर्मकाण्ड से पार्थक्य तथा उनकी भीषणता ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर उल्लिखित है। **श० ब्रा०** १।७।३।१ में कहा गया है कि जब देवता स्वर्ग जाने लगे तो रुद्र को पृथ्वी पर ही छोड़ गये अतः उनका नाम **वास्तव्य** पड़ा—

यज्ञेन वै देवा दिवमुपोदक्रामन्। अथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत। तस्माद् वास्तव्य इत्याहुः। वास्तौ हि तदहीयत॥

यज्ञ से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है; उनको कहीं भाग नहीं दिया जाता। किन्तु कहीं वे यज्ञकर्ता को कोई हानि न पहुँचाएँ इस भय से उनके लिये **गवेधुक** नाम की एक विशेष प्रकार की घास के बीजों का हवन किया जाता है (**श० ब्रा०** ५।३।१।१० तथा ५।३।३।७)। इस प्रसंग में कहा गया है कि 'गवेधुक यज्ञ की उच्छिष्ट सामग्री है (यज्ञ में अनुपयोगी है), रुद्र को उच्छिष्ट प्रदान किया जाता है अतः उन्हें यही देना चाहिये'—

अथ रुद्राय पशुपतये रौद्रं गवेधुकं चरुं निर्वपति। तदेनं रुद्र एव पशुपतिः। पशुपतिः पशुभ्य सुवत्यथ यद् गवेधुको भवति वास्तव्यो वा एष देवो, वास्तव्या गवेधुकाः तस्माद् गावेधुको भवति॥

श० ब्रा० ५।३।३।७

श० ब्रा० ९।१।१।३ में शतरुद्रिय के मन्त्रों से रुद्र के लिये वन्यतिलों (जर्तिल) के हवन का भी विधान है। इस प्रसंग में एक बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है और वह है अर्क (आक) के पत्ते से इन तिलों का हवन। ९।१।१।९ में कहा गया है कि अर्क की उत्पत्ति उस स्थान से हुई है जहाँ रुद्र शयन करते हैं अतः यह उनका ही भाग है—

अर्कपर्णेन जुहोति एतस्य वै देवस्य आशयाद् अर्कः समभवत्। स्वेनैव एतद् भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति।

हवन के पश्चात् यह अर्कपर्ण तथा अर्क की लकड़ी वेदी के पीछे बने एक गर्त (चत्वाल) के अन्दर फेंक दी जाती है। क्योंकि **श० ब्रा०** ९।१।१।४२ का मत है कि अर्कपत्र अमंगलमय है। कोई उसे कुचल कर अमंगल का भागी न हो अतः ये उधर फेंक दी जाती है। परवर्ती शैवधर्म में अर्क तथा बिल्वदल शिव को विशेष प्रिय माने गये हैं। शिवलिंग पर प्रायः अर्कपुष्प चढ़ाये जाते हैं।

रुद्र की अष्टमूर्तियाँ

वैदिक देवों से रुद्र के इसी पार्थक्य के कारण उनकी उत्पत्ति ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक प्रकार से वर्णित की गई है। प्रजापति और रुद्र को छोड़ कर अन्य कोई भी वैदिक देवता नहीं है जिसकी उत्पत्ति के विषय में इन ग्रन्थों में कुछ भी कहा गया हो। शेष देवताओं के पूर्व-अस्तित्व के विषय में ब्राह्मणों को कोई सन्देह नहीं है। प्रजापति को हम छोड़ सकते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति सदा एक हिरण्याण्ड से ही बताई गयी है। रुद्र की उत्पत्ति के विषय में **श० ब्रा०** ६।१।३।८-१८ में कहा गया है कि संवत्सर रूपी प्रजापति ने अपनी पत्नी **उषा** में बीज निक्षिप्त किया। उससे एक कुमार का जन्म हुआ। वह उत्पन्न होते ही रोने लगा। प्रजापति से उसने कहा मेरा नाम बताइये। प्रजापति ने कहा तुम रोये हो, अतः तुम्हारा नाम रुद्र है। अग्नि **रुद्र** है। उसने कहा कि मैं इससे (अग्नि से) अधिक शक्तिशाली हूँ। कोई दूसरा नाम बताइये। तब प्रजापति ने उसके क्रमशः **शर्व** (जल), **पशुपति** (वनस्पति),

उग्र (वायु), अशनि (विद्युत्), भव (पर्जन्य), महादेव (चन्द्रमा) तथा **ईशान** (सूर्य) नाम रखे—

""संवत्सर उषसि रेतः असिञ्चत्। स संवत्सरे कुमारः अजायत। सः अरोदीत्। तं प्रजापतिरब्रवीत्—कुमार किं रोदिषि ? स अब्रवीत् अनपहतपाप्मा वा अस्मि, अहितनामा। नाम मे धेहीति। तमब्रवीत् रुद्रः असि। तद् यदस्य नाम अकरोत् अग्निस्तद्रूपमभवत्। अग्निर्वै रुद्रः। सः अब्रवीत् ज्यायान् वा अतः अस्मि। धेहि एव मे नाम इति। तमब्रवीत् शर्वः असि। आपस्तद्रूपमभवत्"" पशुपतिरसि"" ओषधयस्तद्रूपमभवत्"" उग्रः असि ""वायुस्तद्रूपमभवत्"" अशनिरसि ""विद्युद्वा अशनिः"" भवः असि"" पर्जन्यो वै भवः। महान्देवः असि ""चन्द्रमास्तद्रूपमभवत्"" ईशानः असि"" आदित्यो वा ईशानः। सः अब्रवीत् एतावान् वा अस्मि। मा मा इतः परो नाम धाः।

शा० ब्रा० ६।१।३।८-१७

रुद्र के उपर्युक्त नामों में केवल **अशनि** ही नवीन है शेष सभी प्राचीन संहिताओं में रुद्र के विशेषण के रूप में आ चुके हैं। यह नाम उनके प्राचीन विद्युत् रूप की ओर संकेत करता है। **श० ब्रा०** में वर्णित यह प्रसंग लगभग इसी रूप में **कौषीतकि ब्रा०** (६।१-९) में भी प्राप्त होता है किन्तु यहाँ रुद्र की उत्पत्ति प्रजापति से नहीं अपितु अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्रमा इन चार ज्योतियों से बताई गई है। प्रजाकामना से तपस्या करते हुए प्रजापति के शरीर से ये ज्योतियाँ तथा उषा उत्पन्न हुई। प्रजापति ने अपने पुत्रों को तपस्या करने की आज्ञा दी किन्तु अप्सरा के रूप में आई हुई **उषा** को देख कर उनका बीज स्खलित हो गया। प्रजापति ने उसे एक हिरण्मय चमस में रख दिया। उससे एक सहस्राक्ष तथा सहस्रपात् पुरुष का जन्म हुआ। उसने जाकर प्रजापति को पकड़ा और उनसे अपना नाम रखने की प्रार्थना की—

प्रजापतिः प्रजाकामस्तपः अतप्यत। तस्मात् तप्तात् पञ्च अजायन्त। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा उषा पंचमी।"" उषा प्राजापत्याय अप्सरोरूपं कृत्वा पुरस्तात् प्रत्युदैत्। तस्याम् एषां मनः समपतत् ते रेतः असिञ्चन्त। ते प्रजापतिं पितरं प्रेत्याब्रुवन् रेतो वै असिचामहा इदं नो मा अमुयाभूदिति। स प्रजापतिः हिरण्मयं चमसमकरोद् इषुमात्रमूर्ध्वमेवं तिर्यञ्च। तस्मिन् रेतः समसिचत्। तत उदतिष्ठत् सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रेण प्रतिहिताभिः। स प्रजापतिं

पितरमभ्यायच्छत् । तमब्रवीत् कथा मामभ्यच्छसीति । नाम मे कुर्वीत इत्यब्रवीत् न वै इदमविहितेन नाम्ना अन्नम् अत्स्यामीति'''''।

कौषी० ब्रा० ६।१

आगे की कथा श० ब्रा० के ही अनुसार है। किन्तु यहाँ रुद्र के जिन आठ नामों का प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों से तादात्म्य किया गया है उनका स्वरूप इस प्रकार है—

भवः आपः, शर्वो अग्निः, पशुपतिर्वायुः, उग्रो देव ओषधयः, महान् देव आदित्यः, यद्रुद्रश्चन्द्रमाः, यदीशानो अन्नम्, यदशनिरिन्द्रः।

नीचे दी हुई तुलनात्मक सूची पर दृष्टि डालने से विदित होगा कि **कौषीतकि** एवं **शतपथ** में रुद्र का जिन-जिन प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्ध जोड़ा गया है, उनमें पूर्ण साम्य होते हुए भी उन तत्त्वों से सम्बद्ध रुद्र के नामों में पूर्ण वैभिन्न्य है—

कौषीतकि	शतपथ
१. अग्निः (शर्व)	अग्निः (रुद्र)
२. आपः (भव)	आपः (शर्व)
३. ओषधयः (उग्र)	ओषधयः (पशुपति)
४. वायुः (पशुपति)	वायुः (उग्र)
५. अन्नम् (ईशान)	पर्जन्यः (भव)
६. अशनिः (इन्द्र)	अशनिः (विद्युत्)
७. चन्द्रमाः (रुद्र)	चन्द्रमाः (महान् देव)
८. आदित्यः (महान् देव)	आदित्यः (ईशान)

यद्यपि रुद्र के इन अष्ट नामों का तत्तत् प्राकृतिक तत्त्व से सम्बन्ध पूर्णतः ऐच्छिक जान पड़ता है फिर भी **श० ब्रा०** इन विशेषणों के प्राकृतिक तत्त्वों से तादात्म्य के व्युत्पत्ति-सम्बन्धी तथा कर्मकाण्डीय प्रमाण देकर उसके पीछे तर्क की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा करता है। **कौषीतकि** के अनुसार रुद्र के रूप होने के कारण आपः, अग्नि तथा वायु आदि सौम्य तत्त्व कभी-कभी भयंकर हो कर मनुष्यों, उनकी सन्तानों तथा पशुओं का विनाश कर सकते हैं। किन्तु प्रत्येक का एक-एक नियम है और उसका पालन करने से ये जल, अग्नि, वायु आदि कल्याणकारी हो जाते हैं, उदा० **'आर्द्रम् एव वासः परिदधीत' 'सर्वमेव नाश्नीयात्' 'ब्राह्मणम् एव न परिवदेत्'** आदि (कौषी० ब्रा० ६।१)।

भौतिक जगत् के उक्त आठ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों से रुद्र के तादात्म्य से स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के काल तक रुद्र का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया था। प्रकृति की प्रत्येक प्रमुख वस्तु उनका ही रूप मानी जाने लगी थी और इस प्रकार उनका व्यक्तित्व महनीय तथा सर्वव्यापी हो उठा था। उनके लिये **कौ० ब्रा०** में प्रयुक्त 'सहस्राक्ष' तथा 'सहस्रपात्' विशेषण ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त (१०।९०) में सृष्टि के आदिकारण, परम-पुरुष के लिये प्रयुक्त हुए हैं। रुद्र के लिये उनका प्रयोग उनके विशेष उत्कर्ष का परिचायक है। शतपथ तथा कौषीतकि दोनों की ही कथाओं से यह भी स्पष्ट है कि उस समय तक रुद्र का व्यक्तित्व हर प्रकार से ज्योति, प्रकाश, तेज या अग्नि-तत्त्व से ही सम्बन्धित था[1]।

रुद्र के इन तत्त्वों से सम्बन्ध की स्मृति पुराणों तक सुरक्षित चली आई है और लौकिक संस्कृत साहित्य में भी अनेक स्थलों पर इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस सूची में **ओषधि**, **अन्न** और **अशनि** इन तीन असंगत तत्त्वों को हटा कर परवर्ती साहित्यकारों ने आकाश, पृथ्वी तथा दीक्षित-यजमान को रुद्र की अष्टमूर्तियों में परिगणित कर लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि **पृथ्वी** 'अन्न' या 'पर्जन्य' के स्थान पर समविष्ट की गई है, **आकाश** अशनि (विद्युत्) के स्थान पर और **यजमान** ओषधियों का स्थानापन्न है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि हिन्दू देवोपासना में अर्चक मन्त्रादि के न्यास के द्वारा अपने उपास्य देव का रूप ग्रहण कर लेता है और तब उसकी उपासना करता (देवो भूत्वा देवं यजेत्)। भक्त भगवान का रूप होता है। इसीलिये यजमान या अर्चक को भी शिव की आठ मूर्तियों में सम्मिलित किया गया है।

---

१. **शिवमहिम्न-स्तोत्र** में पुष्पदन्त ने शिव के उक्त आठों वैदिक नामों का यथावत् उल्लेख करते हुए कहा है कि इनमें से प्रत्येक का 'श्रुति' में व्याख्यान प्राप्त होता है। जिन मूर्तियों का अनादि और अपौरुषेय श्रुति गुणगान करती है, उनकी महिमा का क्या कहना—

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सह महान्
तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।
अमुष्मिन् प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहितनमस्योऽस्मि भवते॥

श्लोक २८

इस प्रकार परवर्ती साहित्य में शिव की आठ मूर्तियाँ निम्न हैं—(१-५) पञ्च महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश, (६) सूर्य, (७) चन्द्रमा तथा (८) यजमान या शिवभक्त। कालिदास शिव की इन आठ 'मूर्तियों' को उनके अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार इन आठ तत्त्वों के द्वारा रुद्र का अव्यक्त रूप संसार में प्रत्यक्षतया अवभासित हो रहा है। अभिज्ञानशाकुन्तल के सर्वप्रथम, नान्दी-श्लोक में उन्होंने शिव की इसी इन्द्रिय-ग्राह्यता की ओर संकेत किया है—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति, यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

विष्णु पुराण (१।८।२-१२) श० ब्रा० के अष्ट-मूर्ति वाले प्रकरण को आधार बना कर ब्रह्मा (प्रजापति) द्वारा शिव के आठ नाम धरे जाने और इन नामों के विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्ध को इन शब्दों में व्यक्त करता है—

कल्पादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतस्ततः।
प्रादुरासीत् प्रभोरंके कुमारो नीललोहितः॥
रुरोद सुस्वरं सोऽथ प्राद्रवद् द्विजसत्तम।
किं त्वं रोदिषि तं ब्रह्मा रुदन्तं प्रत्युवाच ह॥
नाम देहीति तं सोऽथ प्रत्युवाच प्रजापतिः।
रुद्रस्त्वं देव नाम्नासि मा रोदीर्धैर्यमावह॥
एवमुक्तः पुनः सोऽथ सप्तकृत्वो रुरोद वै।
ततोऽन्यानि ददौ तस्मै सप्त नामानि वै प्रभुः॥
स्थानानि चैषामष्टानां पत्नीः पुत्रांश्च स प्रभुः।
भवं शर्वमथेशानं तथा पशुपतिं द्विज॥
भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः।
चक्रे नामान्यथैतानि स्थानान्येषां चकार सः॥
सूर्यो, जलं, मही, वायुः, वह्निराकाशमेव च।
दीक्षितो ब्राह्मणः, सोम, इत्येतास्तनवः क्रमात्॥

विष्णु पु० १।८।२-८

विष्णु पुराण के इस प्रकरण में रुद्र, भव, शर्व आदि की जो क्रमशः सूर्य, जल, पृथ्वी आदि मूर्तियाँ वर्णित की गई हैं वे ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्णन से किंचिद् भिन्न हैं। शिव की इन मूर्तियों को विष्णु पुराण स्वतन्त्र देवों का स्थान देता है और इनकी पत्नियों तथा पुत्रों का उल्लेख करता है। आगे के श्लोकों में इनकी क्रमशः **उषा, विकेशी, अपरा, शिवा, स्वाहा, दिशा, दीक्षा** तथा **रोहिणी** नामक पत्नियाँ तथा **शनि, शुक्र, लोहितांग** (मंगल), **मनोजव** (हनुमान् ?), **स्कन्द, सर्ग, सन्तान** तथा **बुध** नामक पुत्र बताये गये हैं। इनमें से अग्नि-स्वाहा-स्कन्द तथा चन्द्रमा-रोहिणी-बुध सम्बन्धी देव-कथाएँ तो पुराणों में अन्यत्र भी प्रसिद्ध हैं किन्तु शेष पत्नियाँ और पुत्र अधिकांशतः काल्पनिक है।

रुद्र का यज्ञ से बहिर्भाव और दक्ष-यज्ञ-विध्वंस

अब हम ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित रुद्र की उत्पत्ति विषयक वह दूसरा सूत्र पकड़ते हैं जिसमें रुद्र को अन्य देवों के साथ उत्पन्न स्वतन्त्र देवता नहीं माना गया है। उनकी उत्पत्ति बाद में सम्पूर्ण देवों के भयंकर या घोर अंशों के मिलने से हुई। **श० ब्रा०** १।४।१-३ तथा **ऐ० ब्रा०** ३।३।९ में वर्णित एक कथा के अनुसार **प्रजापति** के अपनी पुत्री **उषस्** के प्रति काम-भाव से आसक्त होने पर देवता अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उन्होंने आपस में कहा कि प्रजापति एक जघन्य कृत्य करने जा रहे हैं, उन्हें दण्ड देना चाहिये। किन्तु उनमें से कोई भी ऐसा (कठोरस्वभाव) देवता नहीं था जो यह काम कर सकता। अतः उन्होंने अपने-अपने सर्वाधिक भयानक (घोरतम) अंशों को एकत्र किया। उन सबके सम्मिलन से रुद्र की उत्पत्ति हुई—

> **प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यधावद्''''तं देवा अपश्यन्। 'अकृतं वै प्रजापतिः करोति' इति तम् ऐच्छन् य एनम् आरिष्यति। एतम् अन्योन्यं न अविन्दन्। तेषां या एव घोरतमाः तन्वः आसन् एकधा समभरन्। ताः संभृता एष देवः अभवत् यस्यैतत् भूतवद् नाम''''तं देवा अब्रुवन् प्रजापतिः अकृतम् अकः विध्य एनम्''''।**
>
> ऐ० ब्रा० ३।३।९

ऐ० ब्रा० के इस उद्धरण से रुद्र का अन्य देवों से पार्थक्य पूर्ण स्पष्ट है। रुद्र को छोड़ कर अन्य सभी देवता उदार तथा करुणामय हैं, किन्तु रुद्र हैं 'घोरतम'। अतः वे ही प्रजापति को दण्ड देने के लिये सर्वाधिक उपयुक्त हैं।

यह कथा मूलतः रुद्र की वैदिक देवमण्डल में अनुपस्थिति को भी सूचित करती है। अन्य देवों के साथ रुद्र का अस्तित्व नहीं था, उनकी उत्पत्ति बाद में देवों के घोरतम अंशों के सम्मिश्रण से हुई।

वैदिक कर्मकाण्ड से रुद्र का यह पार्थक्य, किन्तु लौकिक क्षेत्र में उनकी बढ़ती हुई महत्ता इन दोनों में परस्पर संघर्ष का होना अत्यन्त स्वाभाविक था। उच्चवर्ग के आर्यों अथवा द्विज-जातियों में जो धर्म प्रचलित था उसमें कर्मकाण्ड का ही प्रभाव था जिसकी सर्वोच्च शक्ति यज्ञ समझी जाती थी। उनके देवमण्डल में भी इन्द्र, विष्णु तथा प्रजापति जैसे परम शक्तिशाली देव-गण थे। किन्तु इधर लौकिक क्षेत्र में धीरे-धीरे दार्शनिक ज्ञान के अधिष्ठाता तथा ऐहिक सुख के प्रदाता के रूप में रुद्र भी अपने उत्कर्ष पर पहुँच रहे थे। रुद्र के विचित्र चरित के कारण उच्च वर्गीय आर्य उन्हें अपने धर्म में उचित स्थान देने के लिये प्रस्तुत न थे, किन्तु साथ ही रुद्र के महनीय व्यक्तित्व की उपेक्षा करना भी सरल न था। प्रजापति और रुद्र की इस कथा का परवर्ती विकास रुद्रोपासकों और कर्मकाण्ड के पक्षपातियों के पारस्परिक संघर्ष की कथा है। जिसमें बाद में शिव के महत्त्व के आगे कर्मकाण्डियों को झुकना पड़ा।

महाभारत तथा पुराणों में विस्तार से पाई जाने वाली **दक्षयज्ञ-विध्वंस** की कथा इसी तथ्य की प्राचीन स्मृति सुरक्षित रखे हुए हैं। **महाभारत** में यह कथा तीन स्थानों पर वर्णित है : क्रमशः सौप्तिक, शान्ति तथा अनुशासन पर्व में। **सौप्तिक पर्व** (अ० १८।१-२५) की कथा अधिक प्राचीन है। इसके अनुसार एक बार प्राचीन समय में सब देवों ने मिल कर एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया किन्तु रुद्र के महत्त्व को यथार्थतया न जानने के कारण उन्होंने यज्ञ में उन्हें भाग प्रदान नहीं किया। इस पर रुद्र क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने तपः-प्रभाव से एक धनुष की सृष्टि की। धनुष उठाया और यज्ञ-भूमि में आ पहुँचे। उनके क्रोध से पृथ्वी हिलने लगी और पर्वत काँपने लगे। पवन ने चलना बन्द कर दिया, आग अपने आप बुझ गई और आकाश में तारामण्डल चक्कर खाने लगा। **यज्ञ** भी डर कर एक **मृग** का रूप धारण करके भागा किन्तु रुद्र ने उसे अपने भयंकर बाण से विद्ध कर दिया। देवता भय से अचेत हो गये। रुद्र ने **सविता** के बाहु काट डाले, भग के नेत्र फोड़ दिये और **पूषा** के दाँत उखाड़ लिये। तब यज्ञ के सहित सब देवता रुद्र की शरण में गये, उनकी स्तुति की और उनके लिये यज्ञ-भाग कल्पित किया; तब कहीं रुद्र प्रसन्न हुए

और देवों को अभय प्रदान किया। अत्यन्त ओजस्वी शब्दावली में वर्णित यह प्रसंग अक्षरशः उद्धरणीय है—

ततो देवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन्।
यज्ञं वेदप्रमाणेन विधिवद् यष्टुमीप्सवः ॥१॥

ते वै रुद्रमजानन्तो याथातथ्येन भारत॥
नाकल्पयन्त देवस्य स्थाणोर्भागं नराधिप ॥३॥

सोऽकल्प्यमाने भागे तु कृत्तिवासा मखेऽमरैः।
तपसा यज्ञमन्विच्छन् धनुरग्रे ससर्ज ह ॥४॥

ततः क्रुद्धो महादेवस्तदुपादाय कार्मुकम्।
आजगामाथ तत्रैव यत्र देवा समीजिरे ॥८॥

तमात्तकार्मुकं दृष्ट्वा ब्रह्मचारिणमव्ययम्।
विव्यथे पृथिवी देवी पर्वताश्च चकम्पिरे ॥६॥

न ववौ पवनश्चैव नाग्निर्जज्वाल वैधितः।
व्यभ्रमच्चापि संविग्नं दिवि नक्षत्रमण्डलम् ॥१०॥

अभिभूतास्ततो देवा विषयान् न प्रजज्ञिरे।
न प्रत्यभाच्च यज्ञः स देवतास्त्रेसिरे तथा ॥१२॥

अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा सपावकः।
ततः स यज्ञं विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा ॥१३॥

अपक्रान्ते ततो यज्ञे संज्ञा न प्रत्यभात् सुरान्।
नष्टसंज्ञेषु देवेषु न प्रज्ञायत कश्चन ॥१५॥

त्र्यम्बकः सवितुर्बाहू भगस्य नयने तथा।
पूष्णश्च दशनान् सर्वान् धनुष्कोट्या व्यशातयत् ॥१६॥

प्राद्रवन्त ततो देवा यज्ञांगानि च सर्वशः।
केचित् तत्रैव घूर्णन्तो गतासव इवाभवन् ॥१७॥

ततो विधनुषं देवा देवश्रेष्ठमुपागमन्।
शरणं सह यज्ञेन प्रसादं चाकरोत् प्रभुः ॥२०॥
सर्वाणि च हवींष्यस्य देवा भागमकल्पयन् ॥२३॥

महा० सौप्तिक० १८।१-२३

महाभारत के उपर्युक्त अंश में तथा **रामायण** में उल्लिखित[1] कथा में रुद्र का स्वयं जाकर दक्ष-यज्ञ विध्वंस करना वर्णित है। किन्तु **शान्तिपर्व** (अध्याय २८३, २८४), **श्रीमद्भागवत०** (४।२-५), **वायु०** (अध्याय ३०), **पद्म०** (अध्याय ६) एवं **कूर्म** (अध्याय १५) आदि पुराणों में शिव, पार्वती के अनुरोध पर उनका दुःख दूर करने के लिये अपने मुख या जटाओं से महापराक्रमी **वीरभद्र** नामक एक गण उत्पन्न करते है। पार्वती भी अपने भयंकर रूप से **भद्रकाली** को उत्पन्न करती हैं और गणेश्वर वीरभद्र शिव के अन्य गणों के साथ आकर दक्ष के यज्ञ को धूल में मिला देता है। **वायु-पुराण** में कहा गया है कि अपना यज्ञ विध्वस्त होते देख कर दक्ष-प्रजापति मृग का रूप धारण करके आकाश में भागे किन्तु वीरभद्र ने ऊपर ही आकर उनका सिर काट लिया जिससे वृद्ध प्रजापति पृथ्वी पर लोट गये।

महा० शान्ति (अ० २८३) तथा **वायु** (अ० ३०) में जब पार्वती दक्ष यज्ञ में निमन्त्रित देवों को अपने-अपने विमानों पर चढ़ कर जाती हुई देखती हैं तो वे शिव से पूछती हैं कि दक्ष ने उन्हें निमन्त्रित क्यों नहीं किया। इस पर शिव स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि प्राचीन काल में देवों ने मिलकर यह नियम बना लिया था कि शिव को किसी भी यज्ञ में कोई भाग न दिया जाए और वही परंपरा अब भी चली आ रही है—

सुरैरेव महाभागे पूर्वमेतदनुष्ठितम् ।
यज्ञेषु सर्वेषु मम न भाग उपकल्पितः ।।
पूर्वोपायोपपन्नेन मार्गेण वरवर्णिनि ।
न मे सुरा प्रयच्छन्ति भागं यज्ञेषु धर्मतः ।।

यह जान कर पार्वती बहुत खिन्न होती हैं कि जब शिव की अपेक्षा तुच्छ देवता भी यज्ञ-भाग प्राप्त करने के अधिकारी हैं तो शिव को वह क्यों न मिले। पत्नी के खेद को दूर करने के लिये शिव दक्ष-यज्ञ-विनाश का उपक्रम करते हैं।

---

१. देखिये—बालकाण्ड ६६।६-१०

दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान् ।
विध्वस्य त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदमब्रवीत् ।।
यस्मात् भागार्थिनो भागं नाकल्पयत मे सुराः ।
वरांगाणि महार्हाणि धनुषा शातयामि वः ।।

उपर्युक्त श्लोकों से प्रकट है कि वैदिक धर्म में एक समय ऐसा था जब शिव को बिलकुल यज्ञ भाग नहीं प्रदान किया जाता था और यह परंपरा काफी रूढ़ हो चुकी थी। किन्तु सहसा इन रूढ़ियों के प्रति शिव (अथवा शैवों) को विद्रोह करना पड़ा और दक्ष-प्रजापति ने भी, जो वैदिक कर्म-काण्ड का प्रतीक है, उनकी महत्ता को माना।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस कथा के बीज पुराणकारों को प्रजापति द्वारा अपनी पुत्री के प्रति आसक्त होने तथा रुद्र द्वारा उनको दण्ड दिये जाने की वैदिक कथा से प्राप्त हुए हैं[1]। ऐ० ब्रा० में कहा गया है कि जब प्रजापति के भय से उनकी पुत्री मृगी होकर आकाश में भागी तो प्रजापति ने मृग बन कर उसका अनुसरण किया। किन्तु रुद्र ने व्याध के रूप में उस मृग का पीछा किया और अपने 'रौद्र' बाण से उसे विद्ध कर दिया—

> ....ताम् ऋष्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत....स (रुद्रः) तम् अभ्यायत्य अविध्यत् स विद्धः ऊर्ध्व ऊर्ध्व उदप्रपतत्। तम् एतं मृग इत्याचक्षते....।
>
> ऐ० ब्रा० ३।३।९

वायुपुराण में भी दक्ष के मृग रूप धारण करके आकाश की ओर भागने और वीरभद्र के द्वारा आकाश में ही जाकर उसका सिर काटने का उल्लेख है। वीरभद्र शिव के ही रौद्र रूप का प्रतीक है। भाग० ४।५।२३ में उसके लिये 'पशुपति' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। ऊपर सौप्तिक पर्व से जो उद्धरण दिया गया है उसमें शिव का ही मृग-रूपी यज्ञ को विद्ध करना उल्लिखित है—

> **अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा सपावकः।**
> **ततः स यज्ञं विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा॥**

कालिदास के समय में सम्भवतः शिव का ही यह कार्य करना अधिक प्रसिद्ध था क्योंकि उन्होंने शाकुन्तल के प्रथम अंक के निम्न श्लोक में शिव को मृग रूपी यज्ञ का हन्ता बताया है—

> **कृष्णसारे ददच्चक्षुः त्वयि चाधिज्यकार्मुके।**
> **मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्॥**

---

१. इस कथा की विशेष व्याख्या प्रजापति के प्रसंग में द्रष्टव्य है।

अब हमें प्रजापति-दक्ष-यज्ञ तथा मृग के तादात्म्य को देखना है। प्रजापति और दक्ष के ऐकात्म्य की थोड़ी सी चर्चा पहले की जा चुकी है। दक्ष के लिये पुराणों में सदा **प्रजापति** विशेषण प्रयुक्त हुआ है। (पद्म ४।३२, भाग० ४।५।१)। यही नहीं, प्रायः उसके लिये ऋग्वेद के हिरण्यगर्भसूक्त (१०।१२१) में प्रजापति-वाची 'क' संज्ञा भी प्रयुक्त की गई है (श्रीमद्-भागवत ४।६।३, **कस्य अध्वरं**)। कौषी० ब्रा० ५।४, तै० सं० १।७।६ तथा श० ब्रा० २।५।२।११ में 'क' शब्द को प्रजापति का नाम बताया गया है और श० ब्रा० २।४।४।२ स्पष्ट शब्दों में कहता है कि प्रजापति का ही नाम दक्ष है (**प्रजापतिः वै दक्षोनाम**)। प्रजापति से संबन्धित अनेक कथाएँ पुराणों में दक्ष से सम्बन्धित हैं (उदा०, तै० सं० २।३।५, प्रजापति द्वारा अपनी नक्षत्र-रूपिणी २७ कन्याओं का सोम को दान और सोम का रोहिणी के प्रति विशेष रूप से आसक्त होना, आदि)। यज्ञ के अधिष्ठाता होने के कारण ब्राह्मण ग्रंथों में प्रजापति का यज्ञ से तादात्म्य बहुत सामान्य सी बात है (उदा०, श० ब्रा० ५।१।२।११) और एक स्थान पर श० ब्रा० में यज्ञ का कृष्णमृग से तादात्म्य किया गया है—

यज्ञो हि कृष्णः (मृगः) स यः स यज्ञः तत्कृष्णाजिनम् ॥

श० ब्रा० ३।२।१।२८

इस पर भाष्य करते हुए सायणाचार्य किसी अज्ञात ब्राह्मण के उस प्रसंग का उल्लेख करते हैं जिनके अनुसार यज्ञ एक बार कृष्ण-मृग का रूप धारण करके देवों से छिप गया था—**यज्ञो हि कृष्णः। हि शब्देन 'यज्ञो देवेभ्यो निलायत कृष्णो रूपं कृत्वा।' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धिरभिधीयते। अतः प्रसिद्धोऽस्ति यः कृष्णो मृगोऽस्ति स एव निदानेन यज्ञः।**

तै० सं० २।६।८ में दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की कथा का प्राचीनतर रूप प्राप्त होता होता है। इसमें कहा गया है कि देवों ने एक बार रुद्र को यज्ञ से बहिष्कृत कर दिया। इस पर रुद्र ने क्रुद्ध होकर यज्ञ को बाण से विद्ध कर डाला। (तु० की, तै० सं० ३।२।४ जहाँ रुद्र को मखहन् कहा गया है, (**नमो रुद्राय मखघ्ने**)। तब सब देवता रुद्र के पास पहुँचे और उनसे यज्ञ को सकुशल कर देने की प्रार्थना की—

देवा वै यज्ञाद् रुद्रमन्तरायन्। स यज्ञमविध्यत्। तं देवाः अभि-संगच्छन्त 'कल्पतां नः इद'मिति।

कथा का यह रूप ऐ० ब्रा० की कथा से बाद का है। यद्यपि यहाँ यज्ञ का कोई मूर्त स्वरूप वर्णित नहीं किया गया किन्तु निश्चित रूप से उसकी कल्पना पशु के रूप में ही की गई है क्योंकि आगे कहा गया है कि देवों ने उसका जौ के बराबर वह अंश काट कर निकाल दिया जो रुद्र के बाण से विद्ध था (तस्य आविद्धं निरकृन्तन् यवेन सम्मितम्)।

कथा का यह अंश आगे चल कर दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की कथा के उस भाग का आधार है जिसमें कहा गया है कि रुद्र या वीरभद्र ने पूषा के दाँत तोड़ दिये, और भग की आँखें फोड़ दी। श० ब्रा० १।७।४।१-७ में वर्णित प्रजापति और उनकी पुत्री की यह कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

> **प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ''''तद्वै देवानामाग आस''''**
> **ते ह देवा ऊचुर्यो अयं देवः पशूनामीष्टे''''विध्य इमम् इति। तं रुद्रो अभ्यायत्य विव्याध।**
>
> **यदा देवानां क्रोधः अव्यैद् अथ प्रजापतिम् अभिषज्यन्। तस्य तं शल्यं निरकृन्तन्। स वै यज्ञ एव प्रजापतिः ते होचुः उपजानीत यथेदं नामुयासत्। कनीयो ह्याहुतेर्यथेदं स्यादिति। ते होचुः भगाय एनत् दक्षिणतः आसीनाय परिहरत। तद् भगः प्राशिष्यति। तद् भगाय'''' पर्याजह्रुः। तद् भगः अवेक्षांचक्रे। तस्य अक्षिणी निर्ददाह। तस्मा-दाहुः अन्धो भग इति।**
>
> **ते होचुः नो नु एव अत्र आशमत्। पूष्ण एनत् परिहर इति तत् पूष्णे पर्याजह्रुः। तत् पूषा प्राश। तस्य दतो निर्जघान। तस्माद् आहुः अदन्तकः पूषा इति। तस्माद् यं पूष्णो चरुं कुर्वन्ति, प्रपिष्टा-नाम् एव कुर्वन्ति॥**

श० ब्रा० की इस कथा में कहा गया है कि जब अपनी पुत्री के पीछे सकाम भाव से दौड़ने के कारण प्रजापति को रुद्र ने विद्ध कर दिया (क्योंकि रुद्र 'पशुपति' हैं और प्रजापति पशु के रूप में यह दुष्कर्म करने जा रहे थे) तो वह क्षत होकर गिर पड़ा। जब देवों का क्रोध उतरा तो उन्होंने प्रजापति के शरीर से बाण निकाला और उनकी चिकित्सा की। किन्तु प्रजापति यज्ञ हैं। अतः उनके शरीर से निकला बाण यज्ञ-रस से विलिप्त था (देखिये, हरिहर-स्वामी का भाष्य)। देवों ने सोचा यज्ञ का यह रस व्यर्थ नहीं जाना

चाहिये। अतः उन्होंने उसे पहले दक्षिण की ओर बैठे हुये भग को दिया। किन्तु रुद्र के तेज (रुद्रिय) से युक्त होने के कारण उसकी ओर देखते ही भग के नेत्र दग्ध हो गये और वे अन्धे हो गये। तब उन्होंने उसे पूषा को दिया। पूषा ने जब उसे खाने की चेष्टा की तो उनके दाँत टूट गये। अतः अब वे पिसा हुआ अन्न खाते हैं।

तै० सं० (२।६।८) में भी यज्ञ के शरीर का जो यवमात्र बाण-विद्ध भाग, देवता काट कर निकालते हैं। उसको खाने से पूषा और भग की उपर्युक्त दशा होती है। इस यव-मात्र मांसखंड को **प्राशित्र** कहा जाता है और ब्राह्मण-ग्रंथों में प्रत्येक यज्ञ में पशु के पिछले भाग से इतना अंश निकाल देने का विधान किया गया है।

प्रजापति की कथा से सम्बन्धित इस पूर्णतः कर्मकाण्डीय अंश को दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की कथा में पुराणकारों ने कितनी चतुराई से उपयुक्त किया है! पुराणों के विवरण के अनुसार पूषा एवं भृगु शिवविरोधी थे अतः शिव ने क्रोध में आकर यज्ञविध्वंस के अवसर पर दक्ष के साथ-साथ उन्हें भी दण्ड दिया। जब भरी सभा में दक्ष ने शिव की निन्दा की थी तो भग ने उसे आँखों से संकेत किता था और पूषा खिलखिला कर हँस पड़ा था, अतः—

भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा भुवि।
उज्जहार सदःस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत्॥
पूष्णश्चापातयद् दन्तान् कालिगस्य यथा बलः।
शप्यमाने गरिमणि योऽहसद् दर्शयन् दतः॥

भागवत ४।५।२०,२१

पूष्णो दन्तानथोत्पाट्य वीरभद्रो न्यपातयत्।
भगस्य चक्षुषी विप्र वीरभद्रो व्यपाटयत्॥

ब्रह्म पु० १०९।२५,२६

अन्त में जब सब देवता ब्रह्मा जी को लेकर शिव के पास पहुँचते हैं और उनकी स्तुति करके प्रत्येक यज्ञ का अवशिष्ट-भाग उनको देने की प्रतिज्ञा करते हैं तो शिव यह विधान करते हैं कि पूषा अपने यजमान के दाँतों से पिष्टान्नयुक्त यज्ञ-भाग खाएँ और भग मित्र देवता की आँखों से देखें—

पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक् ।

तथा

मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः ।

भाग० ४।७।४ तथा ३

शिव यह भी विधान करते हैं कि मेरे गणों के प्रहार से जिन ऋत्विजों के बाहु या हाथ क्षत-विक्षत हो गये हो गये हैं वे अश्विनौ के बाहुओं तथा पूषा के हाथों से काम लें—

बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णोर्हस्ताभ्यां कृत्तबाहवः । भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये... ॥

भाग० ४।७।५

पूषा और भग देवताओं की उपर्युक्त विशेषताओं के क्षीण बीज सम्भवतः ऋग्वेद में ही हैं। ऋ० वे० ६।५६।१ में **पूषा** का प्रिय अन्न जौ के आटे से निर्मित करम्भ (पुआ) बताया गया है। और भग के विषय में कहा गया है कि उसके नेत्र रश्मियों से अलंकृत हैं (ऋ० १।१३६।२)। इसी मन्त्र में 'मित्र' तथा 'वरुण' आदित्यों का भी उसके साथ उल्लेख है। मित्र का भौतिक स्वरूप सूर्य है। सूर्य सम्पूर्ण प्राणियों का नेत्र है। उसके बिना कोई कुछ नहीं देख सकता। इसीलिये यजुर्वेद में कहा गया है कि हम मित्र के नेत्रों से देखते हैं—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । वा० सं० ३६।१८

भग के '**मित्रस्य चक्षुषेक्षेत**' का यही रहस्य है।

इसी प्रकार अश्विनौ के बाहुओं तथा पूषा के हस्तों की भी यजुर्वेद में बहुत चर्चा हुई है। जब भी यजमान कोई यज्ञिय सामग्री ग्रहण करता है तो सबसे पहले वह निम्न मन्त्र का उच्चारण करता है—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोर्हस्ताभ्यां
गृह्णामि/आददे । वा० सं० १।१०,२१ आदि

अर्थात् 'देव सविता की प्रेरणा से मैं तुम्हें अश्विनौ की भुजाओं एवं पूषा के हाथों से पकड़ रहा हूँ'।

अश्विनौ के बाहुओं तथा पूषा के हस्तों का वैदिक क्रियाओं में जो महत्त्व है उसके परिप्रेक्ष्य में अध्वर्युओं के लिये, रुद्र-शिव द्वारा उपर्युक्त विधान किया जाना स्वाभाविक है।

दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की इस कथा के अन्त में रुद्र के लिये देवगण जो भाग निर्धारित करते हैं वह यज्ञ करने से बची हुई उच्छिष्ट सामग्री है—**श्रीमद्-भागवत** में देवता शिव से कहते हैं—

एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥ ४।६।५३

अर्थात् इस संघर्ष के बाद भी रुद्र मुख्य-यज्ञ में भाग पाने में असमर्थ रहते हैं। पौराणिक काल में ब्राह्मण धर्म के देवमण्डल में विष्णु के समकक्ष उत्कृष्ट देवता होकर भी शिव वैदिक-देवताओं में सम्मिलित नहीं किये जा सके हैं। पार्थक्य की रेखा अब भी स्पष्ट है।

ब्राह्मणग्रन्थों के युग में भी रुद्र को **यज्ञोच्छिष्ट** ही अर्पित किया जाता था, यह ऊपर कहा जा चुका है। इस धारणा की सर्वोत्तम कथात्मक अभिव्यक्ति **ऐतरेय-ब्राह्मण** में वर्णित **नाभानेदिष्ठ** की कथा में होती है। इस कथा के अनुसार जब **मानव** (मनु-वंशीय) **नाभानेदिष्ठ** गुरुकुल में ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्या ग्रहण कर रहा था तो उसके भाइयों ने पिता का धन आपस में बाँट लिया। जब नाभानेदिष्ठ घर पहुँचा तो उसने अपने भाग की माँग की। भाइयों ने कहा कि अब तो केवल पिताजी बचे हैं। उन्हीं को तुम ले लो। वह पिता के पास पहुँचा। पिता ने कहा, तुम्हारे भाइयों का कथन समीचीन नहीं, पर चिन्ता मत करो। देखो, सामने ये अंगिरस मुनि स्वर्ग प्राप्ति के लिये यज्ञ कर रहे हैं। पाँच दिन का कृत्य तो वे कर लेते है पर हर बार छठे दिन के कृत्य में भ्रान्त हो जाते हैं। तुम जाकर उन्हें इसके मन्त्र बता दो। इससे जब वे स्वर्ग जाने लगेंगे तो यज्ञ-शेष सामग्री तथा एक सहस्र (मुद्राएँ) दक्षिणा तुम्हें दे जाएंगे। नाभानेदिष्ठ ने ऐसा ही किया। किन्तु जब वह यज्ञ से अवशिष्ट सामग्री बटोर रहा था तो उत्तर दिशा से कृष्णवस्त्र-धारी एक पुरुष ने आकर उससे कहा कि यह धन मेरा है, तुम इसे नहीं ले सकते। नाभानेदिष्ठ ने जब इसका प्रतिवाद किया तो उसने अपने पिता से पूछकर आने के लिये कहा। नाभानेदिष्ठ पिता के पास पहुँचा। पिता ने कहा कि वह पुरुष रुद्र है। यज्ञ के उपरान्त बचा हुआ सारा भाग उसी का होता है। नाभानेदिष्ठ

ने जाकर रुद्र से जाकर कहा कि पिताजी यह धन आपका ही बताते हैं, अतः यह आप ही ले लें। उसके इस सत्य-भाषण से प्रसन्न रुद्र वह सब धन उसी को देकर चले गये—

नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन्। सः अब्रवीत् एत्य 'किं मह्यम् अभाक्त'? इति एतम् एव निष्ठावन् अववदितारम् इत्यब्रुवन्....स पितरमेत्य अब्रवीत् त्वां ह वाव मह्यं तताभांक्षुरिति। तं पिता अब्रवीत् मा पुत्रक तदादृथाः। अंगिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते। ते षष्ठं षष्ठम् एव अहः आगत्य मुह्यन्ति। तान् एते सूक्ते षष्ठे अहनि शंसय तेषां यत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं तत्ते स्वः यन्तो दास्यन्ति इति। तथेति तान् उपैत्....तान् एते सूक्ते (ऋ० १०।६१, ६२) षष्ठे अहनि अशंसत्.... तं स्वर्यन्तः अब्रुवन् एतत्ते ब्राह्मण सहस्रम् इति। तदेनं समाकुर्वाणं पुरुषः कृष्णशवासि उत्तरत उपोत्थाय अब्रवीत् मम वा इदं मम वै वास्तुहम् इति। सः अब्रवीत् मह्यं तद् वै इदम् अदुः इति। तमब्रवीत् तद् वै नौ तवैव पितरि प्रश्न इति। स पितरम् ऐत्। तं पिता अब्रवीत्....तस्यैव पुत्रक तत्तु....स पुनरेत्याब्रवीत् तव ह वाव किल भगव इदमिति मे पिता आह। सः अब्रवीत् अहं तुभ्यमेव ददामि, सत्यमवादीरिति।

ऐ० ब्रा० ५।२।९

तै० सं० ३।१।९ में भी मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की यह कथा किंचिद् भिन्न रूप में आती है। यहाँ उत्तर दिशा से आने वाले पुरुष को पहले ही स्पष्ट शब्दों में रुद्र कहा गया है (यज्ञवास्तौ रुद्र आगच्छत्)। अंगिरस नाभानेदिष्ठ को पशु देकर स्वर्ग जाते हैं जिन पर आकर रुद्र अपना अधिकार जताते हैं ('पशुपति' होने के कारण)।

श्रीमद्भागवतकार ने लगभग ऐ० ब्रा० के ही शब्दों को लेकर और उसके कर्मकाण्डीय पक्ष को निकाल कर एक मनोरम आख्यान की रचना की है जो निम्न प्रकार है। ध्यान दीजिये, भागवतकार ने ऐतरेय-ब्राह्मण की शब्दावली को किस चतुरता से अपने काव्य में अनुस्यूत किया है—

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम्।
यविष्ठं व्यभजद् दायं ब्रह्मचारिणमागतम्॥
भ्रातरोऽभांक्त किं मह्यं भजाम पितरं तव।

त्वा ममार्यास्तताभांक्षुः मा पुत्रक तदादृथाः ॥
इमे अंगरिसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः ।
षष्ठं षष्ठमुपेत्याहुः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥
तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः ।
ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः ।
दास्यन्ति तेऽथ तान् गच्छ तथा स कृतवान् यथा ।
तस्मै दत्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषितम् ॥
तं कश्चित् स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः ।
उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु ॥
ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः ।
स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान् पितरं तथा ॥
यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित् ।
चक्रुर्विभागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति ॥
नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम् ।
इत्याह मे पिता ब्रह्मन् शिरसा त्वां प्रसादये ॥
यत् ते पितावदद् धर्मं त्वं च सत्यं प्रभाषसे ।
ददापि ते मन्त्रदृशे ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् ॥
गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रे परिशेषितम् ।
इत्युक्त्वान्तर्हितो रुद्रो भगवान् सत्यवत्सलः ॥ ९।४।१-११

दार्शनिक ज्ञान के अधिष्ठाता रुद्र

उपर्युक्त उद्धरण के दशम श्लोक में रुद्र नाभाग को ब्रह्मज्ञान (दार्शनिक ज्ञान) की प्राप्ति का वर देते हैं, स्वर्गादि का नहीं। यहाँ फिर हमें रुद्र के प्राचीन स्वरूप के विषय में एक सूत्र प्राप्त होता है। **श्वेताश्वतर-उपनिषद्** पर दृष्टि डालने से स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड से पृथक् होने के कारण, कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र तथा अंशतः विरोधी रूप में विकसित होने वाली दर्शनिक विचारधारा में, रुद्र को जगत् की सर्वोत्कृष्ट शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। उपनिषदों की इस प्राचीन विचारधारा में सांख्य, योग्य तथा वेदान्त, सभी के तत्त्व घुले-मिले हैं। जगत् की कारणशक्ति के रूप में त्रिगुणमयी माया की धारणा भी उस समय उभर रही थी। अतः रुद्र को माया का अधिपति तथा संसार का सर्वतोभावेन ईश घोषित कर दिया गया।

श्वेताश्वतर० ३।२ में कहा गया है कि एकमात्र रुद्र ही इस संसार को अपनी शक्ति से संचालित करते हैं। वे संसार के प्राणियों की सृष्टि करते हैं, रक्षा करते हैं तथा अन्त में संहार भी करते हैं। वे सबके अन्दर व्याप्त हैं—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति, संचुकोचान्तकाले, संसृज्य विश्वा भुवनानि, गोपाः ।।

यही नहीं, वे सम्पूर्ण देवों की भी उत्पत्ति एवं अस्तित्व के हेतु हैं। उन्होंने ही हिरण्यगर्भ रूपी प्रजापति को आदि में उत्पन्न किया था—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वा धियो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ।।

श्वे० ३।४

रुद्र के प्राचीन ईश विशेषण ने भी उनके इस औपनिषदिक उत्कर्ष में पर्याप्त सहयोग दिया। ३।७ में कहा गया है कि ईश (रुद्र) महान् एवं उत्कृष्ट परब्रह्म हैं, उन्हें जान लेने पर मनुष्य अमर हो जाता है।

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति ।।

श्वे० ३।७

उनके सब ओर मुख, सिर तथा ग्रीवा हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियों की हृदय-गुहा में वर्तमान हैं, वे सर्वगत तथा सर्वव्यापी हैं—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ।।

श्वे० ३।११

श्वे० ३।१४ तथा ३।१५ में ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त (१०।९०) के दो मन्त्र (सहस्रशीर्षा०, पुरुष एवेदं०) उद्धृत करके ऋग्वेद के यज्ञ-पुरुष से शिव का तादात्म्य किया गया है। ४।१० में कहा है कि महेश्वर-रुद्र माया के अधिपति हैं 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्'। और आगे पुनः (४।१६) यह उपनिषद् शक्तियुक्त शब्दों में कहता है कि 'सब भूतों में सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट और संसार को परिव्याप्त कर लेने वाले शिव को जान कर मनुष्य सब बन्धनों से छूट जाता है'—

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ।।

श्वे० ४।१६

श्वेताश्वतर के ये ईशान, महेश्वर-रुद्र अथवा शिव निश्चितरूप से प्राचीनतर रुद्र के ही रूप हैं । यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि रुद्र, शिव, ईशान तथा महेश्वर आदि शब्द उपनिषदों में विकसमान नये दार्शनिक तत्त्व ब्रह्म के लिये, केवल विशेषण मात्र हैं और वैदिक संहिताओं अथवा ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले रुद्र देवता तथा औपनिषदिक रुद्र में कोई साम्य नहीं है । श्वेताश्वतर में परब्रह्म के रूप में मान्य रुद्र और शतरुद्रिय में वर्णित रुद्र में साम्य की शृंखला स्पष्ट है । **शतरुद्रिय** से दो मन्त्र (वा० सं० १६।२, ३) शब्दशः **श्वेताश्वतर** ३।५ तथा ३।६ में उद्‌धृत किये गये हैं । इन मन्त्रों में रुद्र से अपने कल्याणकारी स्वरूप (शिवा तनूः) द्वारा मंगल करने और जगत् का विनाश न करने की प्रार्थना की गई है (या ते रुद्र शिवा तनूः, यामिषुं गिरिशन्त हस्ते ।)

स्पष्ट है कि उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा में विश्वास रखने वाले ब्रह्मज्ञानी जन शिव को परब्रह्म मान कर उन्हें जगत् का आदितत्त्व समझते थे । उनका विश्वास था कि इस परमपुरुष का ज्ञान सांख्य तथा योग की प्रक्रिया से ही सम्भव है (तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्, ६।९३) । उनको जान कर मनुष्य सांसरिक बन्धनों से छट जाता है, इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वालों को उन्हीं की शरण लेनी चाहिये (मुमुक्षुर्हं वै शरणमहं प्रपद्ये, ६।१८) । वेदान्त, सांख्य तथा योगादि के सिद्धान्तों के समर्थकों ने वैदिक कर्मकाण्ड की सर्वथा उपेक्षा की है । परम्परा से समर्थित तथा श्रुतियों पर आधारित होने के कारण वे उसकी भर्त्सना तो नहीं कर सके हैं किन्तु दार्शनिक ग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र कहा गया है कि मुमुक्षु को यज्ञादि काम्य-कर्म सर्वथा छोड़ देने चाहिये क्योंकि इनसे जो पुण्य उत्पन्न होता है उससे मनुष्य स्वर्ग जाता है और पुण्य क्षीण होने पर उसे पुनः मृत्युलोक में आना पड़ता है । इस प्रकार वह संसरण के चक्कर में फँसा रहता है । मोक्ष तब तक नहीं मिल सकता जब तक मनुष्य के पुण्य और पाप दोनों ही नष्ट हो जाएँ और यह केवल शुद्ध ज्ञान से ही सम्भव है, कर्म से नहीं । **श्रीमद्‌भगद्‌गीता** में भगवान् वेदों की कर्मकाण्डमयी 'पुष्पिता वाक्' को 'जन्मकर्मफलप्रदा' कहते हैं । जिसके मन और कर्म उसी में रमे रहते हैं उसमें कभी परमतत्त्व-विषयक

'व्यवसायात्मिका बुद्धि' और एकाग्रता नहीं उत्पन्न हो सकती[1]। **सांख्यकारिका** में वैदिक कर्मकाण्ड को 'अविशुद्धिक्षयातिशय-युक्त' कहा है (कारिका २)। हिंसात्मक वैदिक-कर्मकाण्ड के विरुद्ध ज्ञानमार्गियों की यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी।

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों में मोक्ष की धारणा का अभाव है। ब्राह्मण कर्मकाण्ड की दृष्टि केवल ऐहिक सुखों या स्वर्ग पर है। इसके विपरीत दार्शनिक-धारा के पक्षपाती मोक्ष या सांसारिक दुःखों से मुक्ति और आत्मा के अनन्त आनन्द में विश्वास रखते हैं। विष्णु और शिव के पक्षपातियों की पारस्परिक स्पर्द्धा और संघर्ष के मूल में विचारधाराओं का यही वैभिन्न्य हैं। **महाभारत** (शान्तिपर्व, अ० २८४) में जब दक्ष के यज्ञ में शिव का भाग न देख कर दधीचि क्रुद्ध होते हैं और इन शब्दों में दक्ष की भर्त्सना करते हैं—

नायं यज्ञो न वा धर्मो यत्र रुद्रो न इज्यते।
वधबन्धं प्रपन्ना वै, किन्नु कालस्य पर्ययः ?
किन्नु मोहान्न पश्यन्ति विनाशं पर्युपस्थितम् ?

शान्ति० २८४।२१,२२

तो इस पर दक्ष उत्तर देते हैं कि मैं शूलधारी एवं कपर्दी ग्यारह (वैदिक) रुद्रों को छोड़ कर अन्य किसी रुद्र को नहीं जानता। यह नया रुद्र (शिव) कौन है ? यज्ञ के स्वामी विष्णु है, उनके लिये यह किया जाता है, वे सबके स्वामी, सर्वत्र व्याप्त तथा अद्वितीय हैं। उनके लिये मैं स्वर्णपात्र में रख कर मन्त्रपूत हवि प्रदान करूँगा।

सन्ति नो बहवो रुद्राः शूलहस्ता कर्पादिनः।
एकादशस्थानगताः नाहं वेद्मि महेश्वरम् ॥२६।

---

१. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

—गीता २।४२-४४

एतत् मखेशाय सुवर्णपात्रे,
हविः समस्तं विधिमन्त्रपूतम् ।।
विष्णोर्नयाम्यप्रतिमस्य भागं ।
प्रभुर्विभुश्चाहवनीय एषः ।।३१।

महाभारत के उपर्युक्त श्लोक बहुत थोड़े अन्तर से **वायुपुराण** के ३०वें अध्याय में भी पाये जाते हैं। इन श्लोकों में जो भाव निहित हैं उसी की प्रतिध्वनि **श्रीमद्भागवत** (४।२।२१-३५) में दक्ष प्रजापति और उसके समर्थक महर्षि **भृगु** तथा शिव के गणेश्वर **नन्दी** के पारस्परिक शाप-प्रतिशाप में हुई है। किसी देव-सभा में आने पर शिव से सत्कार न पाकर **दक्ष** शिव को खरी-खोटी सुनाते हैं और यज्ञ में भाग न पा सकने का शाप देते हैं (सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः, श्लोक १८)। इस पर नन्दीश्वर शाप देते हैं कि दक्ष अपने शरीर को ही सब कुछ (अन्तिम सत्य) समझ कर तत्त्वज्ञान से सदा विमुख रहेगा। यह कपटधर्ममय गृहस्थाश्रम में रहकर तुच्छ, ऐहिक, विषय-भोगों की कामना से वैदिक-कर्मकाण्ड में सदा लीन रहेगा। इसकी बुद्धि सदा अज्ञान से आवृत रहेगी और यह अविद्या (कर्मकाण्डादि) को ही विद्या (मोक्षप्राप्ति का उपाय) समझेगा। इसलिये वह तथा इसके अनुयायी सदा जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहेंगे[1]। वेदों की ऊपर से बहुत सुन्दर ('पुष्पवती') दिखने वाली वाणी (कर्मकाण्ड) में फँस कर ये अपने को भूल जायेंगे[2] और ये यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण भी केवल पेट पालने के लिये वेदों का अध्ययन करके इधर-उधर घूम कर यज्ञ कराते हुए भक्ष्य-अभक्ष्य वस्तुएँ खायेंगे। हिन्दी के भावानुवाद में वह ओजस्विता और सशक्तता नहीं आ सकती जो संस्कृत के इन श्लोकों में है—

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि ।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिः तत्त्वतो विमुखो भवेत् ।।

---

१ तु० की०, **अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितंमन्यमानाः ।**
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।
मुण्डक० १।२।८

२. **भगवद्गीता** २।४२-४४ की ओर स्पष्ट संकेत है। देखिये पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी।

गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया ।
कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः ।
विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ जडः ।
संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम् ।
गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा ।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः सम्मुह्यन्तु हरद्विषः ।
सर्वभक्षा द्विजा वृत्यै धृतविद्या तपोव्रताः ।
वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह ॥

भाग० ४।२।२१-२६

कर्मकाण्ड की इस प्रकार निन्दा किये जाने पर महर्षि भृगु शिव के भक्तों को शाप देते हैं कि वे पाखंडी हो जाएँ, शरीर में भस्म, जटा तथा अस्थियाँ धारण किये रहें, अपवित्र और अशुद्ध रूप में सर्वत्र विचरण करें और मदिरा आदि का पान करें। यज्ञ और ब्राह्मण संसार का धारण करने वाले सेतु हैं। कर्मकाण्ड वह मार्ग है जिस पर हमारे सारे पूर्वज चलते आये हैं और जिसके संस्थापक स्वतः भगवान् विष्णु हैं। अतः उनकी निन्दा करने से तुम पाखंडी और मार्गभ्रष्ट हो जाओ—

नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः ।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ।।
ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ ।
सेतुं विधारणं पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः ॥
एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः ॥
यं पूर्वे चानुसंतस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः ।

भाग० ४।२।३०-३२

उपर्युक्त उद्धरणों से शिव और विष्णु के अनुयायियों का निर्भ्रान्त रूप से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति मार्ग से सम्बन्ध सूचित होता है। इस सम्बन्ध के अनेक स्पष्ट उल्लेख आगे भी प्राप्त होते हैं, विशेषतः पार्वती द्वारा की गई अपने पिता की भर्त्सना में। उनके द्वारा कहा गया निम्नलिखित श्लोक इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है—

मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता ।
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः ॥
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता ।
अव्यक्तलिंगा अवधूतसेविताः ॥ ४।४।२१

"पिताजी, हमारा ऐश्वर्य अव्यक्त है। आत्मज्ञानी महात्मा जन ही उसका सेवन कर सकते हैं। वैसा ऐश्वर्य आपके पास नहीं है। आपका वैभव यज्ञ-शाला तक ही सीमित है। अन्न से तृप्त होकर अपना पेट पालने वाले धूममार्गी कर्मचारी (अध्वर्यु) ही उसकी स्तुति करते हैं। वे हमारे ऐश्वर्य (ब्रह्मज्ञान) की प्रशंसा कभी नहीं कर सकते।"

भाग० ४।४।१३, १५, १९, २०; ४।६।३५, ३९, ४१ तथा ४।७।१४, २७, ३० आदि श्लोक भी इस सम्बन्ध में अवलोकनीय हैं।

वायुपुराण १०।६५ में कहा गया है कि ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस्या, सत्य, क्षमा, धृति, सृष्टि-योग्यता, शासनगुण और आत्म-संबोध, ये दस गुण शिव में सदा वर्तमान रहते हैं। इसी अध्याय में आगे शिव को परम योगी के रूप में चित्रित किया गया है और उनके द्वारा प्रतिपादित माहेश्वर या पाशुपत योग के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। पाशुपत-योग के पाँच मुख्य स्तम्भ हैं, प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण। आगे के दस अध्यायों में (११-२०) इन्हीं सूक्ष्म यौगिक क्रियाओं को अत्यन्त विस्तार से समझाया गया है और शिव को परम योगीश्वर से रूप में चित्रित किया गया है जो अज और अव्यक्त हैं किन्तु त्रिगुणमयी माया से युक्त होकर जगत् की सृष्टि करते हैं। वे चिन्मय परमेश्वर हैं, प्रकृति और पुरुष का संयोग करा कर भी वे स्वतः असंपृक्त रहते हैं, क्योंकि वे मायाधिपति हैं। वायु पुराण के इन अध्यायों से स्पष्ट अवभासित होता है कि सांख्य एवं योग के सिद्धान्त को मानने वाले योगि-वर्ग में शिव, संसार की सर्वोच्च शक्ति के

---

१. सम्भवतः शिवानुयायियों का मत था कि मनुष्य अपने कर्म से दुःख-सुख प्राप्त करता है, स्वर्ग एवं नरक आदि भी कर्म से ही प्राप्त होते हैं। अतः आचरण शुद्ध न करके कर्म-काण्ड आदि बाह्य उपायों से सुख की कामना करना व्यर्थ है। ब्रह्मपुराण के निम्न श्लोकों से इसका कुछ संकेत मिलता है—

कर्मणस्तु प्रधानत्वमुवाच त्रिपुरान्तकः।
क्रियारूपं च तज्ज्ञानं क्रिया सर्वं तदुच्यते।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि कर्मणा सिद्धिमाप्नुयुः॥

ब्रह्म० पु० १४५।८।९

रूप में मान्य थे । ब्रह्म पुराण में लोहितकृष्णशुक्ल रूपी रजस्तमःसत्त्व-गुणात्मक माया को शिव की शक्ति बताया है—

अजैका या समाख्याता कृष्णलोहितरूपिणी ।
माहेश्वरी महामाया प्रभावेणातिदर्पिता: ॥ ३४।१०

रुद्र द्वारा त्रिपुर-विनाश

इस लंबे प्रसंग को यहीं समाप्त करके हम रुद्र से सम्बन्धित एक अन्य वैदिक कथा पर आते हैं । महाकाव्यों तथा पुराणों में रुद्र का **त्रिपुरान्तक** या त्रिपुरारि विशेषण अत्यन्त सामान्य है । यह विशेषण उन्हें असुरों की तीन पुरियों को नष्ट करने पर मिला है जो क्रमशः लौह, रजत तथा स्वर्ण से निर्मित थीं । इस कथा का प्रारंभिक रूप अनेक ब्राह्मणों तथा कृष्ण-यजुर्वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है, विशेषतः **तै० सं०** ६।२।३, **मै० सं०** ३।८।१, **कठ० सं०** २४।१०, **कपि० सं०** ३८।३, **श० ब्रा०** ३।४।४।३-२० तथा **ऐ० ब्रा०** १।४।६।८ में यह कथा सोमयाग से सम्बन्धित **उपसद्** नामक कृत्य-विशेष की व्याख्या में कही गई है ।

ऐतरेय तथा शतपथ में इस कथा का प्राचीनतम रूप प्राप्त होता है । यहाँ कहा गया है कि एक बार असुरों ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में तीन दुर्ग बनाये जो क्रमशः लोहे, चाँदी तथा सोने के थे.... देवों ने उपसदों का सहारा लिया.... प्रथम उपसद् से उन्होंने उनको पृथ्वी के दुर्ग से भगा दिया, द्वितीय के द्वारा अन्तरिक्ष से और तृतीय के द्वारा आकाश से.... उपसदों ने देवों के लिये बाण का काम किया । अग्नि उस बाण की नोक थी, सोम फाल (शल्य), विष्णु शलाका एवं वरुण पत्र । घी से उन्होंने धनुष का काम लिया....

देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त । ते वा असुरा इमान् एव लोकान् पुरो अकुर्वत यथा ओजीयांसो बलीयांस एव एवं ते वा अयस्मयीम् एव इमाम् अकुर्वत रजतामन्तरिक्षं हरिणीं दिवं,....ते देवा अब्रुवन् उपसद उपयामः, उपसदा वै महापुरं जयन्ति....ते यामेव प्रथमामुपसदमुपायंस्तया एव एनान् अस्मात् लोकात् अनुदन्त, यां द्वितीयां तया अन्तरिक्षात् यां तृतीयां तया दिवः ।

इषुं व एतां देवा समस्कुर्वत यदुपसदः। तस्या अग्निरनीकमासीत् सोमः शल्यो, विष्णुस्तेजनं वरुणः पर्णानि। ताम् आज्यधन्वानो व्यसृजन्.....।

ऐ० ब्रा० १।४।६।८

इस कथा की कर्मकाण्डीय व्याख्या अत्यन्त सरल है। प्राचीन वैदिक विश्वास के अनुसार असुर-गण पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं आकाश में रह कर यज्ञ में विघ्न उपस्थित करते हैं। उपसद् शब्द का अर्थ होता है **घेरा**। सेना के द्वारा किसी दुर्ग के चारों ओर घेरा डाल कर जिस प्रकार उसे जीता जा सकता है (उपसदा वै महापुरं जयन्ति) उसी प्रकार इन यज्ञिय उपसदों से भी देवों ने असुरों के दुर्गों को जीता। उपसद् शब्द में यहाँ श्लेष है। यज्ञिय कृत्यों की ऐसी व्याख्यायें ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रचुरतया उपलब्ध होती हैं—

त एताभिः उपसद्भिः उपासीदन् (असुरनिर्गमनप्रतिबन्धात् त्रीणि पुराण्यावृत्य न्यवसन्नित्यर्थः, सायण) **यदुपासीदन् तस्मादुपसदो नाम। ते पुरः प्राभिन्दन् इमान् लोकान् प्राजयन्। तस्मादाहुः उपसदा पुरं जयन्तीति। यदहोपासते तेनेमां मानुषीं पुरं जयन्ति।**

श० ब्रा० ३।४।४।४

उपसदों के कृत्य की प्रमुख क्रिया अग्नि, सोम तथा विष्णु के लिये घृत-युक्त हवि प्रदान करना है। श० ब्रा० का मत है कि जो इन तीन देवों के लिये यज्ञ करता है[1] वह मानों एक वज्र का निर्माण करता है। इस वज्र की नोक अग्नि होती है, शल्य सोम, तथा कुल्मल (शलाका) विष्णु। इससे वह अपने शत्रुओं को जीतता है (**यदेता देवता यजति वज्रमेवैतत् संस्करोति अग्निमनीकम्....** ३।४।४।१४)।

---

१. हवि प्रदान करते सयय इन देवताओं के लिये क्रमशः '**अग्निर्वृत्राणि जंघनद्**'/'**य उग्र इव शर्यहा**' (ऋ० वे० ६।१६।३४, ३९) '**त्वं सोमासि सत्पतिः**'/'**गयस्फानो अमीवहाः**' (ऋ० वे० १।९१।५, १२) '**इदं विष्णुर्विचक्रमे**'/'**त्रीणिपदा विचक्रमे**' (ऋ० वे० १।२२।१७,१८) आदि मन्त्रयुग्म बोले जाते है। देखिये ३।४।४।२ का सायण भाष्य तथा आश्व० श्रौ० सू० ५।८, शां० श्रौ० सू० ५।११ एवं का० श्रौ० सू० ८।३३।३४॥

शुक्ल य० वे० ५।८ में अग्नि की अयस्, रजस् तथा हरि में स्थित मूर्तियों का वर्णन किया गया है—**या ते अग्ने अयःशया''''रजःशया''''हरिशया'''' तनूः वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत्।** अग्नि की ये तीन मूर्तियाँ पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में स्थित उसके अग्नि, विद्युत् तथा सूर्य रूप ही हैं। रजः शब्द यद्यपि यहाँ रजत का वाची है किन्तु यह शब्द ऋक् तथा यजुर्वेद में अन्तरिक्ष के लिये भी प्रयुक्त हुआ है[1]। तीव्र श्वेत प्रकाश से युक्त होने के कारण ही अग्नि की द्वितीय मूर्ति रजतमय है। सूर्य तथा सविता को ऋग्वेद में प्रायः हिरण्यवर्ण, हिरण्यबाहु तथा हिरण्यपाणि आदि कहा गया है[2]। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में सूर्य का वर्ण स्वर्ण के समान था। अतः अग्नि की वह मूर्ति **हरिशया** है ('हरि' का मूल अर्थ पीत या हरित-वर्ण है। वर्णसाम्य से स्वर्ण भी हरि-शब्द-वाच्य है)। **अयस्** शब्द का परवर्ती साहित्य में लौह अर्थ मिलता है किन्तु कीथ के अनुसार यह शब्द वैदिक साहित्य में कांस्य को द्योतित करता है। **वा० सं०** १८।१३ में लौह तथा श्याम आदि धातुओं के साथ अयस् का परिगणन दोनों की भिन्नता सूचित करता है[3]। **ऋ० वे०** १।८८।५ तथा १०।८७।२ में अग्नि की ज्वालाओं को दृष्टि में रख कर उसे **अयोदंष्ट्र** कहा गया है। अग्नि की कांस्य, रजत तथा स्वर्ण में स्थित इन्हीं मूर्तियों की धारणा ने दैत्यों के अयस्, रजत तथा स्वर्ण-मय दुर्गों की कल्पना को जन्म दिया है।

ऐ० ब्रा० तथा **श० ब्रा०** के उपर्युक्त उद्धरणों में रुद्र का कोई उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह भी है कि इनमें उपसदों की केवल कर्मकाण्डीय व्याख्या दी हुई है, उसका कथात्मक रूप अभी अविकसित ही है। **तै० सं०** में यह प्रसंग एक छोटी सी कथा का रूप धारण करता है। **ऐ० ब्रा०** तथा **श० ब्रा०** का बाण एवं धनुष प्रतीकात्मक है। किन्तु यहाँ रुद्र असुरों के इन दुर्गों के प्रमुख नाशक के रूप में उपस्थित होते हैं। रुद्र को यह काम सौंपा जाना

---

१. देखिये, मैक्डानल तथा कीथ : **वैदिक इंडेक्स**, द्वितीय भाग, पृ० १९८, (रजस्)।

२. देखिये, पीछे पृ० २२५, २३१।

३ **वही**, प्रथम भाग, पृ०, ३१ (अयस्)।

स्वाभाविक है क्योंकि **मैत्रा० सं०** के शब्दों में वे देवों में 'क्रूरतम' हैं (३।८।१)। देवों से 'पशुपति' होने का वर प्राप्त करके रुद्र अग्नि-विष्णु-सोमात्मक उपसद्-बाण छोड़ते हैं। **तै० सं०** की कथा इस प्रकार है—

तेषामसुराणां तिस्रः पुर आसन् अयस्मय्यवमाथ रजता अथ हरिणी। ता देवा जेतुं नाशक्नुवन् ता उपसदैवाजिगीषन्'''ते इषुं समस्कुर्वत अग्निमनीकं सोमं शल्यं विष्णुं तेजनम्। ते अब्रुवन् क इमाम् असिष्यति? रुद्रः इत्यब्रुवन्। रुद्रो वै क्रूरः। सः अस्यतु इति। सः अब्रवीद् वरं वृणा'''अहमेव पशूनामधिपतिः असानि'''रुद्र अवासृजत् स तिस्रः पुरो भित्त्वा एभ्यो लोकेभ्य असुरान् प्राणुदत्।

तै० सं० ६।२।३

तै० सं० इन पुरों (त्रिलोकी) से केवल असुरों के भगा दिये जाने का उल्लेख करती है किन्तु **मै० सं०** का कथन है कि रुद्र के बाण से उन तीनों दुर्गों में आग लग गई और वे नष्ट हो गये—

'''त्वां वै रुद्रो व्यसृजत्। एष हि देवानां क्रूरतमः। तया इमाः पुरः अभिनत् अग्निना वै स तास्तेजसा अभिनत्।

मै० सं० ३।८।१

महाभारत में त्रिपुरदाह की यह कथा शिव के गुणों के वर्णन में दो स्थानों पर प्राप्त होती है। **कर्ण-पर्व** के ३३वें तथा ३४वें अध्यायों में और **अनुशासन-पर्व** १६०।२५-३१ में। अनु०-पर्व की कथा केवल सात श्लोकों में कही गई है और अधिकांशतः तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी संहिताओं में प्राप्य उपर्युक्त उद्धरणों पर ही आधारित है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ रुद्र के बाण का पुंख **यम** बनते हैं। **वेद** धनुष हैं और **गायत्री** धनुष की प्रत्यञ्चा। उनका सारथ्य ब्रह्मा जी करते हैं—

असुराणां पुराण्यासन् त्रीणि वीर्यवतां दिवि।
आयसं राजतं चैव सौवर्णमपि चापरम्॥
नाशकत् तानि मघवा भेत्तुं सर्वायुधैरपि।
अथ सर्वे महारौद्रं जग्मुः शरणमर्दिताः॥
तत ऊचुर्महात्मानो देवाः सर्वे समागताः।

रुद्र रौद्राः भविष्यन्ति पशवः सर्वकर्मसु ॥
जहि दैत्यान् सह पुरैः लोकांस्त्रायस्व मानद ।
स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा कृत्वा विष्णुं शरोत्तमम् ॥
शल्यमग्निं तथा कृत्वा पुंखं वैवस्वतं यमम् ।
वेदान् कृत्वा धनुः सर्वान् सावित्रीं ज्यां तथैव च ॥
ब्रह्माणं सारथिं कृत्वा विनियुज्य स सर्वशः ।
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन काले तानि बिभेद सः
शरेणादित्यवर्णेन कालाग्निसमतेजसा ।
तेऽसुराः सपुरास्तत्र दग्धः रुद्रेण भारत ॥

महा० अनु० १६०।२५-३१

कर्ण पर्व के दो अध्याओं (३३, ३४) में प्राप्त होने वाली कथा परवर्ती ग्रन्थकारों के पल्लवन-कौशल की सुन्दर परिचायिका है। **तारकासुर** के **ताराक्ष, कमलाक्ष** और **विद्युन्माली** नामक पुत्र तपस्या से ब्रह्मा को सन्तुष्ट करके यह वर माँगते हैं कि हम धातुमय नगरों में रहते हुए आकाश मार्ग में सर्वदा विचरण करते रहें। एक सहस्र वर्षों में एक बार ये पुर आपस में मिलें और तब जो कोई एक बाण से ही उनका विनाश कर सके वही हमारा नाशक हो। **मय** से उन्होंने लौह, रजत तथा स्वर्णमय तीन नगरों का निर्माण कराया और उसमें अपने अन्य दैत्य साथियों के साथ मिलकर देवों तथा ऋषियों को कष्ट देने लगे। ताराकाक्ष के पुत्र **हरि** ने तपस्या के द्वारा वर प्राप्त करके उन पुरों में एक ऐसे अमृतमय सरोवर का भी निर्माण किया जिसमें डालने से मृत दैत्य भी जीवित हो उठते थे। जब इन्द्र अपनी सेना के साथ आक्रमण करके भी उन पुरों का कुछ नहीं बिगाड़ सके तो वह ब्रह्मा जी के पास गये। ब्रह्मा ने उन्हें बताया कि केवल शिव में ही उन पुरों का विनाश करने की सामर्थ्य है। शिव को इस कर्म के लिये सहमत करके देवों ने उनके लिये विचित्र युद्ध-सामग्रियाँ प्रस्तुत कीं। बड़े बड़े नगरों और ग्रामों से युक्त, पर्वत, वन तथा द्वीपों से व्याप्त पृथ्वी ही रथ थी। उसमें इन्द्र, वरुण, यम तथा कुबेर रूपी चार लोकपाल घोड़े थे। ब्रह्मदण्ड, कालदण्ड, रुद्रदण्ड तथा ज्वर को शिव ने आयुधों के रूप में प्रयुक्त किया। छः ऋतुओं से युक्त संवत्सर धनुष बना, शिव की छाया प्रत्यंचा तथा विष्णु, चन्द्रमा एवं अग्नि बाण बने

जब निश्चित समय पर वे तीनों पुर एक सीध में आ गये तो शिव ने अपने बाण से उन्हें दग्ध कर दिया[1]।

किन्तु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक विस्तार से यह कथा **मत्स्यपुराण** में प्राप्त होती है। यहाँ १२८वें अध्याय से लेकर १३९वें अध्याय तक पूरे बारह अध्यायों तथा ६२६ श्लोकों में एक खण्ड-काव्य के रूप में जो इस कथा का मनोरम तथा काव्यात्मक वर्णन किया गया है वह सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य में अद्वितीय है। अत्यधिक विस्तार के कारण यहाँ वर्णित कथा का महाभारत अथवा वैदिक संहिताओं की कथा से तुलना करना सम्भव नहीं है। किन्तु इसके दो-तीन काव्यात्मक श्लोकों को यहाँ उद्धृत किया जाता है। १३८।२२-२४ में त्रिपुर में होने वाली विलास-केलि के प्रसंग में श्रृंगार रस का तथा १३९।५८-७५ में अग्नि के द्वारा जलाये जाने पर त्रिपुरसुन्दरियों के प्रलाप में करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। आग लग जाने पर त्रिपुर में बने प्रासादों के शिखर टूट-टूट कर मानो अग्नि से अपनी रक्षा करने के लिये पश्चिम समुद्र में गिर रहे थे—

दग्धानि दग्धानि गृहाणि तत्र पतन्ति रक्षार्थमिवार्णवौघे ॥१३९।७०

घर की सम्पूर्ण वस्तुओं को भस्मसात् करती हुई अग्नि जब एक स्त्री के पास तक पहुँचती है तो वह सुन्दरी आँखों में आँसू भर कर अग्निदेव से कहती है—हे अग्निदेव, तुम तो स्वयं धर्म के साक्षी माने जाते हो, मैं किसी दूसरे की पत्नी हूँ, मेरा स्पर्श मत करो। दूसरी कहती है—मैं अभी-अभी अपने पति को सुला कर आई हूँ, केवल थोड़ी देर के लिये तुम मेरे घर को छोड़ दो; उन्हें थोड़ा सा विश्राम कर लेने दो। तीसरी अपने पुत्र को गोद में लेकर अग्नि से कहती है—मैं अपने इस प्राणप्रिय पुत्र को बड़े कष्टों से प्राप्त कर

---

१. युद्ध की इस विचित्र तैयारी और असामान्य उपकरणों के सम्बन्ध में एक शिवभक्त के निम्न उद्गार कितने सार्थक हैं—

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथांगे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधिः ?
विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥

—शिवमहिम्नस्तोत्र

सकी हूँ। हे कार्त्तिकेय के वल्लभ, मेरे इस प्यारे, छोटे से बच्चे को मत जलाओ—

उवाच शतपत्राक्षी साक्षाक्षीव कृताञ्जलिः ।
हव्यवाहन, भार्याहं परस्य परतापन ।।
धर्मसाक्षी त्रिलोकस्य न मां स्प्रष्टुमिहार्हसि ।
शायितं च मया देव अधुनैव शिवप्रभ ॥
मुहूर्तं प्रेहि मुक्त्वेदं गृहं च दयितं च मे ।।
एकः पुत्रकमादाय बालकं दानवांगना ।
हुताशनसमीपस्था इत्युवाच हुताशनम् ।।
बालोऽयं दुःखलब्धश्च मया पावक पुत्रकम् ।
नार्हस्येनमुपादातुं दयितं षण्मुखप्रिय ।। १३८।६१-६४

कष्ट चाहे मानव-स्त्रियों का हो, चाहे दानव-वधूटियों का; अपना हो या शत्रुओं का; भावनाएँ, संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ सब की एक सी होती हैं[1]।

श्रीमद्भागवत ७।१०।५१-७० में वर्णित त्रिपुरदाह की कथा में महाभारत की अपेक्षा कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि यहाँ विष्णु भगवान् एक गौ का रूप धारण करके, ब्रह्मा जी को बछड़ा बना कर, दैत्यों को अपनी माया से विमोहित करते हुए त्रिपुर में मय द्वारा निर्मित अमृतयुक्त-बावली का पान कर जाते हैं जिससे असुर असहाय हो जाते हैं और शिव का कार्य सरल हो जाता है।

---

१. **ध्वन्यालोक** के द्वितीय उद्योत में ईर्ष्याविप्रलम्भ-जन्य रसाभास के उदाहरण के रूप में उद्धृत **अमरुकशतक** का निम्न मंगलाचरण-श्लोक शिव के शर से उत्पन्न अग्नि को एक धीरललित नायक के रूप में चित्रित करता है जो मानिनी, खंडिता नायिकाओं के समीप आते ही उनके द्वारा झिटक दिया जाता है—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ।।

शिव का त्रिशूल

वैदिक ग्रन्थों में शिव का प्रमुख अस्त्र धनुष है, किन्तु परवर्ती साहित्य में उसका स्थान **त्रिशूल** ने ले लिया है। यद्यपि पिनाक और पाशुपतास्त्र की यहाँ भी चर्चा हुई है और शिव धनुर्विद्या के आचार्य भी माने गये हैं (**रामा०** बाल० ५४।१२-१८ में विश्वामित्र तथा **महा०** वन० ४०।८-२१ में अर्जुन शिव की कृपा से धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करते हैं), किन्तु उनका सर्वाधिक प्रिय शस्त्र त्रिशूल ही है। ऊपर उल्लिखित **महा०** अनु० १६०।३० के उद्धरण में शिव के बाण को 'त्रिपर्वन्' तथा 'त्रिशल्य' कहा गया है। शिव के इस त्रिशूल के रहस्य का उद्घाटन **तै०** सं० ५.५.६ से होता है। यहाँ कहा गया है कि अग्नि ही रुद्र है। उसके तीन शूल हैं। एक वह जो ऊपर से मनुष्यों पर गिरता है (तडित्), दूसरा वह जो तिरछा आघात करता है (आकाश में पूर्व से पश्चिमगामी सूर्य) तथा तीसरा वह जो नीचे से ऊपर की ओर जाता है (ऊर्ध्वज्वलन अग्नि)—

> **रुद्रो वा एष यदग्निः तस्य तिस्रः शरव्याः प्रतीची, तिरश्ची, अनूची। ताभ्यो वा एष आवृश्च्यते ॥**

शिव सम्बन्धी अन्य कथाएँ

रुद्र के सम्बन्ध में अन्य किसी महत्त्वपूर्ण पौराणिक कथा के मूल स्रोत का सूत्र वैदिक साहित्य तक नहीं जाता। **मदन-दहन** की कथा[1], जिसमें इन्द्र शिव को पार्वती के प्रति आसक्त कराने के लिये कामदेव को भेजते हैं जिसे शिव अपनी तपस्या में विघ्न डालने के कारण क्रुद्ध होकर तृतीय नेत्र से भस्म कर देते है, सम्भवतः शिव के परमयोगित्व को व्यक्त करने तथा उनको कामादि विकारों के पूर्ण स्वामी सिद्ध करने के लिये निर्मित की गई है। पर यहाँ स्मरणीय है कि रामायण में मदन-दहन का जो संक्षिप्त वृतान्त है उसमें पार्वती से शिव का सम्बन्ध या इन्द्र का आदेश आदि कुछ भी वर्णित नहीं है। मरुद्गण के साथ जाते हुए शिव को दुर्बुद्धि काम, स्वेच्छा से व्याकुल करने की चेष्टा करता है और उसका उचित दण्ड भी पाता है[2]।

---

१. **मत्स्य पु०** १५४।२४७ तथा आगे, **सौर पु०** १५३, **ब्रह्म पु०** ७१।

२. **कन्दर्पो मूर्तिमानासीत् काम इत्युच्यते बुधैः।**
तपस्यन्तमिह स्थाणुं नियमेन समाहितम्।
कृतोद्वाहं तु देवेशं गच्छन्तं समरुद्गणम्।

शिव के द्वारा गंगा को धारण करने की कथा हिमालय से गंगा नदी के उद्गम का ही रूपकात्मक वर्णन है। **श्रीमद्भागवत** ९।९ में इसका विस्तार से वर्णन है। ब्राह्मणग्रन्थों में रुद्र को उत्तर दिशा की ओर रहने वाला बताया गया है और शतरुद्रिय में पर्वतों पर रहने वाला। अतः पुराणों में कैलास पर्वत ही उनका विशेष निवास स्थान है। दक्षिण से उत्तर की ओर फैली हुई दुग्धधवल आकाश-गंगा ही स्वर्ग में प्रवाहित होने वाली देवनदी गंगा है जो विष्णु के तृतीय पदक्रम के समय ब्रह्माण्ड कटाह के फूट जाने से उत्पन्न हुई थी और जो भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर मनुष्य लोक का कल्याण करने के लिये पृथ्वी तल पर अवतीर्ण हुई (**भागवत०** ५।१७।१)।

मत्स्य० (१७ अ०) **वराह०** (२७ अ०) तथा **सौर०** (२९ अ०) में शिव द्वारा **अन्धकासुर** के दलन का भी वर्णन है। म्यूर का मत है कि यह अन्धक वैदिक **अर्द्धक** ही है। **अ० वे०** ११।२।७ में रुद्र को 'अर्धकघाती' कहा गया है। इसी का पौराणिक रूप अन्धक या **अन्तक** (**कूर्म० पु०** ३६ अ०) है[1]। पर **अ० वे०** में रुद्र की राक्षसों के हन्ता के रूप में बिलकुल प्रसिद्धि न होने के कारण तथा इस संहिता में केवल शम्बर, नमुचि आदि कुछ प्रमुख असुरों का ही नामतः उल्लेख होने के कारण अर्धक एवं अन्धक में सम्बन्ध ढूँढ़ना उचित नहीं है। **मत्स्य पु०** में कहा गया है कि शिव के साथ जब अन्धक का युद्ध हुआ तो उसके शरीर से गिरने वाली रक्त की प्रत्येक बूँद एक नया राक्षस बन जाती थी अतः उसके रक्त बिन्दुओं का पान करने के लिये शिव ने अनेक **मातृकाओं** (लोकविश्वास की देवियों) को उत्पन्न किया। अन्धक की यही विशेषता आगे चल कर **रक्तबीज** राक्षस की धारणा के रूप में विकसित हुई है जिसे दुर्गा ने मारा[2]।

शिव तथा लिंगपूजा

महाभारत तथा **पुराणों** में शिवोपासना का सर्वप्रमुख अंग लिंग-पूजा है।

धर्षयामास दुर्मेधा, हुंकृतश्च महात्मना।
अवदग्धश्च रौद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन॥

१. म्यूर, **ओ० सं० टै०**, भा० ४, पृ० ३३६ (टिप्पणी ७४) तथा पृ० ४२७ (टिप्पणी ४६)।

२. **मार्कण्डेय पुराण** (देवीमाहात्म्य), अध्याय ८८ (=दुर्गासप्तशती, अ० ८)।

लिंग के मौलिक स्वरूप के विषय में विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है[1]। यद्यपि रुद्र के अग्नि से प्राचीन सम्बन्ध की दृष्टि से तथा कुछ विशेष माहात्म्य-पूर्ण लिंगों के लिये प्रयुक्त **ज्योतिर्लिंग** शब्द से कुछ विद्वानों का कथन है कि लिंग अग्नि-शिखाओं का प्रतीक है, तो भी महाभारत तथा पुराणों में ऐसे पर्याप्त संकेत मिलते हैं जिनसे इनका जननेन्द्रिय से सम्बन्ध प्रतीत होता है। **महा०** अनु० २२।८५,९० में **उपमन्यु** इन्द्र से शिव के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण यह भी बताता है कि ब्रह्मा और विष्णु भी उनके लिंग की पूजा करते हैं (तु० की०, मत्स्य १५३।३५०, पार्वती का सप्तर्षियों से कथन)। **सौर** पु० अ० ६९ तथा **ब्रह्माण्ड** पु० २।२७।१०-१२६ आदि में एक कथा आती है जिसके अनुसार शिव एक बार ऊर्ध्वमेढ़ू अवस्था में ऋषियों के आश्रम में विचरण करने लगे। ऋषिगण अत्यन्त क्षुब्ध हुए। उनके शाप से शिव के लिंग का पतन हो गया। बाद में ब्रह्मा जी के कथनानुसार ऋषियों ने शिव के लिंग की पूजा आरम्भ की।

आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व भारत के पश्चिमी भूभाग से लेकर ईरान, ईराक (मेसोपोटामिया), तुर्की, सीरिया एवं मिस्र तक लगभग एक ही प्रकार की मानव-सभ्यता फैली हुई थी। विविध जातियों के देवी-देवताओं के नामों में वैभिन्न्य होते हुए भी इस सभ्यता से प्रभावित क्षेत्र की धार्मिक परम्पराओं में प्रायः समानता थी। इन्हीं बहुदेश-व्यापी धार्मिक परम्पराओं में लिंग (एवं योनि-) पूजा भी एक थी।

सृष्टि का निर्माण करने वाली सर्वोच्च शक्ति या ईश्वर की पिता के रूप में परिकल्पना करके लिंग को उसके प्रतीक के रूप में पूजा जाता था। मूलतः लिंग किसी देवता-विशेष से सम्बद्ध नहीं था; वह सृष्टि-कर्ता का, विश्व के निर्माता का प्रतीक था। विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में लिंगपूजा भिन्न-भिन्न देवों से सम्बद्ध रही है। पर-वैदिक काल में संसार का निर्माण एवं उसका नियमन करने वाली सर्वोच्च शक्ति का नाम था : ईशान, महादेव

---

१. विशेषतः, सी० वी० अय्यर, **ओरिजिन एंड अर्ली हिस्टरी आफ् शैविज्म इन् साउथ इण्डिया**। जार्ज स्काट : **फैलिक वर्शिप**, लंदन १९४१। करमारकर : **रिलीजन्स आफ् इंडिया : प्रथम भाग** (द्रविडियन सिस्टम्स)। ओ० ए० वाल् : **सेक्स एण्ड सेक्स वर्शिप इन् दि वर्ल्ड**, पुनर्मुद्रण, दिल्ली १९७९।

शुक्ल य० वे० ५।८ में अग्नि की अयस्, रजस् तथा हरि में स्थित मूर्तियों का वर्णन किया गया है—**या ते अग्ने अयःशया''''रजःशया''''हरिशया'''' तनूः वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत्।** अग्नि की ये तीन मूर्तियाँ पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में स्थित उसके अग्नि, विद्युत् तथा सूर्य रूप ही हैं। रजः शब्द यद्यपि यहाँ रजत का वाची है किन्तु यह शब्द ऋक् तथा यजुर्वेद में अन्तरिक्ष के लिये भी प्रयुक्त हुआ है[1]। तीव्र श्वेत प्रकाश से युक्त होने के कारण ही अग्नि की द्वितीय मूर्ति रजतमय है। सूर्य तथा सविता को ऋग्वेद में प्रायः हिरण्यवर्ण, हिरण्यबाहु तथा हिरण्यपाणि आदि कहा गया है[2]। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में सूर्य का वर्ण स्वर्ण के समान था। अतः अग्नि की वह मूर्ति **हरिशया** है ('हरि' का मूल अर्थ पीत या हरित-वर्ण है। वर्णसाम्य से स्वर्ण भी हरि-शब्द-वाच्य है)। **अयस्** शब्द का परवर्ती साहित्य में लौह अर्थ मिलता है किन्तु कीथ के अनुसार यह शब्द वैदिक साहित्य में कांस्य को द्योतित करता है। **वा० सं०** १८।१३ में लौह तथा श्याम आदि धातुओं के साथ अयस् का परिगणन दोनों की भिन्नता सूचित करता है[3]। **ऋ० वे०** १।८८।५ तथा १०।८७।२ में अग्नि की ज्वालाओं को दृष्टि में रख कर उसे **अयोदंष्ट्र** कहा गया है। अग्नि की कांस्य, रजत तथा स्वर्ण में स्थित इन्हीं मूर्तियों की धारणा ने दैत्यों के अयस्, रजत तथा स्वर्ण-मय दुर्गों की कल्पना को जन्म दिया है।

ऐ० ब्रा० तथा **श० ब्रा०** के उपर्युक्त उद्धरणों में रुद्र का कोई उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह भी है कि इनमें उपसदों की केवल कर्मकाण्डीय व्याख्या दी हुई है, उसका कथात्मक रूप अभी अविकसित ही है। **तै० सं०** में यह प्रसंग एक छोटी सी कथा का रूप धारण करता है। **ऐ० ब्रा०** तथा **श० ब्रा०** का बाण एवं धनुष प्रतीकात्मक है। किन्तु यहाँ रुद्र असुरों के इन दुर्गों के प्रमुख नाशक के रूप में उपस्थित होते हैं। रुद्र को यह काम सौंपा जाना

---

१. देखिये, मैक्डानल तथा कीथ : **वैदिक इंडेक्स**, द्वितीय भाग, पृ० १९८, (रजस्)।

२. देखिये, पीछे पृ० २२५, २३१।

३ **वही**, प्रथम भाग, पृ०, ३१ (अयस्)।

स्वाभाविक है क्योंकि **मैत्रा० सं०** के शब्दों में वे देवों में 'क्रूरतम' हैं (३।८।१)। देवों से 'पशुपति' होने का वर प्राप्त करके रुद्र अग्नि-विष्णु-सोमात्मक उपसद्-बाण छोड़ते हैं। **तै० सं०** की कथा इस प्रकार है—

> **तेषामसुराणां तिस्रः पुर आसन् अयस्मय्यवमाथ रजता अथ हरिणी। ता देवा जेतुं नाशक्नुवन् ता उपसदैवाजिगीषन्...ते इषुं समस्कुर्वत अग्निमनीकं सोमं शल्यं विष्णुं तेजनम्। ते अब्रुवन् क इमाम् असिष्यति? रुद्रः इत्यब्रुवन्। रुद्रो वै क्रूरः। सः अस्यतु इति। सः अब्रवीद् वरं वृणा...अहमेव पशूनामधिपतिः असानि...रुद्र अवासृजत् स तिस्रः पुरो भित्त्वा एभ्यो लोकेभ्य असुरान् प्राणुदत्।**
>
> तै० सं० ६।२।३

तै० सं० इन पुरों (त्रिलोकी) से केवल असुरों के भगा दिये जाने का उल्लेख करती है किन्तु **मै० सं०** का कथन है कि रुद्र के बाण से उन तीनों दुर्गों में आग लग गई और वे नष्ट हो गये—

> **...त्वां वै रुद्रो व्यसृजत्। एष हि देवानां क्रूरतमः। तया इमाः पुरः अभिनत् अग्निना वै स तास्तेजसा अभिनत्।**
>
> मै० सं० ३।८।१

महाभारत में त्रिपुरदाह की यह कथा शिव के गुणों के वर्णन में दो स्थानों पर प्राप्त होती है। **कर्ण-पर्व** के ३३वें तथा ३४वें अध्यायों में और **अनुशासन-पर्व** १६०।२५-३१ में। अनु०-पर्व की कथा केवल सात श्लोकों में कही गई है और अधिकांशतः तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी संहिताओं में प्राप्य उपर्युक्त उद्धरणों पर ही आधारित है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ रुद्र के बाण का पुंख **यम** बनते हैं। **वेद** धनुष हैं और **गायत्री** धनुष की प्रत्यञ्चा। उनका सारथ्य ब्रह्मा जी करते हैं—

> **असुराणां पुराण्यासन् त्रीणि वीर्यवतां दिवि।**
> **आयसं राजतं चैव सौवर्णमपि चापरम्॥**
> **नाशकत् तानि मघवा भेत्तुं सर्वायुधैरपि।**
> **अथ सर्वे महारौद्रं जग्मुः शरणमर्दिताः॥**
> **तत ऊचुर्महात्मानो देवाः सर्वे समागताः।**

रुद्र रौद्राः भविष्यन्ति पशवः सर्वकर्मसु ॥
जहि दैत्यान् सह पुरैः लोकांस्त्रायस्व मानद ।
स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा कृत्वा विष्णुं शरोत्तमम् ॥
शल्यमग्निं तथा कृत्वा पुंखं वैवस्वतं यमम् ।
वेदान् कृत्वा धनुः सर्वान् सावित्रीं ज्यां तथैव च ॥
ब्रह्माणं सारथिं कृत्वा विनियुज्य स सर्वशः ।
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन काले तानि बिभेद सः
शरेणादित्यवर्णेन कालाग्निसमतेजसा ।
तेऽसुराः सपुरास्तत्र दग्धः रुद्रेण भारत ॥

महा० अनु० १६०।२५-३१

कर्ण पर्व के दो अध्याओं (३३, ३४) में प्राप्त होने वाली कथा परवर्ती ग्रन्थकारों के पल्लवन-कौशल की सुन्दर परिचायिका है। **तारकासुर के ताराक्ष, कमलाक्ष** और **विद्युन्माली** नामक पुत्र तपस्या से ब्रह्मा को सन्तुष्ट करके यह वर माँगते हैं कि हम धातुमय नगरों में रहते हुए आकाश मार्ग में सर्वदा विचरण करते रहें। एक सहस्र वर्षों में एक बार ये पुर आपस में मिलें और तब जो कोई एक बाण से ही उनका विनाश कर सके वही हमारा नाशक हो। **मय** से उन्होंने लौह, रजत तथा स्वर्णमय तीन नगरों का निर्माण कराया और उसमें अपने अन्य दैत्य साथियों के साथ मिलकर देवों तथा ऋषियों को कष्ट देने लगे। ताराकाक्ष के पुत्र हरि ने तपस्या के द्वारा वर प्राप्त करके उन पुरों में एक ऐसे अमृतमय सरोवर का भी निर्माण किया जिसमें डालने से मृत दैत्य भी जीवित हो उठते थे। जब इन्द्र अपनी सेना के साथ आक्रमण करके भी उन पुरों का कुछ नहीं बिगाड़ सके तो वह ब्रह्मा जी के पास गये। ब्रह्मा ने उन्हें बताया कि केवल शिव में ही उन पुरों का विनाश करने की सामर्थ्य है। शिव को इस कर्म के लिये सहमत करके देवों ने उनके लिये विचित्र युद्ध-सामग्रियाँ प्रस्तुत कीं। बड़े बड़े नगरों और ग्रामों से युक्त, पर्वत, वन तथा द्वीपों से व्याप्त पृथ्वी ही रथ थी। उसमें इन्द्र, वरुण, यम तथा कुबेर रूपी चार लोकपाल घोड़े थे। ब्रह्मदण्ड, कालदण्ड, रुद्रदण्ड तथा ज्वर को शिव ने आयुधों के रूप में प्रयुक्त किया। छः ऋतुओं से युक्त संवत्सर धनुष बना, शिव की छाया प्रत्यंचा तथा विष्णु, चन्द्रमा एवं अग्नि बाण बने

जब निश्चित समय पर वे तीनों पुर एक सीध में आ गये तो शिव ने अपने बाण से उन्हें दग्ध कर दिया[1]।

किन्तु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक विस्तार से यह कथा **मत्स्य-पुराण** में प्राप्त होती है। यहाँ १२८वें अध्याय से लेकर १३९वें अध्याय तक पूरे बारह अध्यायों तथा ६२६ श्लोकों में एक खण्ड-काव्य के रूप में जो इस कथा का मनोरम तथा काव्यात्मक वर्णन किया गया है वह सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य में अद्वितीय है। अत्यधिक विस्तार के कारण यहाँ वर्णित कथा का महाभारत अथवा वैदिक संहिताओं की कथा से तुलना करना सम्भव नहीं है। किन्तु इसके दो-तीन काव्यात्मक श्लोकों को यहाँ उद्धृत किया जाता है। १३८।२२-२४ में त्रिपुर में होने वाली विलास-केलि के प्रसंग में शृंगार रस का तथा १३९।५८-७५ में अग्नि के द्वारा जलाये जाने पर त्रिपुरसुन्दरियों के प्रलाप में करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। आग लग जाने पर त्रिपुर में बने प्रासादों के शिखर टूट-टूट कर मानो अग्नि से अपनी रक्षा करने के लिये पश्चिम समुद्र में गिर रहे थे—

दग्धानि दग्धानि गृहाणि तत्र पतन्ति रक्षार्थमिवार्णवौघे ॥१३९।७०

घर की सम्पूर्ण वस्तुओं को भस्मसात् करती हुई अग्नि जब एक स्त्री के पास तक पहुँचती है तो वह सुन्दरी आँखों में आँसू भर कर अग्निदेव से कहती है—हे अग्निदेव, तुम तो स्वयं धर्म के साक्षी माने जाते हो, मैं किसी दूसरे की पत्नी हूँ, मेरा स्पर्श मत करो। दूसरी कहती है—मैं अभी-अभी अपने पति को सुला कर आई हूँ, केवल थोड़ी देर के लिये तुम मेरे घर को छोड़ दो; उन्हें थोड़ा सा विश्राम कर लेने दो। तीसरी अपने पुत्र को गोद में लेकर अग्नि से कहती है—मैं अपने इस प्राणप्रिय पुत्र को बड़े कष्टों से प्राप्त कर

---

१. युद्ध की इस विचित्र तैयारी और असामान्य उपकरणों के सम्बन्ध में एक शिवभक्त के निम्न उद्गार कितने सार्थक हैं—

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथांगे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधिः ?
विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥

—शिवमहिम्नस्तोत्र

सकी हूँ। हे कार्त्तिकेय के वल्लभ, मेरे इस प्यारे, छोटे से बच्चे को मत जलाओ—

उवाच शतपत्राक्षी साक्षाक्षीव कृताञ्जलिः ।
हव्यवाहन, भार्याहं परस्य परतापन ।।
धर्मसाक्षी त्रिलोकस्य न मां स्प्रष्टुमिहार्हसि ।
शायितं च मया देव अधुनैव शिवप्रभ ॥
मुहूर्तं प्रेहि मुक्त्वेदं गृहं च दयितं च मे ॥
एकः पुत्रकमादाय बालकं दानवांगना ।
हुताशनसमीपस्था इत्युवाच हुताशनम् ।।
बालोऽयं दुःखलब्धश्च मया पावक पुत्रकम् ।
नाहंस्येनमुपादातुं दयितं षण्मुखप्रिय ।। १३६।६१-६४

कष्ट चाहे मानव-स्त्रियों का हो, चाहे दानव-वधूटियों का; अपना हो या शत्रुओं का; भावनाएँ, संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ सब की एक सी होती हैं[1]।

श्रीमद्भागवत ७।१०।५१-७० में वर्णित त्रिपुरदाह की कथा में महाभारत की अपेक्षा कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि यहाँ विष्णु भगवान् एक गौ का रूप धारण करके, ब्रह्मा जी को बछड़ा बना कर, दैत्यों को अपनी माया से विमोहित करते हुए त्रिपुर में मय द्वारा निर्मित अमृतयुक्त-बावली का पान कर जाते हैं जिससे असुर असहाय हो जाते हैं और शिव का कार्य सरल हो जाता है।

---

१. **ध्वन्यालोक** के द्वितीय उद्योत में ईर्ष्याविप्रलम्भ-जन्य रसाभास के उदाहरण के रूप में उद्धृत **अमरुकशतक** का निम्न मंगलाचरण-श्लोक शिव के शर से उत्पन्न अग्नि को एक धीरललित नायक के रूप में चित्रित करता है जो मानिनी, खंडिता नायिकाओं के समीप आते ही उनके द्वारा झिटक दिया जाता है—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

शिव का त्रिशूल

वैदिक ग्रन्थों में शिव का प्रमुख अस्त्र धनुष है, किन्तु परवर्ती साहित्य में उसका स्थान त्रिशूल ने ले लिया है। यद्यपि पिनाक और पाशुपतास्त्र की यहाँ भी चर्चा हुई है और शिव धनुर्विद्या के आचार्य भी माने गये हैं (रामा० बाल० ५४।१२-१८ में विश्वामित्र तथा महा० वन० ४०।८-२१ में अर्जुन शिव की कृपा से धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करते हैं), किन्तु उनका सर्वाधिक प्रिय शस्त्र त्रिशूल ही है। ऊपर उल्लिखित महा० अनु० १६०।३० के उद्धरण में शिव के बाण को 'त्रिपर्वन्' तथा 'त्रिशल्य' कहा गया है। शिव के इस त्रिशूल के रहस्य का उद्‌घाटन तै० सं० ५.५।६ से होता है। यहाँ कहा गया है कि अग्नि ही रुद्र है। उसके तीन शूल हैं। एक वह जो ऊपर से मनुष्यों पर गिरता है (तडित्), दूसरा वह जो तिरछा आघात करता है (आकाश में पूर्व से पश्चिमगामी सूर्य) तथा तीसरा वह जो नीचे से ऊपर की ओर जाता है (ऊर्ध्वज्वलन अग्नि)—

रुद्रो वा एष यदग्निः तस्य तिस्रः शरव्याः प्रतीची, तिरश्ची, अनूची। ताभ्यो वा एष आवृश्च्यते ॥

शिव सम्बन्धी अन्य कथाएँ

रुद्र के सम्बन्ध में अन्य किसी महत्त्वपूर्ण पौराणिक कथा के मूल स्रोत का सूत्र वैदिक साहित्य तक नहीं जाता। मदन-दहन की कथा[1], जिसमें इन्द्र शिव को पार्वती के प्रति आसक्त कराने के लिये कामदेव को भेजते हैं जिसे शिव अपनी तपस्या में विघ्न डालने के कारण क्रुद्ध होकर तृतीय नेत्र से भस्म कर देते है, सम्भवतः शिव के परमयोगित्व को व्यक्त करने तथा उनको कामादि विकारों के पूर्ण स्वामी सिद्ध करने के लिये निर्मित की गई है। पर यहाँ स्मरणीय है कि रामायण में मदन-दहन का जो संक्षिप्त वृतान्त है उसमें पार्वती से शिव का सम्बन्ध या इन्द्र का आदेश आदि कुछ भी वर्णित नहीं है। मरुद्‌गण के साथ जाते हुए शिव को दुर्बुद्धि काम, स्वेच्छा से व्याकुल करने की चेष्टा करता है और उसका उचित दण्ड भी पाता है[2]।

---

१. मत्स्य पु० १५४।२४७ तथा आगे, सौर पु० १५३, ब्रह्म पु० ७१।

२. **कन्दर्पो मूर्तिमानासीत् काम इत्युच्यते बुधैः।**
तपस्यन्तमिह स्थाणुं नियमेन समाहितम्।
कृतोद्वाहं तु देवेशं गच्छन्तं समरुद्‌गणम्।

शिव के द्वारा गंगा को धारण करने की कथा हिमालय से गंगा नदी के उद्‌गम का ही रूपकात्मक वर्णन है। **श्रीमद्भागवत** ९।९ में इसका विस्तार से वर्णन है। ब्राह्मणग्रन्थों में रुद्र को उत्तर दिशा की ओर रहने वाला बताया गया है और शतरुद्रिय में पर्वतों पर रहने वाला। अतः पुराणों में कैलास पर्वत ही उनका विशेष निवास स्थान है। दक्षिण से उत्तर की ओर फैली हुई दुग्धधवल आकाश-गंगा ही स्वर्ग में प्रवाहित होने वाली देवनदी गंगा है जो विष्णु के तृतीय पदक्रम के समय ब्रह्माण्ड कटाह के फूट जाने से उत्पन्न हुई थी और जो भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर मनुष्य लोक का कल्याण करने के लिये पृथ्वी तल पर अवतीर्ण हुई (**भागवत० ५।१७।१**)।

मत्स्य० (१७ अ०) **वराह०** (२७ अ०) तथा **सौर०** (२९ अ०) में शिव द्वारा **अन्धकासुर** के दलन का भी वर्णन है। म्यूर का मत है कि यह अन्धक वैदिक **अर्द्धक** ही है। **अ० वे०** ११।२।७ में रुद्र को 'अर्धकघाती' कहा गया है। इसी का पौराणिक रूप अन्धक या **अन्तक** (**कूर्म० पु०** ३६ अ०) है[1]। पर **अ० वे०** में रुद्र की राक्षसों के हन्ता के रूप में बिलकुल प्रसिद्धि न होने के कारण तथा इस संहिता में केवल शम्बर, नमुचि आदि कुछ प्रमुख असुरों का ही नामतः उल्लेख होने के कारण अर्धक एवं अन्धक में सम्बन्ध ढूँढ़ना उचित नहीं है। **मत्स्य पु०** में कहा गया है कि शिव के साथ जब अन्धक का युद्ध हुआ तो उसके शरीर से गिरने वाली रक्त की प्रत्येक बूंद एक नया राक्षस बन जाती थी अतः उसके रक्त बिन्दुओं का पान करने के लिये शिव ने अनेक **मातृकाओं** (लोकविश्वास की देवियों) को उत्पन्न किया। अन्धक की यही विशेषता आगे चल कर **रक्तबीज** राक्षस की धारणा के रूप में विकसित हुई है जिसे दुर्गा ने मारा[2]।

शिव तथा लिंगपूजा

महाभारत तथा **पुराणों** में शिवोपासना का सर्वप्रमुख अंग लिंग-पूजा है।

धर्षयामास दुर्मेधा, हुंकृतश्च महात्मना।
अवदग्धश्च रौद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन॥

१. म्यूर, **ओ० सं० टे०**, भा० ४, पृ० ३३६ (टिप्पणी ७४) तथा पृ० ४२७ (टिप्पणी ४६)।

२. **मार्कण्डेय पुराण** (देवीमाहात्म्य), अध्याय ८८ (=दुर्गासप्तशती, अ० ८)।

लिंग के मौलिक स्वरूप के विषय में विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है[1]। यद्यपि रुद्र के अग्नि से प्राचीन सम्बन्ध की दृष्टि से तथा कुछ विशेष माहात्म्य-पूर्ण लिंगों के लिये प्रयुक्त **ज्योतिर्लिंग** शब्द से कुछ विद्वानों का कथन है कि लिंग अग्नि-शिखाओं का प्रतीक है, तो भी महाभारत तथा पुराणों में ऐसे पर्याप्त संकेत मिलते हैं जिनसे इनका जननेन्द्रिय से सम्बन्ध प्रतीत होता है। **महा०** अनु० २२।८५,९० में **उपमन्यु** इन्द्र से शिव के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण यह भी बताता है कि ब्रह्मा और विष्णु भी उनके लिंग की पूजा करते हैं (तु० की०, मत्स्य १५३।३५०, पार्वती का सप्तर्षियों से कथन)। **सौर** पु० अ० ६९ तथा **ब्रह्माण्ड** पु० २।२७।१०-१२६ आदि में एक कथा आती है जिसके अनुसार शिव एक बार ऊर्ध्वमेढ़् अवस्था में ऋषियों के आश्रम में विचरण करने लगे। ऋषिगण अत्यन्त क्षुब्ध हुए। उनके शाप से शिव के लिंग का पतन हो गया। बाद में ब्रह्मा जी के कथनानुसार ऋषियों ने शिव के लिंग की पूजा आरम्भ की।

आज से लगभग पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व भारत के पश्चिमी भूभाग से लेकर ईरान, ईराक (मेसोपोटामिया), तुर्की, सीरिया एवं मिस्त्र तक लगभग एक ही प्रकार की मानव-सभ्यता फैली हुई थी। विविध जातियों के देवी-देवताओं के नामों में वैभिन्न्य होते हुए भी इस सभ्यता से प्रभावित क्षेत्र की धार्मिक परम्पराओं में प्रायः समानता थी। इन्हीं बहुदेश-व्यापी धार्मिक परम्पराओं में लिंग (एवं योनि-) पूजा भी एक थी।

सृष्टि का निर्माण करने वाली सर्वोच्च शक्ति या ईश्वर की पिता के रूप में परिकल्पना करके लिंग को उसके प्रतीक के रूप में पूजा जाता था। मूलतः लिंग किसी देवता-विशेष से सम्बद्ध नहीं था; वह सृष्टि-कर्ता का, विश्व के निर्माता का प्रतीक था। विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में लिंगपूजा भिन्न-भिन्न देवों से सम्बद्ध रही है। पर-वैदिक काल में संसार का निर्माण एवं उसका नियमन करने वाली सर्वोच्च शक्ति का नाम था : ईशान, महादेव

---

१. विशेषतः, सी० वी० अय्यर, **ओरिजिन एंड अर्ली हिस्टरी आफ् शैविज्म इन् साउथ इण्डिया**। जार्ज स्काट : **फैलिक वर्शिप**, लंदन १९४१। करमारकर : **रिलीजन्स आफ् इंडिया : प्रथम भाग** (द्रविडियन सिस्टम्स)। ओ० ए० वाल् : **सेक्स एण्ड सेक्स वर्शिप इन् दि वर्ल्ड**, पुनर्मुद्रण, दिल्ली १९७९।

या शिव (देखिये, पीछे पृ० ५३१)। अतः हमारे यहाँ प्राचीन परम्परा से चली आ रही लिंग-पूजा इस काल में शिव से सम्बद्ध हो गई; लिंग के माध्यम से शिव पूजे जाने लगे। स्मरणीय है कि भारत के धार्मिक इतिहास में परम-तत्त्व एवं परमेश्वर के रूप में विष्णु की मान्यता परवर्ती है।

लिंगपूजा को स्वीकार करने पर भी भारतीय लोक जीवन ने इसे जननेन्द्रिय की उपासना के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया। इसका आकार भी रूढिगत हो गया और कोई भी गोल, अंडाकार या लंब प्रस्तर-खंड लिंग के रूप में शिव का प्रतीक बन गया। अग्निलिंग, वायुलिंग, जललिंग यहाँ तक कि 'आकाशलिंग' (चिदम्बरम् के प्रसिद्ध मन्दिर का 'लिंग') की कल्पना उद्भूत हुई। **शिव पुराण** में कहा गया है कि शिव के दो प्रकार के लिंग है। ओंकार या प्रणव उनका सूक्ष्म-लिंग है और यह ब्रह्माण्ड स्थूल-लिंग, क्योंकि इसका बाह्य आकर लिंग के समान (अर्थात् अण्डाकार) है (तु० की० त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश, लिंगात्मकं हर चराचरविश्वरूपिन्)—

तदेव लिंगं प्रथमं प्रणवं सार्वकामिकम्।
सूक्ष्मप्रणवरूपं हि सूक्ष्मरूपं तु निष्कलम्।।
स्थूललिंगं हि सकलं तत्पंचाक्षरमुच्यते।
पुरुषप्रकृतिभूतानि लिंगानि सुबहूनि च[1] ।।

लिंग पुराण में आकाश को शिवलिंग तथा पृथ्वी को उसकी पीठिका कहा गया है। लिंग का अर्थ केवल चिह्न या प्रतीक है। जो भी वस्तु शिव की प्रतीति कराये वह शिवलिंग है।

वायु पुराण (५५वाँ अध्याय) तथा **लिंग पु०** (१७वाँ अध्याय) में एक कथा द्वारा शिवलिंग का विशेष उत्कर्ष दिखाया गया है। इसके अनुसार सृष्टि के आदि में जब ब्रह्मा और विष्णु अपने-अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने लगे तो उनके मध्य में एक ज्योतिर्लिंग प्रकट हुआ और यह आकाशवाणी हुई कि जो इसके अन्त का पता लगाएगा वही श्रेष्ठ माना जायगा। ब्रह्मा हंस का रूप धारण करके ऊपर की ओर उड़े और विष्णु श्वेतवराह का रूप धारण करके नीचे गये, किन्तु दोनों ही असफल होकर लौट आये और तब दोनों ने शिव की महत्ता स्वीकार की।

---

१. देखिये, कल्याण का **शिवांक**, १९३३, पृ० २५३।

म्यूर[1] तथा यदुवंशी[2] आदि कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के समय में भी यहाँ की अनार्य जातियाँ लिंगपूजा करती थीं। **ऋग्वेद** ७।२१।२५ तथा १०।९९।३ में **शिश्नदेवाः** शब्द आया है जो शिश्न या लिंग के उपासकों का वाची है। किन्तु दोनों ही स्थानों पर इनका घृणापूर्वक उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि आर्य इसे अच्छा नहीं समझते थे एवं हेय दृष्टि से देखते थे—

१—स शर्धद् अर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवाः अपि गुर्ऋतं नः।

२—अनर्वा यत् शतदुरस्य वेदोघ्नन् शिश्नदेवान् अभि वर्पसा अभूत्।

सायणाचार्य ने प्रथम मन्त्र की व्याख्या में 'शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस शब्द का अर्थ अब्रह्मचारी लिया है। यास्क को भी यही अर्थ स्वीकार्य है। **ऋ० वे०** १।१०५।८ में शिश्न शब्द पशुओं की पूँछ का भी वाची है। अतः रोठ के अनुसार यह शब्द पुच्छयुक्त-दानवों को सूचित करता है। यदि वैदिक आर्यों के वर्ग में लिंगपूजा प्रचलित होती तो अवश्य ही परवर्ती वैदिक साहित्य में, कम से कम गृह्यसूत्रों में उसका उल्लेख होता। किन्तु लिंगपूजा का उल्लेख रामायण तक में नहीं है। इससे लगता है कि भारतीय आर्य-वर्ग में, अथवा समाज के उच्चतर वर्णों में, लिंगपूजा शनैः शनैः वेदोत्तरवर्ती काल में ही प्रविष्ट हुई। अवश्य ही यह प्रवेश तब हुआ होगा जब लिंगपूजा का तादात्म्य शिव-पूजा से हो गया होगा क्योंकि लिंग के परमेश्वर-शिव का प्रतीक बन जाने के बाद ही बौद्धिक उच्च वर्ग इसे ग्रहण कर सकता था, शिश्न-पूजा के रूप में नहीं।

शिव

वैदिक साहित्य में **शिव** विशेषण का उल्लेख होने पर भी इसका रुद्र से विशेष साहचर्य नहीं है। किन्तु रामायण तथा उससे परवर्ती लौकिक साहित्य में **शिव** तथा **शंकर** रुद्र के इतने अधिक सामान्य नाम हैं कि उन्होंने प्रयोग की दृष्टि से रुद्र को बहुत पीछे छोड़ दिया है। रुद्र शब्द का प्रयोग बहुधा गणों को द्योतित करने के लिये अथवा महाप्रलय के समय उनका क्रूर रूप व्यक्त करने के लिये ही होता है। यह परिवर्तन नामों का सामान्य परिवर्तन

---

१. म्यूर : **ओ० सं० टै०**, भाग ४, पृ० ४०७-४९०।

२. यदुवंशी : **शैवमत**, पृ० ३१-३२।

मात्र नहीं है। यह रुद्र-विषयक सम्पूर्ण विचारधारा का परिवर्तन है। पुराणों के शिव अत्यन्त कल्याणमय, भक्तों पर सदा कृपा करने वाले तथा दीनों पर अनुग्रह करने वाले देव है। वैदिक रुद्र आशुरोष है तो शिव **आशुतोष**। यह विशेषण उनकी निजी सम्पत्ति है। विष्णु आदि उदारचेता देवों के लिये भी इसका प्रयोग न होना शिव की विशेष भक्तवत्सलता को सूचित करता है। उनका **शंकर** नाम भी कल्याणकारिता परिचायक है। तभी तो **ब्रह्मपुराण** कहता है कि शिव ही दुःखी व्यक्तियों की एक मात्र शरण हैं। वे कल्याण करने वाले हैं, करुणा के सागर हैं और सब जीवों पर दया करते हैं। यद्यपि देवों में परस्पर भेद नहीं है और सब एक हैं फिर भी देवों के शिव-रूप की अर्चना करने से शीघ्र ही सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

शंकरः सर्वभूतात्मा करुणावरुणालयः।
सर्वेषां सर्वदार्त्तानां शिव एव परा गतिः।
यद्यप्येषां न भेदोऽस्ति देवानां तु परस्परम्।
तथापि सर्वसिद्धिः स्यात् शिवादेव सुखात्मनः।

ब्रह्म० १०९।३७, २११।७९, १३०।१७

शिव के प्राणिमात्र के प्रति करुणा एवं मैत्रीभाव का एक प्रमाण यह है कि वे **महा० द्रोण०** ५२।४३ में ब्रह्मा जी के पास जाकर उनसे उत्पन्न कालाग्नि से दंदह्यमान जन समूह की रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं। पुराणों के युग में भक्तिवाद के प्राबल्य के कारण कोई भी भक्त अपने आराध्य देव को क्रूर तथा रौद्र कैसे बता सकता था? उनके लिये 'शिव' संज्ञा ही उपयुक्त थी।

रुद्रों का एकादशत्व

यद्यपि वैदिक साहित्य में सर्वत्र रुद्रों के एकादशत्व का उल्लेख किया गया है (उदा० **ऐ० ब्रा०** १।२।४) किन्तु कहीं भी उनके नामों का उल्लेख नहीं हुआ। **श० ब्रा०** ११।६।३।७ ने स्वेच्छा से दश प्राणों एवं आत्मा को एकादश रुद्र घोषित कर दिया है क्योंकि शरीर निकलते समय ये सम्बन्धियों को रुलाते हैं (रोदयन्ति)। **वायु० पु०** के २५वें अध्याय के २१वें श्लोक में भी प्राणों रुद्र कहा गया है। हमने ऊपर देखा कि ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र एवं रुद्रगण में स्पष्ट पार्थक्य किया गया है। रुद्र क्षत्र हैं तो रुद्रगण विश्, प्रजापति के अश्रु-बिन्दुओं के मन्यु पर गिरने से रुद्र की उत्पत्ति होती है तो भूमि पर गिरने ने रुद्रगण की (पृ० ४७४, **श० ब्रा०** ९।१।१।६,७)।

पौराणिक युग में देवशास्त्र का जो विस्तृत किन्तु क्रमबद्ध रूप था उसको देखते हुए इस युग के कथाकारों ने ग्यारह रुद्रों के नामों का उल्लेख करना आवश्यक समझा और इस विषय में प्राचीन परम्परा से कोई सहायता न मिलने के कारण उनकी उद्भावना-प्रवण कल्पना को पूरी स्वतन्त्रता रही। किन्तु साथ ही प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले, **रुद्र** (शिव), **एकादशरुद्र** तथा **रुद्रगण** में पारस्परिक सामंजस्य करने की भी आवश्यकता उन्हें प्रतीत हुई। **गीता** १०।२३ में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि 'मैं रुद्रों में शंकर हूँ' (रुद्राणां शंकरश्चास्मि)। इससे प्रतीत होता है कि महाभारत के समय ११ रुद्र पृथक्-पृथक् माने जाते थे और शंकर या शिव उन्हीं में से एक थे। किन्तु उनको शेष दस का नायक समझा जाता था। पुराणों में अपने चरम उत्कर्ष के कारण शिव का व्यक्तित्व पृथक्तया इतना अधिक विकसित हो चुका है कि उनको कहीं भी एकादश-रुद्रगण का एक सदस्य नहीं माना गया, अपितु ११ रुद्रों को ही उन एक शिव के विविध नाम अथवा विविध अंश बताया गया है। **श्रीमद्भागवत** ३।१२।१-२० में आई एक कथा में कहा गया है कि एक बार ब्रह्मा जी को क्रोध आया जिससे उनकी भृकुटी से एक नीललोहित कुमार का जन्म हुआ। वह रोने लगा और ब्रह्मा जी से उसने नाम रखने तथा रहने के स्थान बताने की प्रार्थना की। ब्रह्मा ने उसके मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतुध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव तथा धृतव्रत, ये ग्यारह नाम रखे तथा क्रमशः हृदय, इन्द्रियाँ, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तथा तप रहने के स्थान बताये। इस कथा में रुद्र की अष्टमूर्त्ति वाली कथा से थोड़ा सा परिवर्तन करके एकादश रुद्रों का शिव से ही तादात्म्य कर दिया गया है।

विष्णु पु० ११।७।१२-१५ से भी एकादश रुद्र एक ही शिव के विभिन्न रूप प्रतीत होते हैं। क्रोधाविष्ट ब्रह्मा के ललाट से ऐसे प्राणी का जन्म हुआ जिसका आधा शरीर पुरुष का था, आधा स्त्री का। ब्रह्मा ने उसे अपने शरीर को विभाजित करने की आज्ञा दी। तब उसने अपने पुरुष-शरीर को एकादश भागों में विभक्त किया और स्त्री-शरीर को सौम्य तथा असौम्य आदि कई रूपों में—

भृकुटीकुटिलात् तस्य ललाटक्रोधदीपितात्।
समुत्पन्नस्तदा रुद्रो मध्याह्नार्कसमप्रभः॥

अर्धनारीनरवपुः प्रचण्डोऽतिशरीरवान् ।
'विभजात्मान' मित्युक्त्वा तं ब्रह्मान्तर्दधे ततः ॥
बिभेद पुरुषत्वं च दशधा चैकधा पुनः ।
सौम्यासौम्यैस्तदाशान्ताशान्तैः स्त्रीत्वं च स प्रभुः ॥

बिल्कुल यही कथा **वायु० पु०** के नवम अध्याय में भी प्राप्त होती है। परन्तु कुछ प्राचीन पुराणों में एकादश रुद्रों या रुद्रगण का शिव से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया है। उनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से मानी गई है। **मत्स्य०** पु० के अनुसार ब्रह्मा ने गो-रूपधारिणी अपनी कामरूपिणी पत्नी **सुरभि** से ये एकादश रुद्र उत्पन्न किये—

या रूपार्धवती पत्नी ब्रह्मणः कामरूपिणी ।
सुरभिः सहिता भूत्वा ब्रह्माणं समुपस्थिता ॥
जज्ञिरे स्म सुतास्तस्यां विपुला धूमसन्निभाः ।
नक्तसंध्याभ्रसंकाशाः प्रदहंस्तिग्मतेजसः ॥
ते रुदन्तो द्रवन्तश्च गर्हयन्तः पितामहम् ।
रोदनाद् द्रवणाच्चैव रुद्रा इति ततः स्मृताः ॥

मत्स्य० १७०।३५, ३७, ३८

इस प्रसंग में ग्यारह रुद्रों के साथ शिव (शंभु) को जोड़ कर कुल बारह रुद्र बताये गये हैं और इनके नामों का परिगणन इस प्रकार किया गया है—

निर्ऋतिश्चैव शंभुश्च तृतीयश्चापराजितः ।
मृगव्याधः कपर्दी च दहनोऽथ हरश्च वै (v. l. दहनो चेश्वरो तथा) ॥
अहिर्बुध्न्यश्च भगवान् कपाली चापि पिंगलः ।
सेनानी च महातेजाः रुद्रास्त्वेकादश स्मृताः ॥ मत्स्य० १७०।३९, ४०

जहाँ **मत्स्य** पु० का यह अंश केवल ११ (अथवा शंभु सहित १२) रुद्रों का अस्तित्व स्वीकार करता है वहीं इस पुराण में अन्यत्र (५।२९-३२) कहा गया है कि रुद्रों की संख्या ८४ करोड़ है जिनमें ११ रुद्र प्रधान अथवा **गणेश्वर** हैं। पर गणेश्वर रुद्रों के नामों में ऊपर की सूची से पर्याप्त अन्तर प्राप्त होता है—

अजैकपादहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षोऽथ रैवतः ।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः ॥

सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः ।
एते रुद्राः समाख्याता एकादश गणेश्वराः ॥
एतेषां मानसानां तु त्रिशूलवरधारिणाम् ।
कोटयश्चतुरशीतिस्तत्पुत्राश्चाक्षया मताः ॥
दिक्षु सर्वासु ये रक्षां प्रकुर्वन्ति गणेश्वराः ।

मत्स्य० ५।२९-३२

इसमें पुनः बारह रुद्र वर्णित हैं और शिव का परिगणन 'हरः' नाम से है। **भागवत** ६।६।१७, १८ में भी रुद्रों की संख्या करोड़ों में मानी गई है जिनमें ग्यारह प्रमुख हैं—रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, बहुरूप तथा महान्। **वायु पुराण** के ६६वें अध्याय में ये नाम अंगारक, सर्प, सदस्पति, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, ऊर्ध्वकेतु, ज्वर, भुवन, मृत्यु, कपाल, निऋ॑ति तथा ईश्वर (शिव ?) हैं। **पद्मपुराण** ७।१४-१७ में मत्स्य पु० के ही उपर्युक्त (१७०।३९, ४०) श्लोक अविकल रूप में प्राप्त होते हैं।

एकादश रुद्रों के नामों पर दृष्टि डालने से विदित होगा कि इनमें से अधिकांश रुद्र के प्राचीन अथवा शिव के वर्तमान विशेषण हैं। भव, भीम, उग्र, महान् (देवः), बहुरूप (स्थिरेभिरंगैः **पुरुरूप** उग्रो, ऋ० २।३३।९), ईश्वर (या ईशान), शंभु, कपर्दी एवं त्र्यम्बक **रुद्र** के वैदिक विशेषण हैं और विरूपाक्ष, पिनाकी, हर तथा कपाली[1] आदि पौराणिक। अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य तथा

---

१. यह विशेषण सम्भवतः शिव के श्मशान में घूमने तथा कपाल आदि में भोजन करने की विशेषता की ओर संकेत करता है, पर **मत्स्य** पु० १८२।८२-८६ में इस विषय में एक कथा आती है जिसमें कहा गया है कि शिव ने एक बार ब्रह्मा का पाँचवा सिर काट डाला। ब्रह्मा के शाप से उन्हें वह कपाल हाथ में लेकर घूमना पड़ा। इसी से वे कपाली हुए। अन्त में कपाल-मोचन-तीर्थ (वाराणसी) में वह उनके हाथ से छूटा—

आसीत् पूर्वं वरारोहे ब्रह्मणस्तु शिरो वरम् ।
तदेवमब्रवीत् देवि जन्म जानामि ते ह्यहम् ।
ततः क्रोधपरीतेन संरक्तनयनेन च ।
वामांगुष्ठनखाग्रेण छिन्नं तस्य शिरो मया ।

वृषाकपि, ये तीन वे महत्त्वहीन वैदिक देवता हैं जिनको रुद्र या शिव ने बाद में आत्मसात् कर लिया है। **अजैकपाद्** तथा **अहिर्बुध्न्य** दोनों अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है और इनका उल्लेख प्रायः साथ-साथ हुआ है।

'अज-एकपात्' का अर्थ है 'एक पैर वाला बकरा'। **'अज् गतिक्षेपणयोः'** धातु से निष्पन्न होने कारण **अज** शब्द का अर्थ 'तीव्र चलने वाला' भी हो सकता है। इसी व्युत्पत्ति के कारण रोठ एवं ग्रासमान् इसको झंझावात का देव समझते है। ब्लूमफील्ड तथा हैनरी के अनुसार यह सूर्य को सूचित करता है[1] (तु० की०, **निघंटु** ५।६)। पर अज-एकपात् सम्भवतः अन्तरिक्ष में विद्यमान विद्युत् है। अज शब्द विद्युत् की चपलता का द्योतक है और अन्तरिक्ष से पृथ्वी पर गिरती हुई विद्युत् की पतली लेखा ही एकपाद् से संकेतित है[2]। **ताण्ड्य ब्रा०** ३।१।२।८ (**अज एकपादुदगात् पुरस्तात्**) की व्याख्या में सायण ने भी इसे एक प्रकार की अग्नि माना है। **मत्स्य पु०** ५१।२२ में कहा गया है कि अज-एकपाद् उपासनीय अग्नि है और इसे **शालामुख** भी कहते हैं—

अजैकपादुपस्थेयः स वै शालामुखो मतः।

विद्युत् और अग्नि से इस तादात्म्य के कारण इस देवता का रुद्र से सम्बन्ध स्पष्ट है।

अहिः-बुध्न्यः का अर्थ है 'गड्ढे या गहरे स्थान (बुध्न) में रहने वाला सर्प'। ऋग्वेद में इस देवता की स्तुति अन्तरिक्षस्थानीय देवों के साथ की गई है। **ऋ० वे०** ७।३४।१७ में अन्तरिक्ष में सरिताओं के संगम या गर्त में स्थित 'अहि' का मन्त्रों से स्तवन करने का उल्लेख है (अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्)। यास्क ने बुध्न का अर्थ अन्तरिक्ष लिया है। **ऋ० वे०** १।७९।१ में अग्नि को 'अहि' तथा ४।११।१ में 'बुध्न' में उत्पन्न

"यतो निरपराधस्य शिरश्छिन्नं त्वया मम
तस्मात् शापसमायुक्तः कपाली त्वं भविष्यसि"

कुछ पुराणों में यह भी कहा है कि पार्वती के मरने पर हर बार शिव उनके कपाल को पहन लेते हैं और इस प्रकार कपालों की माला धारण करने के कारण वे कपाली हैं।

१. मैकडानल : **वै० मा०, पृ०** ७३, ७४।
२. मैकडानल : **वही**।

कहा गया है। प्रतीत होता है कि अन्तरिक्ष के समुद्र (मेघजल) में वर्तमान यह अहि अग्नि (विद्युत्) है। ऐ० ब्रा० स्पष्टतया अग्नि और अहिर्बुध्न्य का तादात्म्य करता है—**एष ह वा अहिर्बुध्न्यो यदग्निर्गार्हपत्यः** (३।३।१२)। **मत्स्य** पु० ५१।२३ में भी कहा गया है कि दक्षिण की ओर (यज्ञ-वेदी से बाहर) रहने वाली बिना नाम की (अनिर्देश्य) अग्नि अहिर्बुध्न्य संज्ञक है—

अनिर्देश्यो ह्यहिर्बुध्न्यो बहिरन्ते तु दक्षिणो।

वृषाकपि विशेषण पुराणों में शिव के अतिरिक्त विष्णु, इन्द्र, सूर्य तथा अग्नि के लिये भी प्रयुक्त हुआ है अतः प्रतीत होता है कि इस शब्द का मूल भाव बहुत पहले ही विलुप्त हो चुका था। ऋग्वेद १०।८६ में इन्द्र और इन्द्राणी के वार्तालाप के सम्बन्ध में वृषाकपि का उल्लेख है। इन्द्राणी इन्द्र से शिकायत करती है कि तुम्हारे प्रिय वृषाकपि ने मेरे उद्यान को उजाड़ डाला है। वृषाकपि का स्वरूप अत्यन्त अस्पष्ट है। लगता है यह प्राचीन काल में सूर्य (कपि) के उदार रूप (वृषा=कामानां वर्षयिता) को सूचित करता था।

एकादश रुद्रों में परिगणित **मृगव्याध** नाम ऐ० ब्रा० में उल्लिखित प्रजापति की अपनी पुत्री के प्रति आसक्ति और रुद्र द्वारा उनको दण्ड देने की कथा की याद दिलाता है। **मन्यु** शब्द **भाग०** ४।५।५ में स्वतः शिव के लिये प्रयुक्त हुआ है। **मत्स्य** (४७।१२८ तथा आगे) में शिव का एक उत्तम स्तोत्र है जिसमें लगभग ३०० नामों का परिगणन किया गया हैं। यहाँ एक शब्द **वास्तोष्पति** भी आता है, जो अथर्ववेद तथा सूत्रग्रन्थों में वर्णित गृह (वस्तु) की रक्षा से सम्बन्धित (वास्तोः पतिः) एक देवता हैं। शिव ने ऐसे छोटे-मोटे कई प्राचीन देवों को आत्मसात् कर लिया है। **अज** शब्द परब्रह्म के वाची के रूप में **श्वेताश्वतर** में शिव के लिये प्रयुक्त हुआ है।

शिव के परिचर तथा अनुचर

रामा०, महा० तथा **पुराणों** में शिव के परिचर अथवा उनके गणों के अधिनायक का नाम **नन्दी** दिया गया है। **रामायण** (उत्तर० १६।८) में ही इसका सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है और इसके स्वरूप का जो वर्णन यहाँ है वह शिव के गणों के सामान्य स्वरूप का प्रतिनिधि है। उसे कराल आकृति वाला, काले तथा पीले वर्ण का, वामनाकार, छोटी भुजाओं वाला, बलशाली, विकट रूप वाला तथा मुंडित-केश कहा गया है—

इति वाक्यान्तरे तस्य करालः कृष्णपिंगलः ।
वामनो विकटो मुण्डी नन्दी प्रहभुजो बली ॥

महा० अनु० ११३।३२ में एक वृषभ को शिव का वाहन बताया गया है। पुराणों में शिव के गणेश्वर का यह नाम (नन्दी) उनके वाहन के लिये प्रयुक्त होने लगा है (भागवत० ४।४।४, वृषेन्द्रो नन्दी) और आज भी शिव-मन्दिरों में शिव-लिंग के आगे जो वृषभ बनाया जाता है उसे नन्दी या नादिया ही कहते हैं।

भागवत में कहा गया है कि पृथु के द्वारा आयोजित पृथ्वी के दोहन के समय यक्ष, राक्षसों, भूतों तथा पिशाचों ने शंकर भगवान् को बछड़ा बना कर पृथ्वी रूपी गौ से रक्त तथा मदिरा रूपी दुग्ध को दुहा—

यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः ।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ॥
भाग० ४।१८।२१

भूत-प्रेत, राक्षस एवं पिशाचादिकों का शिव से यह सम्बन्ध फिर उनके उच्च ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव क्षेत्र से बाहर रहने वाले, निम्नतर सामाजिक जन-वर्गों में मान्य होने का परिचायक है। महाकाव्यों तथा पुराणों में राक्षस-गण विष्णु के घोर विरोधी एवं शत्रु होने पर भी शिव के परम-उपासक चित्रित किये गये हैं। **रामायण** में **रावण** को शिव का अनन्य भक्त बताया गया है (उदा० उत्तर० १६।३४ तथा आगे)। पार्वती **विद्युत्केश** दानव को गोद लेती हैं और शिव उसे अमर होने का वर देते हैं (उत्तर० ४।२९)। **बाणासुर** की तपस्या से प्रसन्न होकर उसे भी ये वर देते हैं और उसकी रक्षा के लिये कृष्ण तक से युद्ध करते हैं (महा० सभा० ३८वाँ अध्याय, भाग० १०।६३)। **जरासंध** एवं **जयद्रथ** जैसे अत्याचारी राजा भी शिव की शरण में आते हैं (महा० सभा० १४।६४, ६५ तथा वन० २७२।२८)। असुरों के गुरु शुक्राचार्य भी शिव की कृपा से सिद्धि प्राप्त करते हैं (मत्स्य० ४७।७५, अप्रतीपांस्ततोमंत्रान्.... प्राप्य महेश्वरात्)।

प्रसिद्ध शिल्पी **मय** दानव भी उनका अनन्य सेवक है। **भाग०** १०।७६ में जब राजा **शाल्व** शिव की आराधना करके उनसे सर्वत्रगामी विमान माँगता है तो वे मय-दानव को ऐसा विमान बनाने का आदेश देते हैं। अपने इन दानव-

सेवकों पर शिव की विशेष कृपा रहती है। **मत्स्य** १३९।४५-५२ में त्रिपुर का विनाश करते हुए शिव को वह सोच कर अत्यन्त दुःख होता है कि उसमें रहने वाला उनका भक्त मय नष्ट हो जायेगा। वह शीघ्रता से अपने गणेश्वर नन्दी को उसे लाने के लिये भेजते हैं और वह मय को जलते हुए नगर से सुरक्षित बाहर निकाल लाता है—

मुक्त्वा त्रिदेवतमयं त्रिपुरे त्रिदशः शरम् ।
धिग् धिङ् माम् इति चक्रन्द कष्टं कष्टमिति ब्रुवन् ।
उवाच नन्दिनं भक्तः स ममाद्य विनंक्ष्यति ॥

मत्स्य १३९।४७,४९ ।

विष्णु को कहीं भी राक्षसों को वर देते या उनकी सहायता करते हुए वर्णित नहीं किया गया। इसका कारण सम्भवतः यह है कि प्रारम्भ से ही ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड से घनिष्ठतया सम्बन्धित रहने तथा उच्च आर्यवर्ग में पूजे जाने के कारण विष्णु में विजातीय तत्त्वों का समावेश न हो सका। ब्राह्मण-धर्म के विकास के साथ-साथ विष्णु शनैः शनैः स्वतः आर्यों के प्रधान देवता बनते चले गये और इसी सम्बन्ध से कर्मकाण्ड आदि के विरोधी एवं ब्राह्मण धर्म के शत्रु समझे जाने वाले असुरों के संहारक भी। इसके विपरीत शिव में ब्राह्मणधर्म के तत्त्व प्रारम्भ से ही अपेक्षाकृत कम रहे। उनका सारा उत्कर्ष लौकिक-विश्वासों तथा सम्भवतः कुछ आर्येतर जातियों की धार्मिक मान्यताओं के सम्मिश्रण के कारण हुआ। आर्य-धर्म को न मानने वाले दानव इसीलिये शिव की ओर अधिक झुके रहे। **महा० अनु०** १४।४ में शिव के महत्त्व का एक कारण यह भी बताया गया है कि उन्हें ब्रह्मा से लेकर पिशाच तक पूजते हैं—**ब्रह्मादयः पिशाचान्ताः यं हि सर्वे उपासते ।**

यही कारण है कि शिव की आकृति, परिधान तथा चरित आदि का महाकाव्यों तथा पुराणों में एक विचित्र सा उल्लेख मिलता है। वे सर्वथा नग्न रहते हैं। अतः **दिगम्बर** उनकी एक प्रसिद्ध उपाधि है (मत्स्य० १५५।३३ ब्रह्माण्ड० १।२७।१० सौर० ४१।९६)। बहुत हुआ, तो हाथी की खाल लपेट ली (महा० शान्ति० २०।१२)। वे अपने समस्त शरीर में भभूत या श्मशान की राख लपेटे रहते हैं; **वायु० पु०** (११२।५३) में इसीलिये उन्हें **भस्मनाथ** कहा गया है। उनके हाथ में कपाल से निर्मित एक कमंडलु रहता है (महा० वन० १८८।५०, ब्रह्म० ३७।२, वायु० २४।१२९, ५४।७०, ५५।१४;

मत्स्य० ४७।१३७)। श्मशान उनकी प्रिय विहारभूमि है, यहाँ वे अपने भूत, प्रेत, पिशाचादि अनुचरों के साथ रात्रि में विहार करते रहते हैं[1] (मत्स्य० ८।५, ब्रह्म० ३८।३७)। सिर में वे जटाएँ रखते हैं, जो श्मशान की धूलि के कारण काली पड़ गई है (श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्रविकीर्णविद्योतजटाकलापः, **भाग०** ३।१४।२५)। उनके गले तथा भुजाओं आदि में आभूषण के रूप में सर्प लिपटे रहते हैं (मत्स्य० १५३।३३४, ४४४)। **वायु०** २४।५६, ५७ में उन्हें महामुख, विक्षिप्त केशों से युक्त, त्रिशूलधारी, मूँजकी मेखला पहनने वाले तथा त्रिनेत्र कहा गया है।

पौराणिक शिव का व्यक्तित्व इतना व्यापक तथा विस्तृत था कि उन्हें सभी प्रकार की विद्याओं तथा कलाओं का आदि-प्रवर्तक मान लिया गया। यातविक तथा ऐन्द्रजालिक कृत्यों के वे आज भी मूल आचार्य माने जाते हैं और लोक विश्वास है कि शाबरतन्त्र या सेवड़े का जादू और मन्त्र उन्हीं के बनाए हुए हैं[2]। यातविक कृत्यों से शिव का यह सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। **तै० सं०** २।१।७ में कहा गया है कि आभिचारिक कृत्य करने वाले को एक रक्तवर्णा गौ से रुद्र की उपासना करनी चाहिये। **मानव गृ० सू०** २।५, **बौधायन** १।२।६, तथा **आश्वलायन** ४।१० में वर्णित **शूलगव** यज्ञ से भी रुद्र का इससे सम्बन्ध प्रतीत होता है। शिल्पशास्त्र, गायन तथा नृत्य आदि ललित-कलाओं के भी वे आद्य आचार्य माने गये हैं। प्रायः सभी नई कथाओं (तु० की० **कथासरित्सागर** का उपोद्घात) या नये विषयों का विवेचन प्रारम्भ करने की प्राचीन लेखकों की यह परंपरागत परिपाटी रही है कि वे उसे पार्वती के द्वारा शंकर से पुछवाते हैं—**कैलाशशिखरे रम्ये गौरी पृच्छति शंकरम्। गुह्या-**

---

१. **एतस्यां साध्वि संध्यायां भगवान् भूतभावनः।**
परीतो भूतपर्षद्भिः वृषेणाटति भूतराट्॥

भागवत, ३।१४।२४

२. गोस्वामी तुलसीदास की यह उक्ति तुलनीय है—

कलि बिलोकि जगहित हर-गिरिजा।
साबर मन्त्र जाल जिन्ह सिरजा॥
अनमिल आखर अरथ न जापू।
प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू॥

रामचरितमानस, बालकाण्ड, १४-१५ दोहों के मध्य

दृगुह्यतरं किंचित् कथयस्व महेश्वर; चाहे वह सामान्य व्रत-उपवासादि का माहात्म्य हो चाहे गूढ़ दार्शनिक चर्चा। सांख्य तथा योग से शिव के प्राचीन सम्बन्ध का संकेत किया ही जा चुका है[1]। शांकर वेदान्त के अनुयायियों का का विश्वास है कि भगवान् शंकर ही वैदिक मार्ग प्रतिष्ठा करने और नास्तिक बौद्धों का उन्मूलन करने के लिये शंकराचार्य के रूप में अवतीर्ण हुए थे[2]। विद्याओं के अधिष्ठाता के रूप में शंकर जी की कल्पना **दक्षिणामूर्ति** के रूप में की जाती है। पाशुपतमत तथा शैवसिद्धान्त के अनुयायियों ने शिव की जीवों (पशु) को पाश (माया) से मुक्त करने वाले परमेश्वर के रूप में उद्भावना की और इस प्रकार शिव का महत्त्व तथा पद अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया। **मत्स्य०** १३२।२७,१५४।२६०-७०, **वायु०** ५४।१००, **अग्नि०** ८८।७ तथा **ब्रह्म०** १।३१ में उन्हें विश्व के एकमात्र आदिकारण, जगत्-स्रष्टा यथा वेदों में स्तूयमान **पुरुष** कहा गया है। वे ही दार्शनिकों के ब्रह्म, असीम एवं शाश्वत हैं (लिंग० २।२१।४९, गरुड० १६।६-७)। वे सर्वज्ञ, सर्व-स्थित एवं चराचर के स्वामी हैं तथा प्राणियों में आत्मा के रूप में व्याप्त हैं (वायु० ३०।२८३,२८४)। एक होते हुए भी वे अपने को अनेक रूपों में व्यक्त करते हैं (सौर० २।२)। **मत्स्य०** १५३।३४६ में पार्वती उन्हें **'शाश्वतं जगतः प्रभुम्, अजमीशानमव्यक्तम् अमेयमहिमोदयम्'** कहती है। इसी अध्याय में नारद जी हिमालय से उनका वर्णन करते हुए करते हैं कि वे न कभी उत्पन्न होते हैं और न कभी नष्ट होते हैं; इसी से वे **स्थाणु** कहलाते हैं। वे

---

१. सांख्य से शिव के प्राचीन सम्बन्ध के लिये **महाभारत** अनु० १४।६७ के ये श्लोक भी देखिये—

> **प्रकृतीनां परत्वेन पुरुषस्य च यः परः।**
> **अक्षरं परमं ब्रह्म असच्च सदसच्च यः॥**
> **प्रकृतिं पुरुषं चैवं क्षोभयित्वा स्वतेजसा।**
> **ब्रह्माणमसृजत् तस्मात् देवदेवः प्रजापतिः॥**

२. देखिये, यह साम्प्रदायिक श्लोक—

> विष्णुब्रह्मेन्द्रदेवैः रजतगिरितटात् प्रार्थितो योऽवतीर्य
> शाक्याद्युद्दामकण्ठीरवनखरकराघातसंजातमूर्च्छाम्।
> छन्दोधेनुं यतीन्द्रः प्रकृतिमगमयत् पुण्यपीयूषवर्षैः
> सोऽयं श्रीशंकरार्यो भवदवदहनात् पातु लोकानजस्रम्॥

शरणदायक, शास्ता तथा परमेश्वर हैं और जन्म, मृत्यु आदि से पीडित ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देव उनके हाथ के खिलौने हैं—

न स जातो महादेवो भूतभव्यभवोद्भवः ।
शरण्यः शाश्वतः शास्ता शंकरः परमेश्वरः ॥
ब्रह्मविष्णिवन्द्रमुनयो जन्ममृत्युजरार्दिताः ।
तस्यैते परमेशस्य सर्वे क्रीडनका गिरे ॥

मत्स्य १५३।७९,८०

रुद्र अथवा शिव के स्वरूप के उपर्युक्त पक्षों को देखने के उपरान्त उनसे घनिष्ठतया सम्बन्धित अम्बिका या पार्वती, गणेश तथा स्कन्द के स्वरूप पर भी संक्षेप में एक दृष्टि डाल लेना समुचित प्रतीत होता है क्योंकि इसके बिना शिव के स्वरूप का विवरण अपूर्ण रहेगा ।

अम्बिका

यह सुविदित तथ्य है कि वैदिक आर्यों ने किसी ऐसी प्रभावशालिनी देवी की कल्पना नहीं की जिसे वे जगत् की अधिष्ठात्री तथा सृष्टि की उत्पत्ति एवं पालन से सम्बन्धित समझते हों । **उषा** की कल्पना में लावण्य, मनोरमता तया सौन्दर्य है, किन्तु प्रभाव नहीं । **सरस्वती** तथा उसके सूक्ष्म रूप **वाक्** में अवश्य ऐसे तत्त्व हैं । किन्तु लगता है उसकी धारणा सीमित क्षेत्र से सम्बन्धित थी और चिरस्थायी नहीं रही । ऋग्वेद में केवल एक सूक्त में (१०।१२५) उसका उल्लेख हुआ है और परवर्ती संहिताओं में उसके नाम की स्मृतिमात्र अवशिष्ट रह गई है । शाक्त-तन्त्रों तथा आगम-साहित्य में देवी की उपासना के प्रसंग में जिन वैदिक मन्त्रों को उद्धृत किया गया है वे ऋक् तथा अथर्ववेद संहिता में संकलित **रात्रि**, **पृथ्वी** तथा **वाक्** आदि के सूक्तों से सम्बन्धित हैं, इससे स्पष्ट है कि देवी की स्तुति के लिये वैदिक संहिताओं में स्वतन्त्र मन्त्र नहीं थे।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, मातृशक्ति का सर्वप्रथम **अम्बिका** नाम से उल्लेख **वा० सं०** तथा **श० ब्रा०** में प्राप्त होता है और वे लोकविश्वास की जनकल्याणकारिणी तथा कन्यायों को पति एवं सौभाग्य प्रदान करने वाली मंगलमयी देवी जान पड़ती हैं । प्रतीत होता है कि वैदिक आर्यों की कोई महत्त्वपूर्ण देवी न होने के कारण उस रिक्त स्थान को भरने

के लिये लोक-विश्वास की इस देवी का ब्राह्मण-धर्म में समावेश कर लिया गया। सम्भवतः इस देवी में परवर्ती महाकाली या चामुण्डा आदि देवियों की भाँति क्रूर या घोर तत्त्व नहीं थे। यह भी हो सकता है कि ब्राह्मण धर्म में आ जाने के पश्चात् इनका स्वरूप कुछ परिष्कृत होकर सौम्य हो गया हो। अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस देवी से सम्बन्धित कोई सामग्री नहीं मिलती। **केन-उपनिषद्** (३।१२) में एक प्रसंग आता है जिसमें **उमा-हैमवती** प्रकट होकर इन्द्र, वायु तथा अग्नि को यह उपदेश देती हैं कि वे अपनी शक्ति से एक तिनके को भी नष्ट नहीं कर सकते; ब्रह्म की शक्ति से ही वे सब कुछ करते हैं। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में उमा-हैमवती को विद्या अथवा प्रज्ञा का का प्रतीक माना है। किन्तु सम्भवतः **हैमवती** शब्द का अर्थ यहाँ सुवर्णवर्णा या सुवर्णमयी (हेमवत्-हेमवती) था। रुद्र के दार्शनिक उत्कर्ष के कारण सम्भवतः विद्या-रूपिणी **उमा** का रुद्र से सम्बन्ध हुआ और वे उनकी पत्नी बन गईं। रुद्र द्वारा पर्वतों में, विशेषतः उत्तर दिशा के पर्वतों में, विचरण करने के कारण 'हैमवती' विशेषण का भाव 'हिमवत्-पुत्री' बन गया और इस प्रकार रुद्र का सम्बन्ध हिमालय की पुत्री से हो गया।

मै० सं० तथा **तै० आ०** में इनके विषय में दो अन्य मन्त्र प्राप्त होते हैं किन्तु इनको आसपास के अन्य मन्त्रों सहित इस तर्क से प्रक्षिप्त माना जाता है कि इनमें गरुड, स्कन्द तथा गणेश आदि के जिन स्वरूपों (विशेषणों) का वर्णन हुआ है उनका विकास तब तक नहीं सका था। ये मन्त्र इस प्रकार हैं—

१. तद् गांगोच्याय विद्महे, गिरिसुताय धीमहि।
तन्नो गौरी प्रचोदयात्॥ मै० सं० २।९।१।४

२. कात्यायनाय विद्महे, कन्याकुमारि धीमहि।
तन्नो दुर्गिः (दुर्गा) प्रचोदयात्॥ तै० आ० १०।१

किन्तु यदि यह प्रक्षेप है तो भी इतना निश्चित है कि यह प्रक्षेप वैदिक युग में (अर्थात् सूत्रों के निर्माण तक) ही हो चुका था। उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में ग्रन्थ के अन्य भागों की भाँति ही स्वरांकन का होना इसका परिचायक है। इनमें देवी के जो कात्यायनी, दुर्गा, कन्याकुमारी, गिरिसुता तथा गौरी आदि विशेषण दिये गये हैं वे सर्वतः शिव की पत्नी पार्वती के लिये प्रयुक्त होते हैं। **श० ब्रा०** की अम्बिका सूत्रग्रन्थों तक आते-आते शिव की पत्नी बन गई हैं। **शां० श्रौ० सू०** ४।२९।१ से हमें इसका ज्ञान होता है क्योंकि

यहाँ इनके लिये **भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी** तथा **ईशानी** आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। **बौधायन ध० सू०** २।५।६ में भी इस देवी को स्पष्ट रूप से रुद्र की पत्नी कहा गया है और उनके लिये अनेक तर्पणों का विधान किया गया है।

बौधायन गृ० सू० (३।३।२-५) में इस मातृशक्ति का जो उल्लेख है उससे प्रतीत होता है कि उस समय दुर्गा की सौम्य-उपासना का लगभग वही रूप था जो महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त होता है। यद्यपि यहाँ उनकी प्रतिमा का वर्णन नहीं किया गया, किन्तु उन्हें दन्तधावन, यज्ञोपवीत आदि अर्पण करने, स्नान करवाने एवं पोंछने तथा हवि अर्पित करने (अर्थात् भोग लगाने) का जो विधान किया गया है उससे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। यहाँ उनके लिये **महायोगिनी** तथा **मनोगमा** आदि विशेषणों के प्रयोग से प्रतीत होता है कि इस समय उनके दार्शनिक स्वरूप का भी विकास हो रहा था। वे रुद्र की पत्नी तो कही ही गई हैं साथ ही उन्हें **महावैष्णवी** भी कहा गया है जिससे पता चलता है कि वर्ग-विशेष में उन्हें विष्णु की शक्ति के रूप में भी जाना जाता था। **मार्कण्डेय पुराण** के देवी माहात्म्य (दुर्गासप्तशती) वाले अंश के प्रारम्भ में देवी को महामाया तथा योगनिद्रा की संज्ञा दी गई है जो प्रलयकाल में महाजलधि में सोते हुए विष्णु में लीन हो जाती है। मधु और कैटभ से पीडित ब्रह्मा विष्णु की इसी योगनिद्रा की स्तुति करते हैं—**तुष्टाव निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलां तेजसः प्रभुः।** (१।७१)। एकादश अध्याय के ८ से २३ तक के श्लोकों में देवी को **नारायणी** शब्द से संबोधित करते हुए उनकी वन्दना की गई है **(नारायणि नमोऽस्तु ते)**। **बौ० गृ० सूत्र** में आया **महाकाली** विशेषण उनके उस घोर तथा रौद्र रूप का परिचायक है जिसमें वे बाद में चण्ड, मुण्ड, शुंभ, निशुंभ, महिषासुर, धूमकेतु, रक्तबीज आदि राक्षसों की हन्त्री के रूप में चित्रित की गयी हैं। देवी की पूजा में यहाँ वैदिक मन्त्रों का ही प्रयोग किया गया है जिनमें अधिकांश अग्नि तथा आपस् सम्बन्धी हैं—

> **यज्ञोपवीतं रक्तपुष्पपद्मं संभारानुपकल्प्य मासि मासि कृत्तिके पूर्वाह्णे गोमयेन चतुरस्रं स्थण्डिलं कृत्वा प्रोक्ष्य शौचेन सुव्रतस्तिष्ठन् भगवतीम् आह्वयेत्—ॐ आर्यां रौद्रीमाह्वयामि इति आहूय ''''कूर्चं दत्त्वा '' यज्ञोपवीतं दत्त्वा अथैनां स्नपयति।''' इत्येतेन अनुवाकेन मार्ज-यित्वा आर्यायै रौद्रायै महाकाल्यै महायोगिन्यै सुवर्णपुष्प्यै। देवसंकीर्त्यै**

महायज्ञ्यै महावैष्णव्यै महापृथिव्यै मनोगम्यै शंखधारिण्यै नमः।.... सावित्र्यै भगवत्यै दुर्गादेव्यै हविर्निवेदयामि इति हविः निवेद्य शेषम् एकादशनामधेयैः हुत्वा पंचदुर्गां जपेत्....।

बौ० गृ० सू० ३।३।२-५

दुर्गा की यह उपासना-पद्धति प्रायः उनके पुराण-कालीन यजन के समान है। अन्तर यही है कि सूत्रकाल में उनके लिये वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होता था किन्तु बाद में इनका स्थान सर्वथा लौकिक स्तोत्रों तथा मन्त्रों ने ले लिया। इस प्रसंग में उनका **भगवती** अभिधान तथा रक्तपद्मपुष्पों द्वारा उनकी अर्चना होने का तथ्य भी ध्यान देने योग्य है।

रामायण में देवकथाओं का जो क्रमबद्ध तथा विस्तृत रूप प्राप्त होता है उनमें, सूत्रग्रंथों में उल्लिखित दुर्गा का विरल तथा क्षीण रेखाचित्र, अधिक पूर्ण तथा स्पष्ट बन कर उभरता है। उनके सम्बन्ध में जो धारणाएँ प्राप्त होती हैं उनसे उनके व्यक्तित्व के विषय में एक निश्चित अनुमान लगाया जा सकता है। **केनोपनिषद्** की **उमा** अब निश्चित रूप से शिव की पत्नी हैं (बाल० ३५।१६-२१, ३६।१४-२९, ४३।२; उत्तर० ४।२८-३०, १३।२२, १६।३२ आदि)। उन्हें हिमालय की पुत्री माना गया है (....ददौ शैलवरः सुताम्। रुद्रायाप्रतिरूपाय उमां लोकनमस्कृताम्॥ बाल० ३५।२०)। पर्वतराज की पुत्री होने के कारण अब उनका सबसे अधिक प्रचलित नाम **पार्वती** है (उत्तर० ४।२७, आदि)। भवानी, रुद्राणी, शर्वाणी, ईशानी आदि शिव के विशेषणों से स्त्री-प्रत्ययों द्वारा बने विशेषण अब उनके लिये बहुत कम प्रयुक्त होते हैं (इनमें भवानी अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है)। प्राचीन काल में दुर्गा के मुख्यतः शिवपत्नी के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण इन विशेषणों का औचित्य एवं उपयोगिता थी किन्तु अब तो स्वतः पार्वती के ही अपने कई नाम तथा विशेषण हैं। **रामायण** में अनेक स्थानों पर पार्वती के लिये आदर सूचक **देवी** शब्द प्रयुक्त हुआ है (बाल० ३५।२१, ३६।६ उत्तर० ८७।२४, २७ आदि)। उन्हें वर-प्रदान करने वाली, एक सौम्य तथा दयालु देवी के रूप में चित्रित किया गया है। **उत्तर०** ४।२८-३१ में कहा गया है कि **सालकटंकटा** नामक राक्षसी जब अपने पुत्र को छोड़ कर चली गई तो आकाशमार्ग में शिव के साथ विचरण करती हुई पार्वती को उस पर बड़ी दया आई। उन्होंने शंकर से कहकर उस रोते हुए बालक को युवा, हृष्ट-पुष्ट तथा अमर करवा दिया और उसे एक आकाशगामी पुर प्रदान किया—

कारुण्यभावात् पार्वत्या भवस्त्रिपुरसूदनः ।
तं राक्षसात्मजं चक्रे मातुरेव वयः समम् ॥
पुरमाकाशगं प्रादात् पार्वत्याः प्रियकाम्यया ।
उमयापि वरो दत्तो राक्षसानां नृपात्मज ॥

उत्तर ४।२९, ३०, ३१

इसी प्रकार राजा इल के स्त्री बन जाने पर भी उसकी प्रार्थना पर वे उसे एक मास पुरुष तथा एक मास स्त्री बने रहने का वर देती हैं (उत्तर० ८७।२४-२८)। यहाँ इल उन्हें वरों की स्वामिनी, वरदा, लोकों को आह्लादित करने वाली, अमोघदर्शना तथा सौम्य कहता है—

ततः शोकेन महता शैलराजसुतां नृपः।
प्रणिपत्य ह्युमां देवीं सर्वेणैवान्तरात्मना।
ईशे वराणां वरदे लोकानामसि भामिनी।
अमोघदर्शने देवि भज सौम्येन चक्षुषा ॥

रामा० उत्तर० ८७।२२,२३

यद्यपि पार्वती का रूप यहाँ परवर्ती महाकाली की भाँति घोर तथा अशान्त नहीं है किन्तु उन्हें अत्यन्त प्रभावशाली तथा तेजस्वी चित्रित किया गया है। उत्तर० १३।२१-३१ में **कुबेर** के 'एकाक्षिपिंगल' विशेषण से सम्बन्धित एक कथा है कि एक बार कुबेर तपस्या करने के लिये हिमालय पर्वत पर गये। वहाँ सुन्दरी पार्वती शंकर के साथ विचरण कर रही थीं। कुबेर ने केवल इस जिज्ञासा से कि यह कल्याणी कौन है, बायाँ नेत्र खोल कर जैसे ही उनकी ओर देखा वैसे ही उनका यह नेत्र झुलस कर पीला पड़ गया—

तत्र देवो मयादृष्टः सह देव्योमया प्रभुः ।
सव्यं चक्षुर्मया दैवात् तत्र देव्यां निपातितम् ॥
'कान्वियं स्यादिति शुभा' न खल्वन्येन हेतुना ।
रूपं ह्यनुपमं कृत्वा रुद्राणी तत्र तिष्ठति ॥
देव्या दिव्यप्रभावेण दग्धं सव्यं ममेक्षणम् ।
रेणुध्वस्तमिव ज्योतिः पिंगलत्वमुपागतम् ॥

उत्तर० १३।२२-२५

इसी प्रकार बाल० ३६।६-२६ में जब देवता यह इच्छा करते हैं कि शिव

के पार्वती के गर्भ से कोई सन्तान न हो तो वे क्रुद्ध होकर समस्त देवों को निस्संतान होने का शाप दे देती हैं और देवगण इस शाप का निराकरण करने में असमर्थ रहते हैं—

इत्युक्त्वा सलिलं गृह्य पार्वती भास्करप्रभा ।
समन्युरशपत् सर्वान् क्रोधसंरक्तलोचना ॥
अपत्यं स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ ॥

उत्तर० ३६।२२, २३ ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि **पार्वती** की कल्पना **रामायण** में एक प्रभावशालिनी, तेजयुक्त देवी के रूप में की गई है जो सामान्यतः दयालु, उदार तथा वरप्रदात्री हैं । महाभारत में आकर उनके स्वरूप का दूसरा पक्ष भी हमारे सामने आता है जिसमें वे उग्र तथा विनाशकारिणी हैं, भले ही वे मनुष्यों या देवों को पीड़ित करने वाले दैत्यों का ही विनाश करती हों । साथ ही वे मांस तथा मदिरा की भी प्रेमी है और उनकी आकृति कराल तथा भयोत्पादक है । देवी के इस नये रूप की व्याख्या करना कठिन नहीं है । कहा जा चुका है कि देवी की उपासना ब्राह्मणधर्म में लौकिक धर्म से आई थी । ब्राह्मण धर्म में उनका रूप प्रायः सुसंस्कृत तथा सौम्य रहा किन्तु समाज के निम्न वर्गों तथा आदिवासियों में व्याप्त उनकी उपासना के प्रभाव से वह घोर रूप धारण करता गया । मातृशक्ति का अनेक नामों तथा रूपों में निम्न-वर्गीय जनता में पूजन होता था और आज भी होता है । महाभारत के समय में धीरे-धीरे उच्च एवं निम्न वर्ग के धार्मिक विश्वासों के बीच की खाई पटने लगी थी । शनैः शनैः निम्नवर्ग में पूज्यमान देवी के भयंकर तथा घोर रूपों और उच्चवर्ग की अम्बिका (माता) के सौम्य तथा मृदु रूपों का सम्मिश्रण हो गया और मातृशक्ति अनेक नामों, रूपों तथा आकारों में बँट कर हिन्दू धर्म में परिव्याप्त हो गई ।

महा० विराट्पर्व, षष्ठ-अध्याय में अज्ञातवास के लिये राजा विराट् के राज्य में जाते हुए **युधिष्ठिर** दुर्गा की जो स्तुति करते हैं उसमें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक आता है—

विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम् ।
कालिकालि महाकालि सीधुमांसपशुप्रिये ॥

यहाँ **दुर्गा** को विन्ध्याचल में सदा निवास करने वाली तथा मद्य, मांस

एवं पशु से प्रसन्न होने वाली बताया गया है। स्पष्ट है कि ये विशेषताएँ रामायणकालीन उच्चवर्गीय समाज में पूजित पार्वती या उमा में नहीं थीं। इसके विपरीत आज भी विन्ध्य के वनों में रहने वाली भील आदि शबर जातियाँ इस कराल देवी की उपासना करती हैं और उसे मद्य, मांसादि से तृप्त करती हैं। देवी के विन्ध्यवासिनी आदि नाम भी इसी ओर संकेत करते हैं।

भीष्म पर्व (२३।४-१९) में श्रीकृष्ण के निर्देश से **अर्जुन** भी युद्ध में जय की कामना से दुर्गा के लिये स्तोत्र का पाठ करते हैं। इस स्तोत्र में दुर्गा के जो नाम आये हैं उनसे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इस समय तक दुर्गा ने भारत की अनेक जातियों की अनेक स्वभाव वाली देवियों को आत्मसात् कर लिया था। ये विशेषण इस प्रकार है—काली, कपाली, कृष्णपिंगला, भद्रकाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराली,[1] विजया, कौशिकी, उमा, शाकंभरी, विरूपाक्षी, धूम्राक्षी, सरस्वती, सावित्री आदि। साथ ही उन्हें मयूरपुच्छ धारण करने वाली, आभरणभूषित, शूल तथा खड्ग एवं खेटक आदि शस्त्र ग्रहण करने वाली तथा महिषासुर के रक्त की इच्छुक भी कहा गया है—

नमस्ते सिद्धसेनानि आर्ये मन्दरवासिनि।
कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णपिंगले ॥
भद्रकालि नमस्तुभ्यं महाकालि नमोऽस्तु ते।
चण्डि चण्डे नमस्तुभ्यं तारिणि वरवर्णिनि ॥
कात्यायनि महाभागे करालि विजये जये।
शिखिपिच्छध्वजधरे नानाभरणभूषिते ॥

---

१. मुंडक उप० (१।२।४) में एक श्लोक है, **'काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरूपी च देवी लोलायमाना इति सप्तजिह्वाः।** इसमें अग्नि की सात शिखाओं या लपटों के नाम दिये हुए हैं। इनमें आये देवी के 'काली' तथा 'कराली' नामों को देख कर वेबर (इंदिशे श्टूडियन, १।२८६) ने अनुमान लगाया है कि दुर्गा की उपासना मूल रूप में अग्नि के भयंकर रूप से सम्बन्धित है। पर यह बड़ी दूर की कल्पना है और इसकी पुष्टि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर नहीं होती।

अट्टशूलप्रहरणे खड्गखेटकधारिणि ।
गोपेन्द्रस्यानुजे ज्येष्ठे नन्दगोपकुलोद्भवे ।।

महिषासृक्प्रिये नित्यं कौशिकि पीतवासिनि ।
अट्टहासे कोकमुखे नमस्तेऽस्तु रणप्रिये ।।

उमे शाकंभरि श्वेते कृष्णे कैटभनाशिनि ।
हिरण्याक्षि विरूपाक्षि धूम्राक्षि च नमोऽस्तु ते ।

वेदश्रुतिमहापुण्ये ब्रह्मण्ये जातवेदसि ।
त्वं ब्रह्मविद्याविद्यानां महानिद्रा च देहिनाम् ।।

स्कन्दमातर्भगवति दुर्गे कान्तारवासिनि ।।

महा० भीष्म २३।४-११

ऊपर के उद्धरण के ७वें श्लोक में देवी को **कृष्ण** (गोपेन्द्र) **की बहन** तथा नन्दगोप के कुल में उत्पन्न कहा गया है। यह **हरिवंश पुराण** (२।२।३७ तथा आगे) और **भागवत** (१०।४।१-१३) आदि में वर्णित उस प्रसंग की ओर संकेत है जिसमें कहा गया है कि विष्णु के आदेश से **योगमाया** ने यशोदा के गर्भ से एक कन्या के रूप में जन्म लिया। वसुदेव जी अपने अष्टम पुत्र कृष्ण को यशोदा के पास लेटा कर उस बालिका को आये। कंस को जब यह पता चला तो वह भागा हुआ आया और बालिका को देवकी की गोद से छीनकर शिला पर पटक दिया। किन्तु बालिका कंस के हाथों से छूटकर आकाश में पहुँची और अष्टभुजाओं से युक्त दुर्गा का रूप धारण करके कंस को चेतावनी देकर अदृश्य हो गई। **भागवत** में इसके आगे का श्लोक वहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें कहा गया है कि इस घटना के अनन्तर वह देवी अनेक स्थानों में विभिन्न नामों से पूजी जाने लगीं—

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि ।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह[1] ।

श्रीमद्भागवत में एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग और है जिससे पता चलता है कि उस समय चोर, लुटेरे आदि शूद्र जाति के लोग सन्तान-प्राप्ति आदि कामनाओं की पूर्ति के लिये देवी के भयंकर रूप **भद्रकाली** की उपासना नर-

---

१. टीकाकार **श्रीधर** का कथन है कि वह **विन्ध्याचल** तथा **कामाख्या** प्रभृति क्षेत्रों में अनेक नामों से प्रसिद्ध हुई।

बलि देकर किया करते थे। भाग० ५।९।११-१९ में **जडभरत** (ऋषभदेव) की कथा के प्रसंग में बताया गया है कि एक बार शूद्र जाति के किसी दस्युराज ने सन्तान की प्राप्ति के लिये भद्रकाली को एक नरबलि देने का प्रबन्ध किया। किन्तु उसका 'पशु' रात में भाग निकला। तब उसके अनुचर खेतों की रखवाली करते हुए जडभरत को ही पकड़ लाये। जब उसका वध करने के लिये दस्युराज ने कृपाण उठाई तो शूद्रों के द्वारा एक निर्दोष तपस्वी-ब्राह्मण का वध होते देख कर भद्रकाली प्रतिमा को फोड़ कर प्रकट हो गईं। उन्होंने झपट कर से पुरोहित के हाथ से तलवार छीन कर उन चोरों का ही सिर काट डाला और उनके उष्ण रक्त को स्वयं पिया तथा पार्षदों को पिलाया। आसवसदृश इस रक्त का प्रचुर मात्रा में पान कर लेने से वे मद-विह्वल हो गईं और अपने पार्षदों समेत नरमुण्ड उछाल-उछाल कर गाने और नाचने लगीं—

(१) **अथ कदाचित् कश्चिद् वृषलपतिः भद्रकाल्यै पुरुषपशुमालभत अपत्यकामः।**

भाग० ५।६।१२

(२) **भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभृकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटोपातिभयानकवदना हन्तुकामेवेदं महाट्टहासमतिसंरम्भेण विमुञ्चन्ती उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां तेनैवासिना विवृक्ण-शीर्ष्णां गलात् स्रवन्तम् असृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयाति-पानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च विजहार च शिर·कन्दुकलीलया।**

भाग० ५।९।१८

यहाँ जिस भद्रकाली का चित्रण है वे उच्च-हिन्दूधर्म में फलपुष्पादि से पूज्यमान, मंगलमयी तथा सौभाग्यप्रदात्री देवी नहीं हैं अपितु बर्बर जातियों के धार्मिक विश्वासों की नरबलि एवं पशुबलि से प्रसन्न होने वाली, रक्त-पायिनी, भयंकर एवं घोर देवी। इस सम्बन्ध में **हरिवंश पुराण** के वे श्लोक स्मरणीय है जिनमें देवी को शबर, बर्बर तथा पुलिन्द आदि वन्य जातियों द्वारा पूजित (शबरैर्बर्बरैश्चैव पुलिन्दैश्च सुपूजिता, १।३।३६) तथा सुरा और मांस की प्रेमी (सुरामांसप्रिया, १।३।३९) कहा गया है।

प्राचीन पुराणों में हमें देवी के ब्राह्मण धर्म में विकसित सौम्य तथा

लौकिक क्षेत्र में विकसित घोर, दोनों ही रूपों के दर्शन हो जाते हैं। **विष्णु पु०** १।७।१२-१५ को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं जिसमें कहा गया है कि शंकर ने अपने स्त्री-रूप को सौम्य तथा असौम्य कई रूपों में विभाजित किया (सौम्यासौम्यैस्तदा शान्ताशान्तैः स्त्रीत्वं च स प्रभुः)। **अग्नि** पु० ९६।१००-१०६ में दुर्गा की जो स्तुति प्राप्त होती है उसमें उन्हें सौम्य तथा दयाशील रूप में ही कल्पित किया गया है। वे एक ऐसी देवी हैं जिनका सत्कार सारा विश्व करता है और उनसे अनुग्रह की प्रार्थना करता है। **मत्स्य०** (१३।१८ तथा आगे), में उन्हें जगन्माता, सर्वशक्तियों की अधिष्ठात्री तथा कल्याणमयी कहा गया है। किन्तु इसी पुराण में अन्यत्र (१५८।११ तथा आगे) उनके उस घोर रूप का भी स्मरण किया गया जिसमें वे दानवों का संहार करती हैं। **वायु०** ९।८२ का यह कथन कि देवी पहले आधी श्वेत तथा आधी काली थीं और बाद में उन्होंने अपने दोनों रूपों को अनेक भागों में विभक्त किया, देवी की उपासना से सम्बन्धित दो पृथक्-पृथक् धाराओं की ओर संकेत करता है।

इन दोनों धाराओं को एक में मिलाने, देवी के विभिन्न रूपों को एक ही मातृशक्ति से सम्बन्धित करने और इस शक्ति को जगत् की आदिकारण-भूत महामाया या परब्रह्म की शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय **मार्कण्डेय पुराण** में संकलित **देवी-माहात्म्य** को है। यह देवीमाहात्म्य **दुर्गा-सप्तशती** नाम से आज भी देवी के भक्तों का कंठहार बना हुआ है। मार्कण्डेय पुराण के ८१ से ९३ तक के १३ अध्याय दुर्गासप्तशती कहे जाते हैं। इसमें कहा गया है कि देवी महामाया-रूपिणी है। वह परब्रह्म की शक्ति है। बड़े-बड़े ज्ञानियों के मन को भी वह भ्रान्त कर देती है। उसी से यह चराचर जगत् उत्पन्न होता है। वही अविद्या के रूप में संसार में बन्धन का हेतु है और वही परम-विद्या के रूप में मोक्ष की प्रदात्री भी है (८१।५५-५८)। वह नित्य है किन्तु जब वह देवों के कार्य की सिद्धि के लिये आविर्भूत होती है तो उसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥

८१।६४, ६५, ६६

वही सांख्य में वर्णित आद्य-प्रकृति है तथा सत् और असत् वस्तुओं की

जननी है (८१।७८, ८२)। विष्णु, शिव, इन्द्र, वरुण, आदि देवों में जो भी शक्ति तथा सामर्थ्य है वह सब उसी का रूप है। इसीलिये ८२वें अध्याय में महिषासुर-वध के लिये प्रत्येक देवता के शरीर के निकले तेज के पुंजीभूत होने से उसकी उत्पत्ति बताई गई है। ८५वें अध्याय में देवी को ही चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, शान्ति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, दया तथा स्मृति आदि बताया गया है।

सभी देवियों को एक ही मातृशक्ति पार्वती से सम्बन्धित करने का मार्कण्डेय-पुराण का प्रयास श्लाघ्य है। देवों की स्तुति पर, पार्वती के शरीर से चण्ड, मुण्ड, शुंभ, निशुंभ तथा महिषासुर आदि राक्षसों का विनाश करने के लिये **अंबिका** का जन्म होता है (८५।८७)। अंबिका का ही **कौशिकी** भी नाम है। शरीर से उसके निकल जाने पर पार्वती काली हो जाती हैं (८५।८८)। अम्बिका के ललाट से **भद्रकाली** का जन्म होता है (८७।६) चण्ड-मुण्ड का वध करने से उसका नाम **चामुण्डा** पड़ता है (८७-२७)। अंबिका के ही शरीर से **चंडिका या शिवदूती** का भी जन्म होता है (८८।२३, २८)। युद्ध में अम्बिका की सहायता करने के लिये ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, कार्त्तिकेय आदि देवों की शक्तियाँ भी उनके शरीर से निकल कर आती है (८८।१३-२१) और जब शुंभ देवी को ताना देता है कि वे इस प्रकार दूसरों के बल पर गर्व कर रही हैं तो वे कहती हैं कि "मैं ही तो संसार की एकमात्र शक्ति हूँ, और दूसरा कौन है? ये सब मेरी ही तो विभूतियाँ हैं", और शुंभ के देखते-देखते सारी शक्तियाँ अम्बिका के शरीर में लीन हो जाती हैं—

शुम्भ—**बलावलेपाद् दुष्टे त्वं मा दुर्गे गर्वमावह।**
अन्यासां बलमाश्रित्य युध्यसे यातिमानिनी॥
देव्युवाच—**एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।**
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥

× × × ×

ततः समस्ताः ताः देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखाः लयम्।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुः एकैवासीत् तदाम्बिका॥
देव्युवाच—**अहं विभूत्या बहुभिरिहरूपैर्यदास्थिता।**
तत्संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरो भव॥

मार्कण्डेय पु० ९०।३-८

९१वें अध्याय (४१-५४) में देवी विन्ध्याचलनिवासिनी, रक्तदन्तिका, शताक्षी, शाकंभरी, दुर्गा, भीमादेवी तथा भ्रामरी आदि देवियों को भी अपने ही विभिन्न रूप एवं विभूतियाँ घोषित करती हैं।

शक्तिपूजा का यह चरम उत्कर्ष है। पार्वती से इस परम-शक्ति का तादात्म्य होने के कारण और शिव की परब्रह्म के रूप में मान्यता होने के कारण शिव और पार्वती हिन्दू धर्म में अद्वितीय महत्त्व रखते हैं। अर्धनारी-नटेश्वर के रूप में शिव और शक्ति की एक दूसरे के संपूरक के रूप में कल्पना भी इसी से उद्भूत हुई है।

गणेश या विनायक

गणपति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग **ऋ० वे०** २।२३।१ में प्राप्त होता है। यहाँ यह ब्रह्मणस्पति के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। **वा० सं०** २३।१९ में गणपति के सम्बन्ध में प्राप्य निम्न प्रसिद्ध मन्त्र—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे।
प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे।
निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे॥

संभवतः 'गणों के अधिपति' रुद्र को सूचित करता है, क्योंकि इससे पूर्व के मन्त्रों में (२३।१८) अंबिका का भी उल्लेख है। रुद्र के विभिन्न प्रकार के गणों का उल्लेख शतरुद्रिय में प्राप्त होता है (देखें, पृ० ५०८-५१२)।

मै० सं० २।९।१।६ में गणेश के विषय में निम्न गायत्री प्राप्त होती है जिसमें उन्हें **हस्तिमुख** तथा **दन्ती** कहा गया है—

तत् कराटाय विद्महे, हस्तिमुखाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

इसी प्रकार **तै० आ०** १०।१।६ में भी गणेश को **वक्रतुण्ड** तथा **दन्ती** कहा गया है—

तत्पुरुषाय विद्महे, वक्रतुण्डाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

परन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, **मै० सं०** तथा **तै० आ०** के ये

दोनों ही उद्धरण निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है और संभवतः सूत्र युग से पहले के नहीं है। वस्तुतः गणेश का सर्वप्रथम प्रामाणिक उल्लेख **बौधायन ध० सू०** २।५।६ में प्राप्त होता है। यद्यपि यहाँ उन्हें केवल **विनायक** कहा गया है और गणेश शब्द उनके लिये प्रयुक्त नहीं हुआ किन्तु इनके **वक्रतुण्ड, एकदन्त, हस्तिमुख, लम्बोदर, स्थूल** तथा **विघ्न** आदि जो विशेषण दिये गये हैं उनसे उनके व्यक्तित्व के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। **बौ० ध० सू०** में इनके लिये अन्न-बलि आदि प्रदान करने का विधान किया गया है, साथ ही इनके स्त्री तथा पुरुष पार्षदों का भी उल्लेख हुआ है (तु० की०, **शांखायन श्रौ० सू०** ४।२०।१)।

बौ० गृ० सू० (३।३।१०) में भी इस विनायक की अर्चना का विधान किया गया है। यहाँ इसे कार्यों में सिद्धि-विधायक, धन, ऐश्वर्य तथा पशुओं का प्रदाता कहा गया है। साथ ही उनके लिये **विघ्न** तथा **विघ्नेश्वर** संज्ञाएँ भी प्रयुक्त हुई हैं। स्तुति से सन्तुष्ट होकर वे विघ्नों का विनाश भी करते हैं। उनका आवाहन इस मन्त्र से किया जाता है—

विघ्न विघ्नेश्वरागच्छ विघ्नित्येव नमस्कृत।
अविघ्नाय भवान् सम्यक् सदास्माकं भव प्रभो॥

बौ० गृ० सू० ३।३।११

इसी स्थल पर विनायक को **भुवनपतिः** तथा **भूतानां-पतिः** आदि उपाधियाँ भी दी गयी हैं और उन्हें **शूर, वीर, उग्र,** तथा **भीम** कहा गया है। **हस्तिमुख** विशेषण भी उनके लिये प्रयुक्त हुआ है—

....विनायकाय भूपतये नमो विनायकाय स्वाहा।.... विनायकाय भुवनपतये नमो, विनायकाय भूतानां पतये नमो....विघ्नाय स्वाहा, वीराय स्वाहा, शूराय स्वाहा, उग्राय स्वाहा, भीमाय स्वाहा, हस्तिमुखाय स्वाहा, वरदाय स्वाहा, विघ्नपार्षदेभ्यः स्वाहा, विघ्नपार्षदीभ्यः स्वाहा....।

बौ० गृ० सू० ३।३।११-१४

उनके **पार्षदों** तथा **पार्षदियों** के वर्णन से स्पष्ट है कि उनकी कल्पना एक विशेष प्रकार के गण के स्वामी के रूप में की जाती थी। यद्यपि वे **विघ्नेश** हैं, तथापि **वरद** भी हैं। उनकी 'आज्ञा' से पूजक के सभी काम सिद्ध होते हैं

(विनायक महाबाहो विघ्नेश भवदाज्ञया, कामा मे साधिताः, ३।३।१५)। किन्तु उनकी गन्ध, पुष्प, धूप तथा दीपों से अर्चना करने के अनन्तर एवं अपूप, करम्भोदक, सत्तू एवं दुग्ध का नैवेद्य अर्पित करने के पश्चात् उनसे वहाँ से चले जाने की जो प्रार्थना की गई है उससे प्रतीत होता है कि उनके घोर एवं विघ्नकारी स्वरूप के कारण उपासक को उनकी उपस्थिति अभीष्ट नहीं थी।

विनायकों के मूल-स्वरूप के विषय में हमें **मानव गृ० सू० २।१४** में महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं। यहाँ एक नहीं, अपितु चार विनायकों का उल्लेख किया गया है। इनके नाम है **शालकटंकट, राजपुत्र-कूष्माण्ड, उस्मित,** तथा **देवयजन**। ये निम्नवर्गीय लौकिक-विश्वास की दुष्ट शक्तियों के प्रतीक हैं। भूत-प्रेतों की भाँति ये भी मनुष्यों को आविष्ट कर लेते हैं। इनसे आविष्ट हुए मनुष्यों की यह पहचान होती है कि वे मिट्टी के ढेले फोड़ने लगते हैं, तिनके तोड़ते हैं, अंगों में लेख लिखते हैं, दुःस्वप्न देखते हैं। स्वप्न में उन्हें विशेषतः ऊँट, सुअर तथा गधे दिखाई पड़ते है। रास्ते में चलते हुये उन्हें ऐसा लगता है मानों कोई उनका पीछा कर रहा है। इनसे आविष्ट योग्य राजकुमार भी राज्य नहीं प्राप्त करते। सुन्दरी कन्याएँ भी पति-प्राप्ति से वञ्चित रह जाती हैं। निर्दोष स्त्रियाँ भी पुत्रवती नहीं होतीं। सदाचारिणी स्त्रियों के भी बालक मर जाते हैं। वेदों का विद्वान् भी आचार्य नहीं बन पाता। विद्यार्थियों के अध्ययन में महान् विघ्न होता है। वैश्यों का व्यापार नष्ट हो जाता है और किसानों की खेती मारी जाती है। सारांश यह है कि जितने भी प्रकार अमंगल संभव हैं वे सब होते हैं—

> **अथातो विनायकान् व्याख्यास्यामः। शालकटंकटश्च कूष्माण्डराज-पुत्रश्चोस्मितश्च देवयजनश्चेति। एतैरधिगतानाम् इमानि रूपाणि भवन्ति। लोष्ठं मृद्नाति। तृणानि छिनत्ति। अंगेषु लेखान् लिखति अपस्वप्नं पश्यति।''''उष्ट्रान् शूकरान् गर्दभान्....स्वप्नान् पश्यति। अध्वानं व्रजन् मन्यते पृष्ठतो मे कश्चिद् व्रजति। एतैः खलु विनायकै-राविष्टा राजपुत्रा लक्षणवन्तो राज्यं न लभन्ते। कन्याः पतिकामाः लक्षणवत्यो भर्तॄन् न लभन्ते। स्त्रियः प्रजाकामा लक्षणवत्यः प्रजा न लभन्ते। स्त्रीणाम् आचारवतीनाम् अपत्यानि म्रियन्ते। श्रोत्रियो-ऽध्यापक आचार्यत्वं न प्राप्नोति अध्येतॄणामध्ययने महाविघ्नानि भवन्ति। वणिजां वाणिज्यपथो विनश्यति कृषिकाराणां कृषिरल्पफला भवति''''।**
>
> मानव गृ० सू० २।१४ तथा आगे

बौ० गृ० सू० तक आते आते संभवतः चार के स्थान पर **एक** प्रमुख विनायक की कल्पना रूढ़ हो गई थी। इसी को गणों या भूत, प्रमथ आदि पार्षदों का स्वामी माना जाता था। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** के ११वें **'गणपति कल्प'** प्रकरण में एक ऐसे ही शक्तिशाली विनायक का वर्णन है जिसे रुद्र तथा ब्रह्मा ने गणों का अधिपति बनाकर कामों में विघ्न डालने के नियुक्त कर रखा है। इससे पीड़ित व्यक्तियों के जो लक्षण बताये गये हैं वे पूर्णतः **मा० गृ० सू०** के वर्णन का अनुसरण करते हैं—

विनायकः कर्मविघ्नसिद्धयर्थं विनियोजितः।
गणानामाधिपत्ये च रुद्रेण ब्रह्मणा तथा॥
तेनोपसृष्टो यस्तस्य लक्षणानि निबोधत।
स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जलं मुण्डांश्च पश्यति।
अन्त्यजैर्गर्दभैरुष्ट्रैः समेकत्रावतिष्ठते।
व्रजन्नपि तथात्मानं मन्यतेऽनुगतं परैः॥
तेनोपसृष्टो लभते न राज्यं राजनन्दनः।
कुमारी न च भर्तारमपत्यं गर्भमंगना॥

याज्ञवल्क्य स्मृति ११।२७१-२७५

२८५वें श्लोक में इस विनायक के शालकटंकट, कूष्माण्ड तथा राजपुत्र आदि नामों से **मा० गृ० सू०** में वर्णित विनायकों से इसका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और २९०वें श्लोक में इसे अंबिका का पुत्र बताने से (**विनायकस्य जननीम् उपतिष्ठेत् ततोऽम्बिकाम्**) इसके ही परवर्ती गणेश होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

इस प्रकार गणेश मूलतः लोक-विश्वास की उन अनिष्टकारी शक्तियों के अधिपति माने जाते थे जिनका कार्य मनुष्य को हर प्रकार से परेशान करना है, और इसीलिये प्रत्येक मांगलिक कार्य के आरम्भ में या अनिष्ट दूर करने के लिये उनका पूजन आवश्यक समझा जाता था। प्रारम्भ से ही इनकी कल्पना हाथी के समान मुख वाली, एक वामन एवं स्थूलकाय मानव-आकृति के रूप में की जाती थी क्योंकि लोक-विश्वास के अनुसार आज भी भूत, प्रेत, प्रमथ आदि पशुओं सा मुख रखते हैं।

गणेश जी की आकृति, लंबोदरत्व, एकदन्तत्व, गजवदनत्व, सूप के समान कानों का होना, ढुंढिराज आदि विशेषण तथा पुराणों में उनके जन्म के

सम्बन्ध में अनेक प्रकार की परस्पर असम्बद्ध कथाओं का पाया जाना निश्चित रूप से उन्हें आर्य-देवमंडल से बाहर की वस्तु सिद्ध करता है। **गणपत्युपनिषद्** में उन्हें 'व्रातपति' अर्थात् किसी अनार्य, यायावर-जाति का स्वामी तथा 'प्रमथपति' कहा गया है (खंड ३) और उनका शारीरिक वर्णन इस प्रकार किया गया है—

रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम् ।
रक्तगन्धानुलिप्तांगं रक्तपुष्पैः सुपूजितम् ॥ खंड २ ।

मनुस्मृति में भी एक स्थान पर कहा गया है कि शिव ब्राह्मणों के देवता हैं और गणेश शूद्रों के। ये सभी तथ्य उन्हें निम्नवर्गीय जातियों द्वारा आदृत, सामान्य लोक विश्वास का एक देवता सूचित करते हैं जो बाद में अपने महत्त्व के कारण आर्य देवमंडल में प्रविष्ट हो गये।

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि रुद्र एवं गणेश का प्रारम्भ में ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। वैदिक युग में रुद्र भी अपने गणों के अधिपति माने जाते थे। इन गणों का स्वरूप भी लगभग विनायकों का जैसा ही था। यही कारण है कि रुद्र के लिये **वा० सं०** २२।३० तथा २३।१९ आदि में **गणपति** शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त रुद्र का मूल स्वरूप भी लोक-विश्वास से पुष्ट हुआ है। अतः महाभारत में आकर एक समय ऐसा भी आता है जहाँ रुद्र एवं गणपति का व्यक्तित्व लगभग मिल जाता है[1]। यहाँ शिव को दो बार **गणपति** कहा गया है और उन्हें **गणेश्वर** की उपाधि भी दी गई है। **गणेशपूर्वतापनी-उपनिषद्** में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में गणेश का शिव से तादात्म्य किया गया है और उन्हें शिव का गजरूपधारी रूप माना गया है—

अथापश्यन् महादेवं श्रिया जुष्टं मदोत्कटम् ।
लसत्कर्णं महादेवं गजरूपधरं शिवम् ॥
स संस्तुतो दैवतदेवसूनुः सुतं भृगोर्वाक्यमुवाच तुष्टः ।
अवेहि मां भार्गव वक्रतुण्डमनाथनाथं त्रिगुणात्मकं शिवम् ॥
गणेश पू० ता० उप०, १।५

वराह पु० (२३।१४) में कहा गया है कि विनायक को शिव ने उत्पन्न किया है और वे साक्षात् दूसरे रुद्र हैं (**साक्षाद् रुद्र इवापरः**)। **सौर पु०**

---

१. एलिस गैट्टी : **गणेश**, ए मोनोग्राफ, आक्सफोर्ड १९३६, पृ० २।

४३।४८ में भी गणेश को पूर्णतः शिव ही बताया गया है। कई पुराणों में उन्हें शिव की उपाधियाँ एवं विशेषण प्रदान किये गये है। **अग्नि पु०** ३४८।२६ तथा आगे, में उन्हें **त्रिपुरान्तक** कहा गया है तथा भुजाओं में सर्प लपेटे हुए और मस्तक पर चन्द्रकला धारण किये हुए वर्णित किया गया है। **ब्रह्मवैवर्त पु०** ३।१३।४१ में उन्हें **ईश** कहा गया है तथा सिद्धों और योगियों का स्वामी बताया गया है। इसी प्रकार कुछ पुराणों में गणेश की उपाधियाँ शिव के लिए भी प्रयुक्त हुई है। **वायु० पु०** २४।१४७ तथा ३०।१८३ में शिव को **गजेन्द्रकर्ण, लम्बोदर** तथा **दंष्ट्रिन्** कहा गया है। शिव और गणेश के इसी तादात्म्य का परिणाम है कि **वा० सं०, श० ब्रा०, तै० सं०** तथा **तै० ब्रा०** में जहाँ मूषक को रुद्र का पशु बताया गया है वहीं पुराणों में आकर वही मूषक गणेश का वाहन बन गया है और शिव से उसका सम्बन्ध पूर्णतः विलुप्त हो गया है (**आखुरथं तमीडे; ब्रह्म०** ११४।१५)। शिव के समान ताण्डव करती हुई गणेश की अनेक नृत्य मूर्तियाँ ('नाट-गणेश') भुवनेश्वर एवं दक्षिण भारत के मन्दिरों में देखी जा सकती है।

विघ्नराज एवं शिव के गणाधिपति के रूप में स्वतन्त्र रूप से विकसित होने पर भी गणेश का शिव से पुत्र के रूप में सम्बन्ध बना रहा। पर गणेश को पार्वती तथा शिव का पुत्र सिद्ध करने तथा उनके हस्ति-मुख की व्याख्या करने के लिए पुराणों में जो कथाएँ वर्णित की गई हैं उनमें प्रायः बहुत वैचित्र्य है। इससे सिद्ध होता है कि इस सम्बन्ध में कोई एक प्राचीन परम्परागत कथा प्रसिद्ध नहीं थी और सभी व्यासों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इस ओर प्रयास किया। **मत्स्य पु०** १५३।५००-५०५ तथा **पद्मपुराण** ४२।२-६ में लगभग शब्दशः एक ही प्रकार की कथा पाई जाती है। इसके अनुसार पहले पार्वती पुत्र न होने के कारण मन बहलाने के लिए कृत्रिम पुत्रकों (गुड्डे-गुड़ियों) से खेला करती थीं। एक बार उन्होंने अपने शरीर में उबटन लगाया और शरीर से झड़े हुये मैले उबटन से हाथी के मुख वाला एक पुतला बनाया। इसके बाद उन्होंने उसे गंगा में डाल दिया। गंगाजल में पड़ते ही वह पुतला बढ़ कर मानवाकृति हो गया। गंगा तथा पार्वती दोनों ने उसे अपना पुत्र माना और ब्रह्मा ने उसे विनायकों का आधिपत्य प्रदान किया—

ततो बहुतिथे काले सुतकामा गिरेः सुता।
सखीभिः सहिता क्रीडां चक्रे कृत्रिमपुत्रकैः॥

कदाचित् तैलगन्धेन गात्रमभ्यञ्ज्य शैलजा ।
चूर्णैरुद्वर्त्तयामास मलिनान्तरितां तनुम् ॥
तदुद्वर्तनकं गृह्य नरं चक्रे गजाननम् ।
पुत्रकं क्रीडती देवी तं चाक्षिपयदम्भसि ॥
जाह्नव्यास्तु शिवासख्या: ततः सोऽभूद् महद्वपुः ।
पुत्रेत्युवाच तं देवी पुत्रेत्यूचे च जाह्नवी ॥

मेरे द्वारा बचपन में माँ से सुनी हुई बुन्देलखंडी लोककथाओं में यह कथा इस रूप में प्राप्त होती है कि पार्वती ने उबटन से बने इस पुत्र को सजीव करके द्वार पर खड़ा कर दिया और कहा कि वह किसी को भी अन्दर न आने दें। अन्दर जाकर वे स्नान करने लगीं। इतने में शिव आये और भीतर जाने लगे। द्वाररक्षी बालक ने उन्हें भी घर के अन्दर प्रवेश करने से रोक दिया। इस पर शिव ने क्रुद्ध होकर उसका सिर काट लिया। परन्तु पार्वती के बहुत विलाप करने पर उन्होंने अपने गणों को आदेश दिया कि जाकर किसी ऐसे सद्योजात बालक का सिर काट लाओ जिसकी माता उससे विमुख होकर लेटी हो। गणों को मनुष्यों में तो ऐसा कोई बालक नहीं मिला; हाँ एक हस्तिपुत्र अवश्य मिल गया जिसकी हस्तिनी माँ दूसरी ओर मुँह करके सो रही थी। बस, उसका सिर वे ले आये और वह गणेश के लगा दिया गया।

वराह पु० के २३ वें अध्याय में कहा गया है कि एक बार **सोमनाथ** के मन्दिर में पूजा करके सभी प्रकार के पापी तथा दुष्ट स्वर्ग जाने लगे और **यम** को कोई कार्य न रह गया। इस पर शिव ने मनुष्यों की पूजा एवं भक्ति में विघ्न डालने के लिये अपने समान एक बालक उत्पन्न किया। किन्तु पार्वती का उस अनौरस पुत्र पर निरतिशय स्नेह देख कर उसे 'हस्तिमुख' तथा 'लंबोदर' होने का शाप दे दिया। **ब्रह्मवैवर्तपुराण** में (भाग ३, अध्याय ७-९) पुत्र प्राप्ति के लिये अत्यन्त इच्छुक पार्वती को सन्तुष्ट करने के लिये विष्णु ही एक तेजस्वी बालक का रूप धारण करते हैं। सब देवता उसे देखने आते हैं। पर शनि की दृष्टि पड़ते ही उसका सिर कट जाता है। तब विष्णु उसके एक हाथी का सिर जोड़ देते हैं।

लिंग पु० भाग १०४-१०५ में कहा गया है कि देवों की प्रार्थना पर शिव ने ही विघ्नों के विनाश के लिए गणेश का रूप धारण किया। वस्तुतः

विघ्नों का विनाश करना, किन्तु पहले स्तुत न होने पर अनेक विघ्नों को उत्पन्न करना, यही गणेश का पुराणों में मुख्य कार्य है। **ब्रह्मपुराण** के ११४वें अध्याय में आई एक कथा के अनुसार एक बार देवता एक महान् यज्ञ कर रहे थे किन्तु विघ्नों के कारण उनका यज्ञ पूर्ण नहीं हो पा रहा था। ब्रह्मा जी ने उन्हें बताया कि विनायक (कों) के द्वारा संपादित विघ्नों के कारण यह सत्र समाप्त नहीं हो रहा। तुम लोग उस 'आदिदेव' (प्रारम्भ में पूजित) विनायक की स्तुति करो—

विनायककृतैर्विघ्नैः नैतत् सत्रं समाप्यते।
तस्मात् स्तुवन्तु ते सर्वे आदिदेवं विनायकम्॥

ब्रह्म० ११४।४

देवता गंगा में स्नान करके उनकी स्तुति करते हैं तब उनका यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होता है—

इति स्तुतः सुरगणैर्विघ्नेशः प्राह तान् पुनः।
इतो निर्विघ्नता सत्रे मता स्यादसुरारिणा॥ ११४।२०

हिन्दू देवमंडल में बहुत बाद में समाविष्ट होने के कारण गणेश के सम्बन्ध में केवल एक ही महत्वपूर्ण कथा प्राचीन हिन्दू धार्मिक-साहित्य में प्राप्त होती है। **महा० आदि०** १।७५-७९ में कहा गया गया है कि व्यास जी ने विशालकाय **महाभारत** की रूपरेखा अपने मन में तैयार की तो उन्हें चिन्ता हुई कि इसे लिखेगा कौन? ब्रह्मा जी की सलाह से उन्होंने गणेश जी का स्मरण किया। गणेश जी ने इस शर्त पर लिखना स्वीकार किया कि उनकी लेखनी एक क्षण के लिये भी न रुके। व्यास जी ने भी उनसे यह प्रतिज्ञा करा ली कि वे बिना अर्थ समझे कोई श्लोक नहीं लिखेंगे। लेखन-कार्य प्रारम्भ हुआ। कुछ सरल श्लोकों के पश्चात् व्यास जी एक-दो कठिन श्लोक बोल देते थे और जब तक गणेश जी उनका अर्थ समझते थे तब तक वे अगले कई श्लोक सोच लेते थे।

नेपाल से प्राप्त **पिंगलामाला** नामक एक तांत्रिक पुस्तक की १३वीं शती की हस्तलिखित प्रति में तथा राजपूत शैली के एक १७वीं शती के चित्र में गणेश जी को महाभारत लिखते हुए चित्रित किया गया है[1]। प्रश्न यह है कि गणेश जी का विद्या से इस प्रकार सम्बन्ध क्यों हुआ?

---

१. एलिस गैट्टी: गणेश, पृ० ४

भंडारकर का मत है कि गणेश और विद्या का यह सम्बन्ध गणेश और **ब्रह्मणस्पति** के तादात्म्य की भ्रान्ति से हुआ है। ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति विद्या के अधिष्ठाता हैं और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है (पृ० ५६९), ऋग्वेद में उन्हें **गणपति** कहा गया है। इस सम्बन्ध में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति का शस्त्र **स्वर्णपरशु** बताया गया है। किन्तु पुराणों में यह (परशु) गणेश का प्रिय शस्त्र है[1]। कुमारस्वामी का मत हैं कि **गण** शब्द के दो अर्थ होने से यह भ्रान्ति हुई है। यह शब्द परस्पर संबन्धित शब्दों की सूची का भी वाची है (जैसे पाणिनि का गणपाठ) अतः 'गणों' के अधिपति गणेश ऐसी पुस्तकों के भी स्वामी हो गये और कालान्तर में सभी पुस्तकों या विद्या के भी। एलिस गेट्टी का कहना है कि यह धारणा गणेश के **सिद्धि** शब्द से विद्यमान सम्बन्ध से निकली है। गणेश को सिद्धिदाता या 'सिद्धि का स्वामी' माना जाता था। परवर्ती धार्मिक विश्वास के अनुसार सिद्धि उनकी एक पत्नी भी है। इधर ब्राह्मी वर्णमाला को प्राचीन समय में **सिद्धम्** कहा जाता था और उसका अध्ययन-अध्यापन सिद्धि शब्द से प्रारम्भ होता था ('ॐ नमः सिद्धम्')। अतः गणेश का प्रथमतः संस्कृत-वर्णमाला से, तथा बाद में, विद्या से संबन्ध हो गया[2]। जो हो, आज भी गणेश का विद्या से पर्याप्त संबन्ध है और प्रायः लेखक धार्मिक हिन्दू-पुस्तकों के प्रारम्भ में सरस्वती तथा गणेश की स्तुति उपनिबद्ध करना मंगलकारी समझते हैं।

कालान्तर में गणेश की उपासना का एक स्वतन्त्र संप्रदाय बन गया। अपने आराध्यदेव गणेश को उसके उपासकों ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि का भी जनक, सर्वोच्च परब्रह्म स्वीकार किया। **गणेश-पूर्वतापनी, गणेश-उत्तर-तापनी** तथा **गणपति-उपनिषदों** एवं **गणेशपुराण** का निर्माण किया गया। **गणपत्युपनिषद्** में अत्यन्त सशक्त शब्दों में गणेश को जगत् का एकमात्र कर्ता, धर्ता तथा हर्ता, ब्रह्म, आत्मा तथा चिन्मय एवं आनन्द-मय आदि कहा गया है—

---

१. भंडारकर : **वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजन्स ऑफ् इंडिया**, पृ० १४६।

२. एलिस गैट्टी : **गणेश**, पृ० ५।

नमस्ते गणपतये। त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि नित्यम्। त्वं वाङ्मयः, चिन्मयः त्वम् आनन्दमयः। सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति। त्वयि लयमेष्यति। त्वयि प्रत्येति। त्वं शक्तित्रितयात्मकः। त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम्। त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुः त्वं रुद्रः त्वं भूर्भुवः स्वः ओम्॥

गणपत्युपनिषद्: प्रथम खंड।

गणेशोत्तरतापनीयोपनिषद् में गणेश को ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का भी नियन्ता, पूर्ण परमेश्वर, सिद्ध करने के लिए परवर्ती साम्प्रदायिक पुराणों की भाँति आधारहीन काल्पनिक कथाओं का निर्माण किया गया है। सृष्टि से पूर्व **गजानन** एवं गजाकृति-गणेश ही आकाश, पृथ्वी आदि को व्याप्त करके स्थित थे। उन्होंने नाभि से ब्रह्मा की, मुख से विष्णु को तथा नेत्रों से शिव की सृष्टि की। ब्रह्मा से उन्होंने कहा, 'सृष्टि करो'। ब्रह्मा ने कहा, 'मैं नहीं जानता। 'गणेश ने कहा' मेरे अन्दर वर्तमान संपूर्ण ब्रह्माण्डों को देखो और उसी के अनुरूप जगत् का निर्माण करो।' ब्रह्मा ने ऐसा ही किया। इसी प्रकार एक दूसरी कथा में ब्रह्मा, विष्णु, महेश अपने-अपने को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं पर बाद में वे अपने हृदय में गणेश के दर्शन करते हैं[1]।

गणेश पुराण में भी गणपत्युपनिषद् की भाँति गणेश को विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का हेतु बताया गया है (९।२०-२८)। लोक कल्याण के लिए गणेश बार-बार अवतार लेते हैं। विष्णु, शिव आदि सभी देवता गणेश से ही उत्पन्न होते हैं और अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाते हैं (३।७)।

गणेश का यह चरम उत्कर्ष है। यद्यपि गाणपत्य-सम्प्रदाय ने उत्तर भारतीय मूर्ति-कला पर या धार्मिक क्षेत्र में कोई चिरस्थायी प्रभाव नहीं डाला किन्तु भारत से बाहर सांसारिक ऐश्वर्य के प्रदाता एवं विघ्नों के विनाशक के रूप में वे पर्याप्त लोकप्रिय हुए और उनकी उपासना गान्धार (अफ़गानिस्तान) नेपाल, चीन, चीनी-तुर्किस्तान, तिब्बत, बर्मा, स्याम, विएतनाम, जापान आदि देशों तथा जावा, बाली एभं बोर्नियो आदि बृहत्तर भारत के द्वीपों में भी प्रचलित हो गई।

---

१. देखिये, निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित **ईशाद्विविंशोत्तरशतोपनिषदः**, पृ० ६३५-६३७।

स्कन्द

शिव एवं पार्वती के पुत्र के रूप में ख्यात **कार्त्तिकेय** या **स्कन्द** भी ऐसे ही देवता है जिनका उद्गम ब्राह्मण धर्म से बाहर हुआ है। गणेश की भाँति वे भी लोक-विश्वास के देवता थे किन्तु अपने महत्त्व के कारण हिंन्दू देवमंडल में समाविष्ट कर लिये गये और यहाँ आने पर उन्हें लोक-विश्वास से परिबृंहित, विचित्र चरित्र वाले, शिव से बढ़ कर और कौन पिता मिल सकता था ?

वैदिक वाङ्मय में स्कन्द का सर्वप्रथम उल्लेख **मै० सं०** (२।९) तथा **तै० आ०** (१०।१) के परवर्ती भागों में पाया जाता है। **मै० सं०** में उन्हें कुमार, कार्त्तिकेय तथा स्कन्द कहा गया है और **तै० आ०** में **महासेन** तथा **षण्मुख**। दोनों गायत्रियाँ इस प्रकार है—

१—तत् कुमाराय विद्महे कार्त्तिकेयाय धीमहि।
तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्॥ मै० सं० २।९।१।५

२—तत्पुरुषाय विद्महे महासेनाय धीमहि।
तन्नः षण्मुखः प्रचोदयात्॥ तै० आ० १०।१।६

इन गायत्रियों की शब्दावली का सूक्ष्मेक्षण करने से प्रतीत होता है कि कृत्तिका का पुत्र होने, देवों के सेनापति होने तथा छः मुखों से युक्त होने आदि की धारणाएँ स्कन्द से प्रारम्भ से ही संबन्धित हैं। परवर्ती ग्रन्थों में कार्त्तिकेय को कृत्तिकाओं के अतिरिक्त **अग्नि** एवं **शिव** का भी पुत्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है और ऐसी भी कुछ कथाओं का निर्माण हुआ है जिनमें उन्हें विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं द्वारा इन सभी का सम्मिलित पुत्र बनाने की असफल चेष्टा की गई है।

स्कन्द का सर्वप्राचीन प्रामाणिक उल्लेख **बौधायन ध० सू०** २।५।८ में हुआ है। विनायक की भाँति इन्हें भी विविध प्रकार की बलियों से सन्तुष्ट रखने का विधान किया गया है। यहाँ इनमें पाँच नाम प्राप्त होते हैं **सुब्रह्मण्य, षण्मुख, विशाख, जयन्त,** अथा **महासेन**। इनमें से प्रथम नाम तमिल भाषा में कार्त्तिकेय का सर्वप्रचलित नाम रहा है और आज भी है[1], किन्तु संस्कृत साहित्य में इनका प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है।

---

१. करमाकरः **रिलीजन्स ऑफ् इंडिया**, प्रथम भाग, पृ० १२८।

स्कन्दजन्म से सम्बन्धित कथाएँ परस्पर अत्यन्त विभिन्न होते हुए भी स्थूल दृष्टि से दो वर्गों में बाँटी जा सकती हैं। प्रथम वर्ग की कथाओं में कार्त्तिकेय को **अग्नि** (पिता) एवं **स्वाहा** (माता) का पुत्र बताया गया है। किन्तु अग्नि एवं शिव के तादात्म्य के कारण वे शिव के भी पुत्र कहे जाते हैं। दूसरे वर्ग की कथाओं के अनुसार वे अग्नि में निक्षिप्त शिव के वीर्य से अस्वाभाविक रूप में उत्पन्न हुए है। **महाभारत** में दोनों प्रकार की कथाएँ आती हैं और क्रमशः वनपर्व के २२५ वें तथा अनुशासन पर्व के ८६वें अध्याय में वर्णित की गई हैं।

रामायण के बालकण्ड के ३६वें सर्ग में स्कन्दजन्म की कथा का घुला-मिला रूप प्राप्त होता है। इसके अनुसार जब विवाहानन्तर शिव-पार्वती विहार कर रहे थे तो देवों के हृदय में चिन्ता उत्पन्न हुई कि यदि शिव के तेज से पार्वती में कोई पुत्र उत्पन्न हुआ तो वह असह्य तेज तथा पराक्रम से युक्त होगा और सम्पूर्ण प्राणियों को श्रीहीन करके अभिभूत कर लेगा। वे प्रजापति के साथ शिव के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि वे कोई पुत्र उत्पन्न न करें—

यदिहोत्पद्यते भूतं कस्तत् प्रतिसहिष्यते ?
अभिगम्य सुराः सर्वे प्रणिपत्येदमब्रुवन् ॥
देव देव महादेव लोकस्यास्य हिते रतः ।
सुराणां प्रणिपातेन प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥
न लोका धारयिष्यन्ति तव तेजः सुरोत्तम ।
त्रैलोक्यहितकामार्थं तेजस्तेजसि धारय ॥

रामा० बाल० ३६।९।१२

इस पर शिव अपने तेज को पृथ्वी पर छोड़ देते हैं। देवता अग्नि से कहते हैं कि तुम इसमें प्रविष्ट हो जाओ। अग्नि से संयुक्त होते ही वह तेज श्वेत पर्वत के समान विशाल शर-वन (सरकण्डों का जंगल) में परिवर्तित हो जाता है और बाद में उसी शर-वन से कार्त्तिकेय का जन्म होता है (श्लोक १६-२०)[1]। २०वें श्लोक में कार्त्तिकेय को अग्निसंभवः कहा गया है। बाद में पार्वती देवों को पुत्र-रहित होने का शाप देती हैं क्योंकि उन्होंने उनके

---

१. तु० की०, **आराध्यैनं शरवणभुवं देवमुल्लंघिताध्वा ।**
(शरवणभूः = स्कन्द) मेघदूत, १।४५

कोई पुत्र नहीं उत्पन्न होने दिया (२२-२७)। पर ३७वें अध्याय में कथा का अन्त पुनः थोड़े परिवर्तित रूप में वर्णित किया गया है। जब देवों को सेनापति की आवश्यकता हुई तो वे **ब्रह्मा** जी के पास गये। ब्रह्मा ने अग्नि से शिव के तेज को **आकाशगंगा** में छोड़ने के लिए कहा। आकाशगंगा ने स्त्री का रूप धारण करके शिव के तेज को ग्रहण किया किन्तु फिर व्याकुल होकर अपने स्रोतों से उसे हिमालय-पर्वत पर सरकंडे के एक वन में छोड़ दिया। वहाँ एक कुमार का जन्म हुआ। **कृत्तिकाओं** ने उसे दूध पिला कर पाला। इसलिए उसका नाम **कार्त्तिकेय** पड़ा (सर्ग ३७।१-३०)।

महाभारत वन० २२५-२३१ में वर्णित स्कन्द जन्म की कथा से अग्नि एवं शिव का प्राचीन तादात्म्य फिर स्पष्ट होता है। एक बार **अग्नि** सप्तर्षियों की पत्नियों पर मुग्ध हो गये। किन्तु उनके पास उन्हें पाने का कोई साधन नहीं था अतः खिन्न होकर वे वन में चले गये। इधर दक्ष की पुत्री **स्वाहा** अग्नि पर आसक्त थी। अतः उसने अरुन्धती (वसिष्ठ-पत्नी) को छोड़ कर अन्य छः ऋषिपत्नियों का पृथक्-पृथक् रूप धारण करके अग्नि के पास जाकर उनसे संभोग किया और प्रत्येक बार अग्नि के वीर्य को एक गरुडी का रूप धारण करके सरकंडों से घिरे एवं कृत्तिकाओं से रक्षित श्वेत-पर्वत पर एक काञ्चन कुंड में रख आई। कुछ समय पश्चात् उससे छः मुख, बारह हाथ, बारह कान और बारह आँख वाले एक कुमार का जन्म हुआ। अग्नि के 'स्कन्न' (स्खलित) रेतस् से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम **स्कन्द** पड़ा। शरवण में जन्म होने से **शरवणभूः** तथा कृत्तिकाओं द्वारा पालित होने से उसे **कार्त्तिकेय** भी कहा गया—

> **स तत्र तेन मनसा बभूव क्षुभितेन्द्रियः।**
> **पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः कामवशं ययौ॥**
> **कामसन्तप्तहृदयो देहत्यागविनिश्चितः।**
> **अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणामग्निर्वनमुपागमत्॥**
> **स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमं कामयत् तदा।**
> **तस्वतः कामसंतप्तं चिन्तयामास भाविनी॥**
> **अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम्।**
> **कामयिष्यामि कामार्ता तासां रूपेण मोहितम्॥**
> **सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम्।**
> **प्राक्षिपत् काञ्चने कुंडे शुक्रं सा त्वरिता शुभा॥**

तत् स्कन्नं तेजसा तत्र संवृतं जनयत् सुतम्
ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत् स्कन्दतां ततः ॥

इसके पश्चात् ब्रह्मा सहित सभी देवता उस तेजस्वी बालक के दर्शन करने आते हैं। ब्रह्मा जी स्कन्द से कहते हैं कि तुम रुद्र के पुत्र हो क्योंकि अग्नि को ही रुद्र कहा जाता है। दोनों में कोई भेद नहीं है। और रुद्र तथा उमा ने ही अग्नि तथा स्वाहा में प्रविष्ट होकर तुम्हें उत्पन्न किया है—

रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहुः रुद्रसूनुस्ततस्तु सः ।
रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तत् श्वेतः पर्वतोऽभवत् ॥
अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्निं जातो ह्ययं शिशुः ।
रुद्रसूनुं ततः प्राहुः गुहं गुणवतां वरम् ॥
रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया ।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ॥

स्कन्द के विषय में ब्राह्मणों की क्या धारणा थी तथा हिन्दू देवमण्डल में प्रविष्ट होने के लिए स्कन्द को क्या संघर्ष करना पड़ा है इसका प्रतिबिम्ब संभवतः **महा०** वन० २२८।१-२० में वर्णित उस प्रसंग में है जिसमें यह कहा गया है कि स्कन्द के तेज से सब देवों के व्याकुल होने पर इन्द्र ने उन पर अपनी सेना सहित चढ़ाई कर दी और वज्र से उस बालक का विनाश करने के लिए उद्यत हुए। किन्तु स्कन्द ने अपने मुख से अग्नि-ज्वालाओं की सृष्टि की जिससे देवसेना जलने लगी। साथ ही उन्होंने अपने दक्षिण अंग से एक अन्य पराक्रमी बालक **विशाख** भी उत्पन्न किया। इस पर इन्द्र ने हार मान कर स्कन्द की महत्ता स्वीकार की और उन्हें देवसेना का सेनापति बना दिया।

कार्त्तिकेय की पत्नी का नाम **षष्ठी** बताया गया है। ऐसा लोक विश्वास है कि यह देवी छोटे बालकों को हानि पहुँचाती है तथा उनका 'भक्षण' कर जाती है। इसलिए बालक के जन्म के छठे दिन इसकी विधिवत् पूजा होती है। **श्वेता, शकुनिका, वामनिका, संतानिका, सुप्रतिष्ठा, सुकुसुमा, समेडी, शोभना** तथा अन्यान्य विचित्र नाम वाली उनकी असंख्य परिचारिकाएँ महाभारत में वर्णित हैं (वन० २२७।२०-३०)। इनको **मातृकाएँ** कहा गया है और स्कन्द द्वारा इनको यह अनुमति मिली हुई है कि वे १६ वर्ष तक की अवस्था वाले बालकों को रोगादि के द्वारा पीडित करें। **सुवक्त्र, संचारक, सुचक्र,**

सित तथा **सहस्रबाहु** आदि नाम वाले उनके अनेक गण भी हैं जिनका स्वरूप रुद्र के प्राचीन विनाशकारी गणों से मिलता है। मातृकाओं तथा गणों को मिला कर **स्कन्दग्रह** कहा जाता है और विधान है कि अपनी सन्तान के आयुष्य की कामना करने वाले माता-पिताओं का इनका पूजन अवश्य करना चाहिये (२३०।४३,४४)। उपर्युक्त कृत्तिकाओं से इनका सम्बन्ध, छः मुख तथा उत्पत्ति के सम्बन्ध में परस्पर असंगत कथाएँ आदि तथ्य इन्हें मूलतः निम्नवर्गीय लोक-विश्वास का ही देवता सूचित करते हैं जिसमें संभवतः कुछ अनार्य तत्त्व भी मिले हुए हैं[1]। इसकी पुष्टि संस्कृत के प्राचीन नाटक **मृच्छकटिक** के चतुर्थ अंक में प्राप्त एक प्रसंग से भी होती है। **शर्विलक** जब चारुदत्त के घर में सेंध लगाता है तो कार्त्तिकेय को प्रणाम करता है और उन्हें 'चौर्यकला का आदि-गुरु' कहकर स्मरण करता है। चोरों को वह स्कन्दपुत्र बताता है। इनके लौकिक उद्भव का इससे बढ़ कर और क्या प्रमाण हो सकता है? कार्त्तिकेय, सुब्रह्मण्य-स्वामी या कुमार-स्वामी की उपासना आज भी मुख्यतया तमिलनाडु और केरल के द्रविड़-क्षेत्र में ही व्यापक रूप से प्रचलित है, उत्तर में नहीं।

स्कन्द के अग्नि-पुत्रत्व के सम्बन्ध में एक हल्का सा अस्पष्ट संकेत **श० ब्रा०** ६।१।३।१८ में भी मिलता है। यहाँ भव, उग्र, शर्व, आदि रुद्र के आठ नामों का परिगणन करने के पश्चात् (पृ० ५१५) कहा गया है कि ये अग्नि के आठ रूप हैं और उसका नवम रूप कुमार है—

तान्येतानि अष्टौ अग्निरूपाणि, कुमारो नवमः ॥

महाभारत, अनुशासन पर्व (अध्याय ८५, ८६) में स्कन्द जन्म की कथा का एक अपरकालीन रूप दिया गया है पर इसमें रामायण में वर्णित कथा के पर्याप्त अंश मिले हुए हैं। अग्नि ने जब शिव का तेज गंगा को दिया[2] और गंगा ने उसे शरवन में फेंक दिया तो छः कृत्तिकाओं ने उसका एक-एक अंश उठा कर अपने गर्भ में धारण कर लिया। इसके कुछ समय पश्चात् कृत्तिकाओं ने एक शिशु के विभिन्न अंगों को जन्म दिया जो उत्पन्न होते ही जुड़ गये और कार्त्तिकेय का जन्म हुआ।

---

१. देखिये चिन्तामणि विनायक वैद्यः **एपिक इंडिया**, अध्याय १६, 'रिलीजन'।

२. तु० की०, **सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्**, रघुवंश २।७५

ब्रह्मपुराण, ८२वें अध्याय में महाभारत के वन तथा अनुशासन पर्व में विद्यमान कथा के दोनों प्रकारों तथा रामायण में वर्णित प्रकार का विचित्र सम्मिश्रण प्राप्त होता है। अग्नि में सन्निहित शिव के वीर्य को देखकर ऋषिपत्नियों को उसकी स्पृहा हुई और उन्होंने उसे अग्नि से लेकर अपने में धारण कर लिया। किन्तु बाद में उनके स्नान करते समय वह फेन के रूप में निकल कर गंगा में मिल गया और वायु के द्वारा एकत्र होकर उससे षण्मुख की उत्पत्ति हुई (श्लोक २-६)।

परवर्ती पुराणों में स्कन्द से जन्म के साथ **तारकासुर** के वध की कथा भी अविच्छेद्य रूप से जुड़ी हुई है। स्कन्द के जन्म का कोई विशेष कारण पहली कथाओं में वर्णित न होने के कारण इस असुर-विशेष के वध को ही स्कन्द के जन्म का प्रमुख कारण बताया गया है। इन कथाओं में शिव को स्कन्द के प्रमुख जनक के रूप में चित्रित किया गया है। **मत्स्य-पुराण** में दो स्थानों पर यह कथा प्राप्त होती है, १४५।९-११ में तथा १५७ एवं १५८ अध्यायों में। प्रथम कथा अत्यन्त संक्षिप्त है। शिव अग्नि के मुख में अपने तेज का निक्षेप करते हैं[1]। उससे देवों की तृप्ति होती है। बाद में वह तेज अग्नि के उदर को फाड़ कर निकलता है और गंगा में मिल जाता है। वहाँ से शरस्तम्ब में पहुँच कर कार्त्तिकेय को जन्म देता है। दूसरी कथा में तारक से पीड़ित देवता शिव-पार्वती के दीर्घकालीन सहवास से उद्विग्न होकर अग्नि को उनके पास भेजते हैं। शिव कुपित होकर अग्नि को अपने आधे तेज को धारण करने का आदेश देते है। अग्नि उस तेज को सहन न करके त्याग देते हैं। उससे एक सरोवर बन जाता है। पार्वती उसमें स्नान करने आती हैं। वहाँ वे छः कृतिकाओं को कमल-पत्र पर रजत के समान चमकते हुए जल को लिये हुए देखती हैं। पार्वती पीने के लिए उस जल को माँगती हैं। कृत्तिकाएँ इस शर्त पर देना स्वीकार करती है कि पार्वती का पुत्र उनका भी पुत्र माना जायेगा। जल पीते ही पार्वती की कुक्षि से एक बालक का जन्म होता है जिसके मुख आदि का निर्माण कृत्तिकाएँ अपने अनुसार करती हैं।

---

१. तु० की० कालिदास की उक्ति—

रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनाम्
अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः। मेघदूत १।४३

वराह एवं **पद्म** आदि पुराणों में स्कन्द का अग्नि से सम्बन्ध बिलकुल समाप्त कर दिया गया है। **वराह पु०** (२५।५२ त० आ०) में कहा गया है कि जब देवता बार-बार तारकासुर से पराजित हुए तो वे शिव की शरण में गये। शिव ने तत्काल अपनी शक्ति को संक्षुब्ध करके एक देदीप्यमान बालक को उत्पन्न किया जो अपने हाथ में शक्ति लिए हुए था। **पद्म** (अध्याय ३९ तथा ४२) में शिव-पार्वती एक सहस्र वर्षों तक विहार करते हैं। इसके पश्चात् पार्वती सखियों के साथ जल-विहार करने जाती हैं और वहाँ कृत्तिकाओं द्वारा दिये जल का पान करके कार्त्तिकेय को उत्पन्न करती हैं। यहाँ सरोवर अग्नि द्वारा परित्यक्त शिव-तेज से निर्मित नही है अतः अग्नि से सम्बन्ध बिलकुल लुप्त हो गया है।

ब्रह्मपुराण में प्रस्तुत कथा संभवतः सर्वाधिक क्रमबद्ध तथा सुसंघटित रूप में प्राप्त होती है। काल की दृष्टि से यह **मत्स्य, वायु** आदि प्राचीन एवं **पद्म, वराह** आदि अर्वाचीन पुराणों के मध्य में अवस्थित है। दक्षयज्ञविध्वंस, सती-दाह, मदनदहन तथा पार्वती-परिणय आदि की कथाएँ भी इसमें अत्यन्त चतुरतापूर्वक ग्रथित हो गई हैं। दक्षयज्ञ में शिव को भाग न मिलने से कुपित सती अपने को भस्म कर देती हैं। शिव अन्यमनस्क होकर तपस्या करने चले जाते हैं। इधर तारकासुर से व्याकुल देवता ब्रह्मा जी के पास जाते हैं जो बताते हैं कि शिव से उत्पन्न बालक ही उसका वध कर सकता है। सती **उमा** के रूप में हिमालय के यहाँ जन्म लेती हैं। इन्द्र काम की सहायता से शिव को पार्वती के प्रति आसक्त कराना चाहता है; पर प्रकुपित शिव उसे भस्म कर देते है। पार्वती तपस्या से शिव को प्राप्त करती हैं। आगे की कथा **मत्स्य पु०** १४५।९-११ के अनुसार चलती है। अग्नि शिव के तेज को गंगा-तट पर कृत्तिकाओं को देते हैं और उससे स्कन्द की उत्पत्ति होती है। कालिदास के समय में कथा का यही प्रामाणिक रूप था क्योंकि उनके **कुमार-संभव** का यही आधार है।

स्कन्दजन्म की इन कथाओं का क्रमिक विकास बहुत स्पष्ट है। सबसे प्राचीन कथाओं में शिव का उल्लेख ही नहीं है। स्कन्द को अग्निपुत्र बताया गया है (महा० वनपर्व)। यहाँ तक कि प्राचीन पुराणों में कार्त्तिकेय को **अग्नि** की पत्नी **कृत्तिका** से उत्पन्न कहा गया है (भागवत० ६।६।१५, तथा ६।१४।३०)। विकास की दूसरी दशा में शिव के वीर्य को अग्नि धारण कर लेते हैं और दोनों ही स्कन्द के जनक बन जाते है (महा० अनु० तथा मत्स्य०

आदि)। तीसरी अवस्था में उन्हें शिव, अग्नि, कृत्तिका, पार्वती तथा गंगा आदि का एक साथ पुत्र सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है और तारक वध आदि अन्य छोटी-मोटी कथाओं को भी इस मुख्य कथा में जोड़ कर एक महाकाव्य का सा रूप दे दिया जाता है (ब्रह्म०)। सबसे अन्त में यह कथा शुद्ध एवं संक्षिप्त रूप में रह जाती है जिसमें कार्त्तिकेय केवल शिव के पुत्र हैं (वराह० आदि)।

मत्स्य० १५७।४१ में **कुमार** शब्द की एक विशेष व्युत्पत्ति दी गई है। **कु** (कुत्सित दैत्यों) को **मारने** के कारण उसका नाम कुमार है—

दीप्तो मारयितुं दैत्यान् कुत्सितान् कनकच्छविः।
एतस्मात् कारणादेव कुमारश्चापि सोऽभवत्॥

ऊपर उल्लिखित महाभारत (वन-पर्व) के उद्धरण में इन्द्र के विनाश के लिये स्कन्द के दाहिने अंग से **विशाख** नामक एक प्रचण्ड गण की उत्पत्ति वर्णित की गई है। परन्तु परवर्ती पुराणों में यह शब्द स्कन्द का पर्यायवाची है। **मत्स्यपुराण** इस शब्द को कार्त्तिकेय के नामों में परिगणित करता है (स्कन्दो विशाखः षड्वक्त्रो कार्त्तिकेयश्च विश्रुतः, १५८।३) और कहता है कि स्कन्द की शाखाओं (शरीर के अवयवों) के कृत्तिकाओं द्वारा जोड़े जाने के कारण उसका नाम 'विशाख' हुआ—

कृत्तिकामेलनादेव शाखाभिः सविशेषतः।
शाखाभिधा समाख्याता षड्वक्त्रेषु विस्तृताः॥ १५७।२

कुछ पुराणों में यह भी उल्लेख है कि इन्द्र ने वज्र से उसके बारह हाथों में से दस हाथ या शाखाएँ काट डालीं जिससे वह 'वि-शाख' हो गया।

स्कन्द का शस्त्र **शक्ति** या बरछी है (महा० शान्ति० ३२७।९) और उनका वाहन **मयूर** बताया गया है (नमो मयूरोज्ज्वलवाहनाय, मत्स्य० १५८।१६)। महाभारत में उन्हें **महिषासुर** का वध करते हुए भी वर्णित किया गया है (शल्य० ४६।९०) जिसका श्रेय बाद में उनका माता **दुर्गा** को दिया गया।

अष्टम अध्याय

पृथिवी-स्थानीय देवता

अग्नि

अग्नि वैदिक युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध देवों में से एक हैं। ऋग्वेद का लगभग पंचमांश उनके प्रति कहे गये सूक्तों से भरा है। कर्मकाण्ड-मूलक वैदिक धर्म में, जिसमें प्रतिक्षण अग्नि की आवश्यकता थी, ऐसा होना स्वाभाविक भी है। अग्नि के प्रति कहे गये सूक्तों में प्राचीन आर्यों की वह मूल धार्मिक भावना सर्वाधिक स्पष्टतया लक्षित होती है जिसके अन्तर्गत किसी भी महत्त्वपूर्ण भौतिक तत्त्व को उसकी महत्ता एवं उत्कृष्टता के कारण दैवी भाव से युक्त मान लिया जाता है और उसके पीछे स्फुरित होने वाली दैवी चेतना धीरे-धीरे स्वतन्त्र होकर उपास्य देव का रूप धारण कर लेती है।

वैदिक ऋषियों की दृष्टि में अग्नि वस्तुतः अमर (**अमृत** तथवा **अमर्त्य**) हैं (ऋ० १।५८।१, २।१०।१,२ आदि आदि)। वे **दैव्यजन** (१।४४।६) हैं जो अतिथि के रूप में मर्त्य मनुष्यों के बीच रहते हैं (१।४४।४ आदि)। यज्ञ से घनिष्ठतया सम्बन्धित होने के कारण उनके लिये 'पुरोहित' 'ऋत्विक्', 'होता', तथा 'ब्रह्मा' आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं (१।१।१)। उनके केश पीले हैं और श्मश्रु सुनहली हैं, इसलिए उन्हें **हरिकेश** (३।२।१३) तथा **हिरण्यश्मश्रु** (५।७।७) कहा गया है। घृत से उत्पन्न होने के कारण उन्हें **घृतयोनि** तथा **घृतपृष्ठ** भी कहा गया है (५।४।३)। उनके जबड़े (जम्भ) प्रतप्त तथा पैने हैं, उनसे वे सब कुछ खा जाते हैं (१।५८।५)। उनके सात जिह्वाएँ हैं (ऋ० ३।६।२, वा०सं० १७।७९) जो अग्नि की विभिन्न ज्वालाओं की प्रतीक हैं। **मुंडक उप०** १।२४ में अग्नि की इन सात चञ्चल जिह्वाओं के नाम क्रमशः **काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी** तथा **विश्वरुची** दिये गये हैं। कभी-कभी जलते समय चटकने के कारण उनकी

तुलना गरजते हुये वृषभ से की गई है (५।२।१२) और इन ज्वालाओं को इस वृषभ के सींग माना गया है (५।१।८)।

वे ही देवों के मुख तथा जिह्वा हैं जिसके द्वारा वे अपने यज्ञ-भाग का उपभोग करते हैं २।१।१३,१४)। अग्नि को दिन में तीन बार भोजन प्रदान किया जाता है (४।१२।१); घृत तथा समिधाएँ उनका प्रिय भोजन है (१।७।२)। वैसे वे सर्वभक्षी या **विश्वाद** भी हैं और अपने तीक्ष्ण दाँतों से वन के वन चबा डालते हैं (१।१४३।५)।

अग्नि को **भास्वर** तथा **शोचिष्केश** (चमकीली ज्वालाओं से युक्त, ७।१५।१०) भी कहते हैं। वे सूर्य की भाँति चमकते हैं (१।१४९।३) और प्रज्वलित होने पर अन्धकार का मार्ग खोल देते है (३।५।१)। **धूमकेतु** विशेषण उनके लिये बार-बार प्रयुक्त हुआ है। उनका धुआँ आकाश में उठकर उसे व्याप्त कर देता है (७।१६।३)।

अग्नि का रथ भी अत्यन्त द्युतिमान् है। यह शुक्रवर्ण-युक्त तथा तमोविना· शक है (१।१४०।१)। अरणियों के पारस्परिक घर्षण से उत्पन्न होने के कारण अग्नि को इनका पुत्र कहा गया है। उनमें वह उसी प्रकार निहित रहता है जैसे माता में गर्भ (३।२९।२)। किन्तु इस शिशु में एक विशेष बात यह है कि उत्पन्न होते ही यह अपनी माताओं (या माता-पिता) का भक्षण कर डालता है (१०।७९।४)। ये अरणियाँ दोनों हाथों की दस उँगलियों से मथी जाती हैं अतः १।९५।२ में कहा गया है कि अग्नि को दस युवतियाँ जन्म देती हैं। मंथन क्रिया में शक्ति (सहस्) की आवश्यकता होने के कारण अग्नि को **सहसः सूनुः** भी कहा गया है। काष्ठ के अन्दर रहने के कारण प्राय· उन्हें ओषधियों या वृक्षों का गर्भ भी बताया गया है (१।७०।३)।

अग्नि यद्यपि सबसे अधिक प्राचीन या वृद्ध हैं तो भी वे नित्य एक युवक के रूप में उत्पन्न होते हैं (२।४।५)। वस्तुतः वे कभी वृद्ध होते ही नहीं (१।१२८।२) क्योंकि उनका नित्य-नूतन प्रकाश प्राचीन प्रकाश से भिन्न नहीं होता (६।१६।२१)।

प्रत्येक घर में स्थित रहने एवं सम्पूर्ण गार्हस्थिक धार्मिक कृत्यों के संपादक होने के कारण अग्नि को **गृहपति** कहा गया है (५।८।२ आदि)। वे प्रत्येक परिवार में एक मान्य अतिथि के रूप में रहते हैं और मनुष्यों को सदा अनेक प्रकार के उपहार (**उपायन**) प्रदान करते रहते हैं (१।१।९ आदि)। ऋग्वेद

के विभिन्न मंत्रों में उन्हें पिता, माता, भ्राता, पुत्र तथा मित्र आदि कहा गया है (१।२६।३, ८।४३।१६ आदि)।

राक्षसों अथवा यातुधानों को भगाने या नष्ट करने में भी अग्नि का बड़ा हाथ है। ऋ० १०।८७।१ में उनके लिये **रक्षोहन्** विशेषण प्रयुक्त हुआ है। अपने लोहे के जबड़ों से वे राक्षसों को चबा जाते हैं (१०।८७।५)।

अपने उपासकों को अग्नि अनेक विपदाओं से बचाते हैं (३।२०।४) और उसको सब प्रकार की सम्पदा प्रदान करते हैं (१।६८।१०)।

देवता के रूप में अग्नि अत्यन्त ज्ञानी हैं वे संसार की प्रत्येक वस्तु को जानते हैं (१०।११।१)। उनके लिये **ऋषि** या **दिव्य-ऋषि** विशेषण प्रायः प्रयुक्त हुआ है (३।३।४)। उनमें सभी विद्याएँ अधिष्ठित हैं (१०।२१।५)।

अग्नि के जन्म के विषय में कहा गया है कि **अथर्वा** ऋषि ने सबसे पहले उन्हें मन्थन से उत्पन्न किया (६।१६।१३)। आज भी लोग अग्नि को उसी प्रकार उत्पन्न करते हैं जैसे अथर्वा ने उन्हें सिखाया था (ऋ० ६।१५।१७)।

ऋ० १०।४५।८ में अग्नि को **द्यौः** या आकाश का पुत्र कहा गया है (यदेनं द्यौरजनयत् सुरेताः)। कई स्थानों पर उन्हें **दिवः शिशुः** भी कहा गया है (अरुणं न दिवः शिशुम्, ४।१५।६; दिवः शिशुं सहसः सूनुमग्निम्, ६।४९।२)। अस्तरिक्षस्थ जलों में अग्नि की उत्पत्ति के भी अनेक संकेत ऋग्वेद में मिलते हैं। १०।९१।६ में कहा गया है कि जल रूपी माताओं ने अग्नि को जन्म दिया है, (तमापो अग्निं जनयन्त मातरः)। अग्नि जलों के गर्भ हैं (३।१।१२) तथा उनकी गोद में बढ़ते हैं (१०।८।१)। अग्नि की जल में उत्पत्ति की धारणा ऋग्वेद में इतनी प्रबल है कि उनकी इस विशेषता को व्यक्त करने वाला **अपां-नपात्** विशेषण एक स्वतन्त्र विशेषण ही बन गया है।

आकाश से सम्बन्ध के कारण अग्नि की कल्पना एक पक्षी के रूप में की गई है। वे आकाश में विचरण करने वाले श्येन हैं (नवं नु स्तोमम् अग्नये दिवः श्येनाय जीजनम्, ७।१५।४)। वे दिव्य सुपर्ण हैं (१।१६४।५२) और अन्तरिक्ष के जल से सम्बन्ध के कारण उन्हें जल में तैरने वाला हंस कहा गया है (श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन् १।६५।५)।

ऋग्वेद में सूर्य एवं विद्युत् को भी अग्नि के आकाश एवं अन्तरिक्षवर्ती

रूप माना गया है और इस प्रकार अग्नि के तीन जन्मों का उल्लेख किया गया है—

(१) **दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रम्''''।।**

ऋ० १०।४५।१

(२) **स एषां यज्ञो अभवत् तनूपस्तं द्यौर्वेद तं पृथिवी तमापः ।**

ऋ० १०।८८।८

अग्नि और सूर्य का तादात्म्य तो ऋग्वेद के कई मन्त्रों में मिलता है (उदा०, मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निः ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् । १०।८८।६) । आपस् या जल में अग्नि का जन्म मेघों में उत्पन्न विद्युत् को सूचित करता है । इसी त्रेधा जन्म के कारण अग्नि को **अर्कस्त्रिधातुः** (तीन प्रकार की ज्योति, ३।२६।७), **त्रिषधस्थ** तथा **त्रिपस्त्य** (तीन स्थानों में रहने वाले, ५।४।८ तथा ८।३९।८) कहा गया है ।

अग्नि के इन्हीं तीन रूपों की ओर संकेत करते हुए सम्भवतः ऋ० १।१६४।१ में अग्नि के तीन भ्राताओं का उल्लेख किया गया है—

**अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ।।**

और १०।५१।६ में भी इनका उल्लेख है—

अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानम् अन्वावरीवुः ।

बृहद्देवता में अग्नि के पार्थिव, वायव्य तथा दिव्य रूपों के नामों को क्रमशः **पवमान, वनस्पति** तथा **शुचि** बताया गया है—

**इहैष पवमानोऽग्निः मध्यमोऽग्निर्वनस्पतिः ।
अमुष्मिन्नेव विप्रैस्तु लोकेऽग्निः शुचिरुच्यते ।।**

बृ० देव० १।६६

बृहद्देवताकार का यह भी कथन है कि ऋ० १।१६४।४४ में जिन तीन 'केशियों' का उल्लेख है (त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते''') वे अग्नि के इन्हीं तीन रूपों को सूचित करते हैं, क्योंकि—

अर्चिभिः केश्ययं त्वग्निः विद्युद्भिश्चैव मध्यमः ।
असौ तु रश्मिभिः केशी तेनैनानाह केशिनः ॥ १।९४

वाजसनेयी संहिता में अग्नि के तीन रूपों को दृष्टि में रख कर ही संभवतः कहा गया है कि अग्नि तीन पुरियों में रहते हैं जो क्रमशः लोहे, चाँदी तथा सोने से बनी हैं (या ते अग्ने अयःशया, रजःशया, हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा....५।८)। **वा० सं०** में ७।२४ उनका सूर्य से भी तादात्म्य किया गया है और उन्हें **अमृत, कवि, सम्राट्** तथा **'मनुष्यों का अतिथि'** कहा गया है—

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतम् आजातमग्निम् ।
कविं सम्राजमतिथिं जनानाम् आसन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥

वे युद्ध में मनुष्यों की रक्षा करते हैं और उन्हें उत्तम धन आदि प्रदान करते हैं—

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः ।

वा० सं० ६।२९

उनका एक रूप राक्षसघ्न भी है जिससे वे माया-शक्ति से विभिन्न रूप धारण करके इधर-उधर घूमते हुए राक्षसों को नष्ट करते हैं—

ये रूपाणि प्रतिमुंचमाना असुरा सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्ति अग्निः तांल्लोकात् प्रणुदाति अस्मात् ॥

वा० सं० २।३०

यजुर्वेद में अग्नि के **आमाद** तथा **क्रव्याद** नामक भयानक रूपों का भी उल्लेख किया गया है। आमाद तथा क्रव्याद का अर्थ है 'कच्चा मांस खाने वाला'। यह अग्नि का सबसे अशुभ रूप है और यज्ञाग्नि से अपने इस भयंकर रूप को दूर रखने की प्रार्थना की गई है—

अप अग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं सेधा देवयजं वह ।

वा० सं० १।१७

अथर्ववेद में अग्नि का लगभग ६५० बार उल्लेख हुआ है। मूलतया यहाँ उनका स्वरूप लगभग वही है जो ऋग्वेद में। किन्तु जादू-टोने एवं यातविक कृत्यों के बाहुल्य के कारण अग्नि का राक्षसों, भूतप्रेतों तथा चुड़ैलों को दूर

भगाने के लिये (१।१६।१, २) तथा शत्रुओं का दमन करने के लिये (३।१।१, २) ही विशेष रूप से आह्वान किया गया है। क्रव्याद अग्नि से आथर्वणिक ऋषि विशेष रूप से भयभीत होते हैं। इसे मन्त्रों की सहायता से घर से बाहर निकाला जाता है, अन्यथा यह परिवार पर वज्र बन कर प्रहार करती है (१२।२।३)।

अग्नि के तीनों रूपों का यहाँ भी उल्लेख हुआ है। अग्नि द्यावापृथिवी के बीच में विचरण करते हैं (१०।८।३९)। वे **वैश्वानर हैं** तथा मनुष्यों एवं पशुओं के शरीर में व्याप्त रहते हैं (३।२१।१, १९।३।१)। वर-वधू का परस्पर सम्मिलन कराने से वे मंगलमय भी है (१४।१।४८)।

शतपथ ब्राह्मण २।२।४।२ में अग्नि की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि यह शब्द वस्तुतः अग्रि है। अग्रि इसे इसलिये कहते हैं क्योंकि इसे प्रजापति ने देवों में सबसे पहले (अग्रे) उत्पन्न किया था—

> **यद्वा एनमेतद् अग्रे देवानाम् अजनयत। तस्माद् अग्रिः। अग्रिर्ह वै नामैतद् यदग्निरिति। स जातः पूर्वः प्रेयाय। यो वै पूर्व एति अग्र एतीति वै तमाहुः। सा उ एवास्य अग्निता।** (तु० की०, **अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्**, तै० ब्रा० २।४।३।३)।

निरुक्तकार ने इस शब्द की **अग्र** तथा **नी** धातुओं से व्युत्पत्ति मानी है—**अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते** (निरुक्त ७।१४)। अंग + नी शब्दों की ओर भी यास्क ने संकेत किया है। यह अपने अंग (शरीर) को काष्ठदाह, हविष्पाक आदि कार्यों में प्रेरित करता है—**अंगं नयति सन्नममानः** (सन्नममानः सम्यक् स्वयमेव प्रह्वीभवन्नंगं स्वकीयं शरीरं काष्ठदाहे हविष्पाके च नयति प्रेरतयीति—**सायण**, ऋ० १।१।१ का भाष्य)। **शाकपूणि** इसे एति (अयन), अंज् (अक्त) तथा नी धातु के एक-एक (अ क् नि) अक्षरों के योग से निष्पन्न मानते हैं; और **स्थौलाष्ठीति का** कथन है कि अक्नोपन (अनार्द्र) होने के कारण यह अग्नि है (निरुक्त ७।१४)। मैक्डानल ने इस की अज् (हाँकना, तेज करना, तीव्र होना) धातु से व्युत्पत्ति मानी है[1]।

श० ब्रा० ५।२।३।६ में कहा गया है कि अग्नि सब देवों के एकत्र रूप हैं, क्योंकि अग्नि में ही सब देवों के लिये हवन किया जाता है (**अग्निर्वै सर्वा**

---

१. **वै० मा०**, पृ० ९९।

देवताः अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति)। ६।४।४।२ में कहा गया है कि ओषधियाँ अग्नि की माताएँ हैं। उनसे वह रव करता हुआ उत्पन्न होता है। ७।१।२।४ में अग्नि को कर्मकाण्ड का अधिपति (**धर्मणस्पति**) बताया गया है। प्रजाओं की इच्छा को पूर्ण करने तथा सर्वकामधुक् यज्ञ के स्वामी होने के कारण वे प्रजापति भी हैं (**श० ब्रा०** ६।१।१।५)। उन्मुक्त भाव से अभीष्ट वस्तुओं का दान करने से वे **दाक्षायण-हस्त** कहे गये हैं (६।७।४।२)। यज्ञ से घनिष्ठ-तया सम्बन्धित होने के कारण उन्हें यज्ञ एवं कर्मकाण्ड के अधिष्ठाता प्रजापति का 'प्रिय-पुत्र' भी कहा गया है (९।३।१।५०)। अग्नि ब्रह्म-तेज से युक्त हैं, इन्द्र की भाँति क्षत्र-तेज से नहीं (१०।४।१।५)। वे ब्रह्मचारियों के शिक्षक हैं (११।५।४।२)। वधू और वर को विवाह बन्धन में बाँधने के कारण ३।४।३।४ में कहा गया है—**अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता** (वधूवरयोः पुंस्त्रीभावस्य अग्निसव्यपेक्षत्वात् मिथुनकर्ता अग्निरुच्यते—**सायण**)। अग्नि ही आकाश में वर्तमान **आदित्य** (**श० ब्रा०** ६।४।१।८) हैं। वे द्यौः के पुत्र हैं (६।७।२।२)। प्रकाशित होते हुए वे आकाश और पृथ्वी के बीच में विचरण करते हैं (६।७।२।२)। अन्तरिक्ष में विद्युत्-रूप से जन्म लेने के कारण उन्हें पृथ्वी एवं आकाश (द्यावापृथिवी) का भी पुत्र कहा गया है (६।४।४।२)। आकाशीय जल (मेघों) से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें जल का पुत्र (**अपां गर्भः**) तथा समुद्र से उत्पन्न (**समुद्रिय**) भी कहा गया है (६।४।४।८)। अग्नि ही पृथ्वी के सार हैं (६।७।३।३)। **श० ब्रा०** ७।४।१।३४ में उन्हें राक्षसों को नष्ट करने वाली ज्योति कहा गया है और इसी प्रकार २।४।२।१५ में कहा गया है—'**अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता**'। ६।८।१।१४ में उन्हें **पूरु** राक्षस को युद्ध में पराजित करते हुए वर्णित किया गया है, (तु० की०, वा० सं० १२।३४ तथा ऋ० वे० ७।८।४ **अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ**)। प्राचीन काल में देवता और असुर दोनों मर्त्य थे; उनमें केवल अग्नि ही अमर थे (**तेषूभयेषु अग्नि-रेवामृत आस**; २।२।२।८)। **कौ० ब्रा०** ५७।६ में अग्नि की कल्पना एक सुनहले पंखों वाले पक्षी के रूप में की गई है जो यज्ञ को ऊपर देवों तक ले जाते हैं (**श० ब्रा०** ९।४।४।५ तथा ९।२।३।३४)।

कौ० ब्रा० २।६।६ तथा **श० ब्रा०** १०।५।१।४ में कहा गया है कि अग्नि ही मृत्यु है। रुद्र अग्नि के ही विनाशक रूप का दूसरा नाम है (६।१।३।८)। अग्नि का अमर सूक्ष्म-रूप रुद्र है (६।१।१।१)। अग्नि सर्वभक्षी हैं। जो कुछ उनमें पड़ता है, वह सब वे नष्ट कर डालते हैं; अतः उनका रुद्र होना स्वाभाविक है। **श० ब्रा०** ९।१।१।४३ तथा ९।२।३।३२ का मत है कि यजुर्वेद

के **शतरुद्रिय सूक्त** में गिनाये गये रुद्र केवल अग्नि के ही नामान्तर हैं। किन्तु ये सब उनके 'घोर' नाम हैं। अग्नि शब्द ही 'शान्ततम' है (१।७।३।८)।

श० ब्रा० २।२।४।१ में कहा गया है कि अग्नि की उत्पत्ति प्रजापति के मुख से हुई है। मुख से अन्न खाया जाता है, अतः अग्नि भी **अन्नाद** (अन्न-भक्षी) है—

> **प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास।....स तपो अतप्यत सः अग्निमेव मुखाज्जनयांचक्रे। यत् तदेनं मुखाद् जनयांचक्रे तस्माद् अन्नादो अग्निः।**

परवर्ती दार्शनिक विचारधारा में अग्नि को चक्षुरिन्द्रिय के विषय 'रूप' का अधिष्ठाता माना गया है। **श० ब्रा०** २।२।३।१ में भी अग्नि का 'रूपों' से विशेष सम्बन्ध है। देवों ने समस्त रूपों को अग्नि के पास धरोहर रख छोड़ा है—

> **अग्नौ ह वा देवाः सर्वाणि रूपाणि निदधिरे।**

श० ब्रा० १।६।२।९, १०,११ में अग्नि की तीन विशेषताएँ और बताई गईं हैं :

> **अग्निर्वै देवानाम् अद्धातमाम्।**
> **अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः।**
> **अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम्।**

> (अद्धातमाम् अतिशयेन प्रत्यक्षफलदं मन्येत। इतरदेवताभ्यः अग्नेरेव शीघ्रप्रसादाय मृदुहृदयत्वात्। प्रत्यक्षदेवत्वेन समीप एव सेव्यत्वाच्च। —**सायण**)

वैदिक कर्म-काण्ड में अग्नि में प्रत्येक आहुति **'स्वाहा'** बोल कर डाली जाती है। इस शब्द की विशेष व्याख्या **श० ब्रा०** २।२।४।६ में की गई है। प्रजापति ने मुख से अग्नि उत्पन्न की। वह तीनों लोकों को भस्म करने के लिये उद्यत हुई। उन्होंने अपनी हथेलियों को रगड़ कर घृत और जल की आहुति अग्नि में डालनी चाही। किन्तु डालते समय उनके मन में शंका हुई कि इसे अग्नि में डालूँ या नहीं। पर उनकी महिमा (वाक्) ने उन्हें वैसा ही करने का आदेश दिया। उन्होंने 'स्वाहा' कह कर वह हवि डाली क्योंकि उनकी 'अपनी' (स्व) महिमा ने ही यह 'कहा था' (आह)—

स व्यचिकित्सत् जुहुवानी३ मा हौषा३ मिति। तं स्वो महिमा अभ्युवाद—जुहुधि इति। वाग् वा अस्य स्वो महिमा। स प्रजापतिर्विदांचकार। स्वो वै महिमा आह इति। स स्वाहेत्येव अजुहोत्।

परवर्ती देवशास्त्र में **स्वाहा** शब्द ने एक अमूर्त देवी का रूप ले लिया है। यह दक्ष की पुत्री है और अग्नि की पत्नी (भागवत० ४।१।६० तथा महा० आदि० १९८।५)। कार्त्तिकेय की उत्पत्ति में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है (पृ० ५८२)।

श० ब्रा० २।१।१।५ में कहा गया है कि सोना अग्नि का आपस् (स्त्रीलिं०) में निक्षिप्त बीज है। स्वर्ण की उत्पत्ति अग्नि से आपस् में हुई है। इसीलिये वह इतना तेजस्वी है और जल में प्राप्त होता है—

अग्निर्ह वा अपो अभिदध्यौ मिथुनी अभिस्याम् इति। ताः संबभूव। तासु रेतः प्रासिचत्। तद् हिरण्यमभवत्। तस्मादेतत् अग्निसंकाशम्, अग्नेर्हि रेतः। तस्मादप्सु विन्दति।

स्पष्ट है कि **शतपथ ब्राह्मण** की रचना के समय स्वर्ण की प्राप्ति मुख्यतः नदियों की रेतों से होती थी। किन्तु परवर्ती ब्राह्मणों में अग्नि के **सुवर्ण** तथा **सुवर्णा** नामक पुत्र एवं पुत्री बताये गये हैं। उन्हें अग्नि शिव से प्राप्त तेज से अपनी पत्नी **स्वाहा** में उत्पन्न करते हैं—

अवशिष्टं च यत्किंचित् अग्नेर्देहे तु शांभवम्।
तदेव रेतो वह्निस्तु स्वभार्यायां द्विधाक्षिपत्॥
स्वाहायां प्रियभूतायां पुत्रार्थिन्यां विशेषतः॥
तदग्नेः रेतसस्तस्यां जज्ञे मिथुनमुत्तमम्।
सुवर्णश्च सुवर्णा च रूपेणाप्रतिमं भुवि॥

ब्रह्म० १२८।२४-२६

ऊपर **श० ब्रा०** के उन स्थलों का संकेत किया जा चुका है जिनमें अग्नि को द्यौः का पुत्र सूर्य अथवा विद्युत् बताया गया है। **श० ब्रा०** की निम्न कंडिका में भी अग्नि के इन्हीं तीन रूपों का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख किया गया है। किन्तु इनके नाम क्रमशः **पवमान, पावक** तथा **शुचि** हैं। पावक वायु को कहते हैं। **वा० सं०** ४।४ आदि में वायु के लिये **पवित्र** शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (तु० की०, **श० ब्रा०** १।१।४।२२ **अयं वै वायुः योऽयं पवते**)। **अन्तरिक्षस्थ**

अग्नि का वायु से तादात्म्य अत्यन्त स्वाभाविक तथा सरल प्रक्रिया है। बृहद्देवता में अन्तरिक्ष की अग्नि (विद्युत्) के लिये **वनस्पति** शब्द आया है जो इसका वनस् या जल से सम्बन्ध सूचित करता है, अस्तु—

स एतास्तिस्रः तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त। यदस्य पवमानं रूपमासीत् तदस्यां पृथिव्यां न्यधत्त। अथ यत् पावकम् तदन्तरिक्षे अथ यच्छुचि तद् दिवि।

श० ब्रा० २।२।१।१४

पुराणों में पावक, पवमान तथा शुचि को अग्नि का पुत्र बताया गया है जो स्वाहा से उत्पन्न हुए—

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेः आत्मजान् त्रीन् अजीजनत्।
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम्॥

भाग० ४।१।६०

मत्स्य-पुराण में भी अग्नि को ब्रह्मा का मानस-पुत्र बता कर स्वाहा से उनके इन्हीं तीन पुत्रों की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है—

ब्रह्मणो मानसः पुत्रः तस्मात् स्वाहा व्यजीनत्।
पावकं पवमानं च शुचिरग्निश्च यः स्मृतः॥

मत्स्य० ५१।२

किन्तु मत्स्यपुराणकार को इन नामों के मूल अर्थ के विषय में भ्रान्ति नहीं है। अगले ही श्लोक में उसने कहा है कि **पवमान** उस अग्नि कहते हैं जो अरणियों को मथ कर उत्पन्न की जाती है। विद्युत् ही अग्नि का **पावक** नामक पुत्र है और सौर अग्नि को **शुचि** कहते हैं—

निर्मथ्यः पवमानोऽग्निः वैद्युतः पावकात्मजः
शुचिरग्निः स्मृतः सौरः.....॥

वायु पुराण के ९१वें अध्याय में भी अग्नि के इन पुत्रों का बिलकुल इसी रूप में वर्णन तथा अग्नि के अन्य प्रकारों (अजैकपात्[1], अहिर्बुध्न्य[1], दक्षिणाग्नि

---

१. देखिये पीछे पृ० ५५३-५४।
ये दोनों ऋग्वेद में विद्युत् या मध्यम-अग्नि के अभिमानी देवता हैं। अहिर्बुध्न्य को कौषीतकिब्राह्मण १६।७ में ही अग्नि का वाची मान लिया गया है।

आदि) का विस्तार से वर्गीकरण एवं व्याख्यान प्राप्त होता है।

कौ० ब्रा० १।१ में अग्नि के पार्थिव-अग्नि के अतिरिक्त अन्य तीन स्वरूपों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि प्रारम्भ में देवता और मनुष्य इसी भूमंडल पर रहते थे। जब देवता स्वर्ग जाने लगे तो उन्होंने अग्नि से अपनी अनुपस्थिति में मनुष्यों का कल्याण करते रहने के लिये कहा। अग्नि ने कहा कि मेरा रूप भयानक है। मनुष्य मेरे पास नहीं आते और न मेरा आदर करते हैं। तब देवों ने अग्नि के शोषक रूप को जल में, पवित्र करने वाले रूप (पावक) को वायु में तथा तेजस्वी (शुचि) रूप को सूर्य में स्थापित कर दिया। तब से अग्नि मंगलमय और कल्याणकारी होकर पृथ्वी पर विराजमान है।

अग्नि ये तीन रूप, जो पुराणों में उनके पुत्र हैं, ब्राह्मणग्रन्थों तथा ऋग्वेद में उनके भ्रातृगण के रूप में चित्रित किये गये हैं। ऋग्वेद १०।५१ में देवों और अग्नि के बीच में होने वाला एक सुन्दर वार्तालाप प्राप्त होता है। देवता अग्नि से कहते हैं कि तुम जल और वृक्षों में जहाँ छिपे हुए हो, वहाँ से बाहर निकल जाओ और हमारे हव्य वहन करो—

एहि मनुर्देवयुः यज्ञकामो अरंकृत्य तमसि क्षेषि अग्ने।
सुगन् पथः कृणुहि देवयानान् वह हव्यानि सुमनस्यमानः ॥१०।५१।५

अग्नि वरुण से कहते हैं कि मेरे तीन भाई इस कार्य को सम्पादित करते हुए, मार्ग पर चलने वाले रथी की भाँति फिर न लौटने के लिये (मृत्यु के के मुख में) चले गये हैं। अतः मैं भी भय के कारण भाग कर यहाँ छिपा हूँ—

अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानम् अन्वावरीयुः।
तस्माद् भिया वरुण दूरमायम् गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्यायाः ॥६॥

इस पर देवता उन्हें अमर तथा अक्षय बना देने का अश्वासन देते हैं और अग्नि पुनः उनके पास लौट आते हैं—

कुर्मस्ते आयुरजरं यदग्ने तथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः ॥७॥

ऋग्वेद के इसी संकेत के आधार पर **तै० सं० २।६।६** में एक छोटी सी कथा प्राप्त होती है। अग्नि के तीन भाई थे किन्तु वे देवों के लिये हवि वहन

करते हुए मर गये। अग्नि भी इस डर से कि कहीं मेरी भी यही दशा न हो, भागकर जल में छिप गये। देवता उन्हें ढूँढते हुए पहुँचे तो मत्स्यों ने उनका पता बता दिया। अग्नि ने मत्स्यों को मनुष्यों द्वारा मरने का शाप दिया। जब देवों ने अग्नि से लौटने के लिये कहा तो उन्होंने अपने भाइयों के लिये वर माँगा कि यज्ञ-वेदी में हवन करते समय जितनी सामग्री बाहर गिर जाय वह मेरे भाइयों का भाग हो—

अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन्। ते देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रामीयन्त। सः अग्निरबिभेत् इत्थं वाव स्य आर्तिमारिष्यति इति। स निलायत। सः अपः प्राविशत्। तं देवताः प्रैषमैच्छन्। तं मत्स्यः प्राब्रवीत् तमशपद् धिया धिया त्वा वध्यासुः यो मां प्रावोचः।.... तमब्रुवन् उप न आवर्तस्व। हव्यं नो वह इति। सः अब्रवीद् वरं वृणे यदेव गृहीतस्य आहुतस्य बहिःपरिधि स्कन्दात् तन्मे भ्रातॄणां भागधेयमसत्। तै० सं० २।६।६

तै० सं० ६।२।८ में कहा गया गया है कि एक बार अग्नि भाग कर शमी के वृक्ष में छिप गये। तब उसकी लकड़ियों (अरणियों) को मथ कर देवों ने अग्नि निकालना प्रारम्भ किया।

बृहद्देवता (७।६१-७७) में यह कथा विस्तार से प्राप्त होती है। यहाँ अग्नि के वैश्वानर, गृहपति, यविष्ठ, पावक तथा सहसः-सुत नामक पाँच भाई बताये गये हैं। देवों से—

आयुरस्तु च मे दीर्घं हवींषि विविधानि च।
अरिष्टिः पूर्वजानां च भ्रातॄणामध्वरेऽध्वरे ॥७।७३

वरदान प्राप्त करके वे लौट आते हैं।

श० ब्रा० ने कथा को एक नया मोड़ दिया है। ऋग्वेद में **त्रित** नामक एक शक्तिशाली देवता का वर्णन है। यह अग्नि का ही रूप है। इसे 'आप्त्य' या जल में उत्पन्न कहा गया है। **श० ब्रा०** में इस त्रित के **एकत** और **द्वित** नामक दो अन्य भाइयों का भी उल्लेख किया गया है जो जल में अग्नि के निष्ठीवन से उत्पन्न हुए थे। अग्नि जब अपने पवमान आदि रूपों (भाइयों) के विनाश के कारण जल में छिप गये तो देवों ने बलात् उन्हें जल से खींच लिया। जलों को अपनी रक्षा करने में असमर्थ पाकर अग्नि ने घृणा

से उन पर थूक दिया जिससे उनके उपर्युक्त तीन पुत्रों की उत्पत्ति हुई—

> **चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास । स यमग्रे अग्निं होत्राय प्रावृणत स प्राधन्वत'''' अथ यो अयमेतर्हि अग्निः स भीषा निलिल्ये । स अपः प्रविवेश । तं देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्यः आनिन्युः । स अपो अभितिष्ठेव अवष्ठ्यूताः स्थ—या अप्रपदनं स्थ''''। तत आप्त्याः संबभूवुः त्रितो, द्वितः, एकतः[1] ॥** श० ब्रा० १।२।३।१

अग्नि के पलायन का यह रहस्यमय आख्यान परवर्ती ग्रन्थों में केवल **ब्रह्म पुराण** (९८।१-१८) में प्राप्त होता है। यद्यपि आख्यान मुख्यतः **तै० सं०** पर आधारित है किन्तु यहाँ अग्नि का **'जातवेदस्'** नामक एक ही भाई बताया गया है। देवों के लिये हवि वहन करते हुए, ऋषियों के सम्मुख यज्ञ में स्थित, जातवेदस् को देव-विद्वेषी मधु नामक दैत्य मार डालता है—

> **जातवेदा इति ख्यातो अग्नेर्भ्राता स हव्यवाट् ।**
> **हव्यं वहन्तं देवानां गौतम्यास्तीर एव च ।**
> **भ्रातुःप्रियं तथा दक्षं, मधुर्दितिसुतो बली ।**
> **जघान ऋषिमुख्येषु पश्यत्सु च सुरेष्वपि ॥**
>
> ब्रह्म० ९८।२।३

अपने प्रिय भ्राता के निधन पर शोकाकुल और देवों को उसकी रक्षा करने में असमर्थ देखकर अत्यन्त क्षुब्ध अग्नि गंगा के जल में प्रविष्ट हो जाते हैं। उनके न होने से देवों को यज्ञभाग नहीं मिलता और अन्न का पाक न होने से मनुष्यों के लिये भी प्राण-संकट उपस्थित हो जाता है। देवों की प्रार्थना पर और उनके द्वारा अमरत्व तथा सर्वत्र व्याप्त रहने की शक्ति

---

१. **महाभारत** (शल्य० ३६वाँ अध्याय) में त्रित का एक महर्षि के रूप में वर्णन है। इनके एकत और द्वित नामक दो भाई और थे। ये गौतम ऋषि के पुत्र थे। तीनों ही ब्रह्मज्ञानी तथा तपस्वी थे। किन्तु एक बार त्रित के भाइयों ने इन्हें एक कुएँ में ढकेल दिया। वहाँ भी इन्होंने उपलब्ध सामग्री से यज्ञ किया। कथा **बृहद्देवता,** ३।१३२-३७ पर आधारित है।

प्राप्त होने पर वे लौटते हैं। देवगण उन्हें सर्वश्रेष्ठ देवता तथा अपना मुख स्वीकार करते हैं।

श० ब्रा० के एक अन्य अग्नि-विषयक प्रसंग को महाभारत में सुन्दर ढंग से पल्लवित किया गया है। १।६।४।१,२ में कहा गया है कि इन्द्र ने वृत्र के ऊपर वज्र-प्रहार तो कर दिया पर उन्हें उसकी मृत्यु का निश्चय नहीं हुआ। अतः अपने को निर्बल मान कर इन्द्र कहीं दूर जाकर छिप गये। तब सर्वव्यापक अग्नि ने उन्हें खोज निकाला—

इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार। सो अबलीयान् मन्यमानो नास्तृषीव बिभ्यत् विलयांचक्रे। स पराः परावतो जगाम.... तमन्वेष्टुं दध्रिरे—अग्निर्देवतानाम्....। तमग्निस्तु विवेद॥

महाभारत उद्योग० १३-१५ अ० में जब इन्द्र वृत्रासुर को मार कर ब्रह्म-हत्या के भय से भाग कर कुरुक्षेत्र के पास एक सरोवर में उगे एक कमल के दण्ड में सूक्ष्म रूप से छिप कर बैठ जाते हैं और उनके न होने से स्वर्ग में अराजकता छा जाती है तो देवगुरु **बृहस्पति** अग्नि को प्रज्वलित करके शास्त्रानुसार हवन करते हैं और अग्नि से इन्द्र की खोज करने के लिये कहते हैं। सर्वत्र गतिशील एवं व्याप्त अग्निदेव[1] आखिर इन्द्र का पता लगा ही लेते हैं (उद्योग० १५।२८-३४ तथा १६।१२)।

अब हम अग्नि के पौराणिक स्वरूप पर आते हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि ऋग्वेद आदि की अग्नि-विषयक धारणा मुख्यतः आधिभौतिक है। उनका मानवीकरण अत्यधिक अपूर्ण है और उनकी स्तुति मुख्यतः यज्ञ के अधिष्ठाता, कामनाओं के पूरक (सर्वकामधुक् यज्ञ के संचालक होने के कारण) एवं अपनी ज्योति से दुष्ट योनि के प्राणियों का विनाश करने वाले देवता के रूप में की गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मुख्यतः उनका वही रूप सुरक्षित है। किन्तु **तै० सं०** एवं **श० ब्रा०** में आई अग्नि के पलायन की कथा से उनमें धीरे-धीरे थोड़े से मानवीय तत्त्वों का समावेश होता दिखाई देता है। अग्नि का यही अर्धमानवीकरण परवर्ती साहित्य में सर्वत्र स्पष्टः प्रतिबिंबित है। अग्नि का भौतिक रूप या तेजस्तत्त्व कथाकार के नेत्रों के सम्मुख सदा उपस्थित रहता है। वह उससे ऊपर उठ कर उनके विग्रहवान् या

---

१. **अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।** कठ उ० २।९

आधिदैविक रूप तक पहुँचता अवश्य है किन्तु लौटकर फिर वहीं आ जाता है। **महाभारत**, आदिपर्व के २२२वें अध्याय में राजा **श्वेतकि** के द्वादशवार्षिक यज्ञ में लगातार घृत-पान करते रहने से अग्नि को अजीर्ण हो जाता है (२२२।६७)। वे ब्रह्मा के पास पहुँचते हैं (२२२।६१)। ब्रह्मा उन्हें वन्य-मांसभक्षण करने की सलाह देकर खाण्डववन को जलाने की अनुमति देते हैं (२२२।७७)। वे कृष्ण और अर्जुन के पास जाकर उनसे वन को चारों ओर से घेरने की प्रार्थना करते हैं (२२३।१०)। उनके वन को घेर कर खड़े हो जाने के बाद पूरे जंगल में आग फैल जाती है और खाण्डव वन को भस्मसात् कर देती है (२२४।३४-३७)। स्पष्ट है कि यहाँ यज्ञ में घृतपान करने वाले और खाण्डव वन को जला देने वाले भौतिक रूप एवं ब्रह्मा, कृष्ण तथा अर्जुन से वार्तालाप करने वाले मानवीकृत रूप में अग्नि के चरित के ये दोनों पक्ष पृथक् होते हुए भी एक साथ प्रस्फुटित हुए हैं।

किसी भी पुराण का अध्ययन करने पर अग्नि का यह अर्धमानवीकरण स्पष्ट हो सकता है। **मत्स्य० पु०** १८७।५६-५७ में जब रुद्र के प्रलयंकर बाण द्वारा असुरों के त्रिपुर में आग लग जाती है तो वहाँ की स्त्रियाँ अग्नि की घोर भर्त्सना करती हैं। इस पर अग्निदेव दैवी रूप में प्रकट होकर अपनी सफाई देते हुए कहते हैं—

> **(एवं प्रलपतां तासां वह्निर्वचनमब्रवीत् ।)**
> **स्ववशे नैव युष्माकं विनाशं तु करोम्यहम् ॥**
> **अहमादेशकर्ता वै नाहं कर्तास्म्यनुग्रहम् ।**
> **रुद्रक्रोधसमाविष्टो विविशामि यथेच्छया ॥**
>
> मत्स्य० १८७।५१, ५३

पुरुष रूप में अग्नि को प्रायः अत्यन्त विलासी चित्रित किया गया है। कार्त्तिकेय के प्रसंग में अग्नि की सप्तर्षि-पत्नियों पर मुग्ध हो जाने की कथा का उल्लेख किया जा चुका है (महा० वन० २२४।३३-३८)। **महा० सभा०** ३१।३७ में ये माहिष्मती नरेश की पुत्री **सुदर्शना** की ओर आकृष्ट होते हुए वर्णित किये गये हैं और **भाग०** ४।२४।११ में उन्हें समुद्र की कन्या **शतद्रुति** की कामना करते हुए वर्णित किया गया है।

इनका वेश ब्राह्मणों का जैसा है और इसी रूप में प्रायः ये मनुष्यों के सम्मुख उपस्थित होते हैं (**महा०** आदि० २२३।१०, सभा० ३१।३१, महा-

प्रस्थान० १।३४ आदि)। इनके पास अस्त्र-शस्त्रों का भंडार है। पृथु को इन्होंने **आजगव** धनुष प्रदान किया है (भाग० ४।१।१७), अर्जुन को **गाण्डीव** तथा कृष्ण को **सुदर्शन चक्र** (आदि० २२४।१४)। **भाग०** ६१।१५, १६ में कहा गया है कि समुद्र को पी जाने वाले **अगस्त्य** ऋषि अग्नि के अवतार थे।

ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में इन्द्र एवं अग्नि की सम्मिलित रूप में कई स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं (उदा०, उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या उभा राधसः सह मादयध्यै, **वा० सं०** ३।१३)। महाभारत में भी कहीं-कहीं दोनों का यह सम्बन्ध परिलक्षित होता है; उदाहरणार्थ **वन०** १९७ अ० में राजा **उशीनर** (शिवि) की दानशीलता की परीक्षा के लिये अग्नि और इन्द्र मिलकर एक योजना बनाते हैं और इसके अनुसार अग्नि एक कपोत का तथा इन्द्र एक श्येन का रूप धारण करके उनके पास जाते हैं (वन० १९७।३)। अग्नि का मानव रूप महाभारत के नलदमयन्ती उपाख्यान में उस स्थान पर भी प्रतिभासित होता है जहाँ वे इन्द्र एवं यम आदि देवों के साथ दमयन्ती की प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं (वन० ५७ अ०)।

वैश्वानर रूप में सम्पूर्ण प्राणियों के अन्दर प्रविष्ट होने के कारण अग्नि को बहुधा प्राणियों के धर्म एवं अधर्म का साक्ष्य अथवा प्रमाण देते हुए भी वर्णित किया गया है। ये रावण के पास रही हुई सीता की शुचिता का समर्थन करते हैं—

अब्रवीत् च तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ।।
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व राघव ।।

रामायण युद्ध० १२१।५,१०

अग्नि के शुद्ध भौतिक रूप का भी प्रायः पुराणों में वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में सर्वप्रथम **अथर्वा** ऋषि को मन्थन द्वारा अग्नि उत्पन्न करते हुए वर्णित किया गया है (ऋ० ६।१६।१३, त्वामग्ने पुष्कराद् अध्यथर्वा निरमन्थत)। अवेस्ता में भी इस प्राचीन ऋषि का **अथ्रवन्** नाम से उल्लेख है और इसी से सम्बन्धित **आतर** शब्द अग्नि का वाची है। (देखिये, पीछे पृ० ११२)। **मत्स्य-पुराण** ५१।१० में लौकिक अग्नि की **अथर्वा** संज्ञा बताई गई है क्योंकि भृगु के पुत्र अथर्वा ने इसे प्रज्वलित किया था—

भृगोः प्रजायताथर्वा ह्यंगिराथर्वणः स्मृतः।
योऽथर्वा लौकिको ह्यग्निर्दक्षिणाग्निः स उच्यते ॥

ब्रह्मपुराण (१२६।४-८) में इस भौतिक अग्नि के माहात्म्य का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसे समस्त लोकों का धारक कहा गया है। प्राणियों के अन्दर तथा बाहर सब ओर इसकी प्रतिष्ठा है। इसके बिना किसी का जीवन सम्भव नहीं है—

अग्निना ध्रियते लोको ह्यग्निर्ज्योतिर्मयं जगत्।
अन्तर्ज्योतिः स एवोक्तः परं ज्योतिः स एव हि ॥५॥

श० ब्रा० में उल्लेख है कि देवों ने अपने रूप अग्नि के पास रख दिये (देखें पृ० ५९५)। इसी आधार पर **ब्रह्म०** १२६।८ में कहा गया है कि माता के गर्भ में प्रविष्ट बीज के विभिन्न रूपों का निर्माण अग्नि के द्वारा ही सम्भव होता है—

योषित्क्षेत्रेऽर्पितं बीजं पुरुषेण यथा तथा।
तस्य देहादिका भक्तिः कृशानोरेव नान्यथा ॥

भागवतकार ने यज्ञाग्नियों की संख्या ४९ मानी है। ये अग्नि एवं स्वाहा की सन्तानें हैं और इन्हीं का नाम लेकर आहुतियाँ प्रदान की जाती है—

त एवैकोनपंचाशत् साकं पितृपितामहैः।
वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥
आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते ॥

भाग० ४।१।६२

यज्ञ की अग्नि में शास्त्रानुकूल हवि प्रदान करने और उसकी सम्यक् प्रकार से उपासना करने से अग्निकुंड से ही अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति का वर्णन प्रायः पुराणों में आता है। **भाग०** ८।१५।६ में कहा गया है कि दैत्यों के पुरोहित, भृगुवंशी ऋषियों ने **बलि** के लिये अग्नि-कुंड से अलौकिक रथ, धनुष तथा तूणीर आदि युद्ध के उपकरण प्राप्त किये। **महाभारत** आदि० १६६।३९-४४ में राजा **द्रुपद** के द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिये यज्ञ कराये जाने पर यज्ञ-कुंड से **धृष्टद्युम्न** और **द्रौपदी** की उत्पत्ति वर्णित है। और इसी

प्रकार भाग० ६।९।१२ तथा महा० उद्योग० ९।४८ में त्वष्टा द्वारा अभिचाराग्नि से इन्द्र का वध करने वाले भयंकर **वृत्र** दानव की उत्पत्ति का उल्लेख है[1]।

अथर्ववेद में जिस **क्रव्याद** अग्नि का उल्लेख है उसका परवर्ती साहित्य में भी कहीं-कहीं वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ **भाग०** १०।६६ में एक कथा आती है कि एक बार कृष्ण का शत्रु काशिराज **पौण्ड्रक** अपने को भगवान् विष्णु का 'वास्तविक' अवतार सिद्ध करने लगा। कृष्ण ने उसका वध किया तो उसके पुत्र **सुदक्षिण** ने कृष्ण के वध के लिये दक्षिणाग्नि की आचार-विधि से उपासना की जिससे यज्ञकुंड से मूर्त्त-रूप में महा भयंकर आभिचारिक अग्नि उत्पन्न हुई और भूतों से घिरी वह कृत्या रूपी अग्नि द्वारिकावसियों को भस्म करने चल दी। इसका ओजस्वी वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डात् मूर्तिमानतिभीषणः ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुरंगारोद्‌गारिलोचनः ॥
दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया ।
आलिहन् सृक्किणी नग्नो विधुन्वन् त्रिशिखं ज्वलन् ।
पद्‌भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन् अवनीतलम् ।
सोऽभ्यधावद् वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन् दिशः ॥

भागवत० १०।६६।३१-३४

इस प्रकार पुराणों में अग्नि के प्रायः सौम्य एवं भीषण सभी पक्षों का उल्लेख है। साथ ही उनका आंशिक दैवीकरण भी हो गया है। किन्तु फिर भी हिन्दू देवमण्डल में उनका उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है जितना वैदिक देवमण्डल में, और इसका प्रमुख कारण परवर्ती युग में याज्ञिक कर्मकाण्ड की महत्ता का ह्रास है जिसमें अग्नि की विशेषरूप से मान्यता थी।

---

१. अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः ।
कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा ॥

—भागवत, ६।९।१२

यम

यद्यपि ऋग्वेद में **यम** का वरुण, बृहस्पति एवं अग्नि आदि देवों के साथ उल्लेख किया गया है (उदा० १०।१४।१७, १०।१३।४ तथा १०।२१।५) किन्तु उनको अन्य देवों की भाँति न तो सदा से अमर चित्रित किया गया है और न ही यज्ञ से उनका कोई विशेष सम्बन्ध है। उनकी धारणा एक मर्त्य मनुष्य के रूप में है जो **विवस्वान्** के पुत्र है और पृथ्वी के सभी मनुष्यों के पूर्वज। पृथ्वी पर सबसे पहले मरने के कारण वे स्वर्ग अथवा पितृलोक पहुँचे और वहाँ के राजा बन बैठे (ऋ० १०।१४।१)।

विवस्वान् के पुत्र होने से यम के लिये **वैवस्वत** विशेषण प्रायः प्रयुक्त हुआ है (वैवस्वतं संगमनं जनानाम्, १०।१४।१)। उनकी माता का नाम **सरण्यू** है जो एक यमज पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने के पश्चात् चली गई थी (ऋ० १०।१७।१)। ऋ० १०।१०।२ में यम एवं उनकी बहन **यमी** को मानव जाति का आदि-युग्म कहा गया है। १०।१०।४ में यमी अपने को एक गन्धर्व तथा अप्सरा का पुत्र भी बताती है। **अथर्ववेद** १।८।३,१३ में कहा गया है कि यम मनुष्यों में मरने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने हम लोगों के लिये परलोक की खोज की—

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतत् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥

ऋ० १०।१३५ में यम को मनुष्यों का पिता (पूर्वज) तथा विश्पति (राजा) कहा गया है—

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति ॥ ऋ० **१०।१३५।१**

यम का स्थान सर्वोच्च आकाश में है। वहाँ मधुमय जल के स्रोत सदा बहते रहते हैं (यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्र अमूः यह्वतीः आपः, ऋ० ९।११३।८)। उस स्थान में केवल वरुण और यम ये दो राजा निवास करते है (उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्, १०।१४।७)। यम मनुष्यों के 'संगमन' हैं अर्थात् वे मनुष्यों (प्रेतात्माओं) को एक स्थान पर एकत्र करते हैं। वे प्रायः एक घने वृक्ष के नीचे बैठे रहते हैं (ऊपर उद्धृत, ऋ० १०।१३५।१)। ऋ० १०।१४।९ तथा **अ० वे०** १८।२।३७

में उन्हें मृतकों को 'अवसान' अथवा आश्रय-स्थान प्रदान करने वाला कहा गया है। ऋ० १०।१३५।७ में कहा गया है कि यम का सदन सदा वंशी ('नाली') की तान से झंकृत रहता है (इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते। इयमस्य धम्यते नालीरयं गीर्भिः परिष्कृतः)। ऋ० १०।१४।१ तथा २ में कहा गया है कि परलोक को जाने वाले मार्ग की खोज सबसे पहले यम ने की (यमो नो गातुं प्रथमो विवेद)। सबसे पहले वे ही ऊँचे-नीचे मार्ग पर होते हुए वहाँ तक गये और बाद में उन्होंने अन्य मनुष्यों को भी वह मार्ग दिखाया (परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्)।

मृतात्माओं के राजा होने से यम को 'पितरों का अधिपति' कहा गया है (यमः पितॄणामधिपतिः स मामवतु, अ० वे० ५।२५)। **अंगिरस्, नवग्वा, वैरूप, अथर्वन्** तथा **भृगु** गोत्रों के पितरों का यम के साथ विशेष उल्लेख किया गया है (१०।१४।३, ४, ५)। ये पितर यम के साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक विचरण करते हैं—

अथा पितॄन् सुविदत्रान् उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति, १०।१४।१०।

यम की श्रृंखलाओं का ऋग्वेद में एक स्थान पर (१०।९७।१६) वर्णन है और वरुण के पाशों की भाँति इनसे भी छूटने की प्रार्थना की गई है (मुञ्चन्तु मा ""यमस्य पड्वीशात्)। १०।१६५।४ में यम को **मृत्यु** भी कहा गया है और उलूक तथा कपोत को यम का दूत माना गया है—

यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति :
यस्य दूतः प्रहितः एष एतत् तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे।

ऋग्वेद के इस सूक्त में कुछ ऐसी ऋचाएँ हैं जिनका यम के इन दूतों के घर में घुस में आने पर पाठ करने का विधान किया गया है।

पर यम के प्रमुख दूत दो कुत्ते हैं। ये देवशुनी **सरमा** के पुत्र हैं। इनकी नाक लम्बी है (उरूणसा), रंग चितकबरा (शबल) है और प्रत्येक के चार-चार नेत्र हैं (चतुरक्षौ)। ये अत्यन्त बलशाली (उदुम्बल) हैं। ये मनुष्यों के बीच में विचरण करते रहते हैं और इनका कार्य मृतप्राय व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से छाँटना है—

उरूणसौ असुतृपौ उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दाता वसुमद्येह भद्रम्। १०।१४।१२

ये मृतक के परलोक-गमन के मार्ग पर भी बैठे रहते हैं और बुरे व्यक्तियों को यम के लोक में नहीं जाने देते। इनके लिये 'पथिरक्षी' विशेषण आया है (१०।१४।११) और मृतक की आत्मा से इनको पार करके दूसरे अच्छे मार्ग से चले जाने को कहा गया है—

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।

ऋ० १०।१४।१०

इतना होने पर भी ऋग्वेद में यम के स्वरूप में वह भयावहता नहीं है जो बाद में पाई जाती है। वे स्वर्गलोक (पितरों के लोक) के अधिपति हैं। वहाँ जाकर धर्मात्मा व्यक्ति शाश्वत आनन्द का उपभोग करते है (अथा पितॄन् सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति, १०।१४।१०)। किन्तु धीरे-धीरे यम एवं मृत्यु का तादात्म्य अधिकाधिक प्रबल होता गया है। **मै० सं०** २।५।६ कहती है—**मृत्युर्वै यमः** और वा० सं० में ३९।१३ में यम के लिये **अन्तक** एवं **मृत्यु** विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—

यमाय स्वाहा, अन्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा।

इसी प्रकार **अ० वे०** में मृत्यु को यम का दूत कहा गया है (मृत्युर्यमस्य आसीद् दूतः प्रचेतः)। ऋग्वेद में नरक की कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं प्राप्त होती। किन्तु पुराणादिकों में जब नरक की मान्यता पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गई तो यम को नरक का अधिपति बना दिया गया।

पुराणों में यम की **यमुना** (नदी) नामक एक बहन भी बताई गई है। ऋग्वेद में इसका नाम **यमी** है। यम तथा उनकी बहन के विषय में ऋग्वेद के दशम मण्डल का दशम सूक्त समस्त वैदिक साहित्य में अपने ढंग का अनोखा है। इस सूक्त में मानव-जाति के सर्वप्रथम युग्म, यम और यमी, का संवाद है जिसमें यमी यम को पारस्परिक संभोग के लिये प्रेरित करती है और यम बार-बार इस अनैतिक कार्य के लिये मना करते हैं। अवेस्ता में यम और यमी के प्रतिरूप **यिम** और **यिमेह** में (परवर्ती साहित्य में) परस्पर संयोग वर्णित किया गया है किन्तु ऋग्वेद के कवि ने ऐसा नहीं किया। यमी के इस अनुचित अनुरोध पर यम—

अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्टि एतत्। (१२)

तथा, **अन्यम् ऊ षु त्वं यमि अन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।** (१४)

कह कर चुप हो जाते हैं[1] ।

ऋग्वेद में यम का जो स्वरूप है उसका मूल आधार क्या है; यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता । माक्सम्युलर[2] का मत है कि यम अस्तंगत सूर्य को द्योतित करता है । संध्याकाल में दिन और रात्रि के युग्म के सम्मिलित रूप को ही यम नाम दिया गया है । वैदिक कवियों के लिये पूर्व दिशा जीवन की प्रतीक थी और पश्चिम निर्ऋति या मृत्यु की । काल (समय) का नियमन करके प्राणियों की आयु क्षीण करने के कारण ८।६७।२० में विवस्वान् का मृत्यु से सम्बन्ध बताया गया है । अस्ताचलगामी सूर्य ही सर्वप्रथम मरने वाला मर्त्य है जो किसी अज्ञात लोक को चला जाता है । कारनॉय ने भी अवेस्ता में वर्णित यिम के स्वरूप की वैदिक यम से तुलना करते हुए माक्सम्युलर के इस मत का सशक्त समर्थन किया है[3] । उनका मत है कि सूर्य के आकाशीय मार्ग की मनुष्य के जीवन-यात्रा-पथ से घनिष्ठ भावात्मक एकता है । साथ ही सूर्य के डूबने के लिये प्रयुक्त होने वाले 'अस्तंगमन' आदि शब्द मनुष्य

---

१. यम-यमी के इस अनोखे सूक्त की वैदिक कर्मकाण्ड में कोई महत्त्व-पूर्ण भूमिका प्रतीत होती है । आदरणीय गुरुवर प्रो० उलरिष् श्नाइडर ने **इंडो-ईरानियन जर्नल** (हॉग, हॉलैन्ड), भाग १० (१९६७), पृ० १-३२ में प्रकाशित *Yama und Yamī* (RV. X. 10) नामक लेख में सिद्ध किया है कि प्राचीन काल में विभिन्न-लैंगिक जुड़वाँ बच्चों की उत्पत्ति को दोषपूर्ण माना था क्योंकि भाई-बहन होते हुए भी वे माता के गर्भाशय में साथ लिपटे पड़े रहते हैं (तु० की० १०।१०।५, ७ गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवः सविता । समाने योनौ सह शेय्याय) । ऐसे बच्चों की उत्पत्ति पर उनकी शुद्धि के लिये विधि-विधान के साथ दो पात्रों द्वारा प्रस्तुत सूक्त का पाठ किया जाता था । प्रो० श्नाइडर का मत तर्क-प्रतिष्ठित है और इससे सूक्त के अर्थ तथा उद्देश्य पर नया प्रकाश पड़ता है ।

२. **लैक्चर्स आन दि साइन्स ऑफ रिलीजन** : (द्वितीय भाग) पृ० ५१४ त० आ० ।

३. देखिये **इंडियन एण्ड ईरानियन माइथॉलजी** (द्वितीय भाग, ईरानियन), पृ० ३९३ त० आ० ।

की मृत्यु को भी सूचित करते हैं। सूर्य को ऋग्वेद में पक्षी (सुपर्ण) के रूप में चित्रित किया गया है और यम के दूत भी दो पक्षी हैं।

ईरानी **यिम**[1] का सौर-स्वरूप और भी स्पष्ट है। उसके लिये प्रायः **ख्शएत** (तेजस्वी) विशेषण प्रयुक्त हुआ है। यह विशेषण अवेस्ता में सूर्यदेव **ह्वर् (स्वर्)** के साथ विशेष रूप से सम्बद्ध है और उन्हें 'ह्वरे ख्शएत' (तेजस्वी सूर्य) कहा गया है जो परवर्ती फ़ारसी में **खुरशीद** के रूप में प्राप्त होता है। यदि यिम को केवल एक मर्त्य माना जाय तो उसके इस प्राचीन विशेषण की कोई संगति नहीं लगती। इसके अतिरिक्त यिम को **हुथ्व** अथवा 'समूह से युक्त' कहा गया है। वैदिक यम भी 'जनानां संगमनः' है। सम्भवतः अस्त होते हुए सूर्य के साथ-साथ उदित होने वाले तारे तथा नक्षत्र ही मनुष्यों के प्रतीक हैं। **तै० सं०** ५।४।१ तथा **श० ब्रा०** ६।५।४।८ में तारों को 'पुण्यात्माओं का प्रकाश' (अथवा पुण्यशालियों की आत्माएँ ?) बताया गया है (**सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि**)। जिस प्रकार ऋग्वेद में विवस्वान् के बाणों का उल्लेख हुआ है उसी प्रकार यिम भी सुनहले बाणों (किरणों ?) को धारण करते हैं।

फ़िरदौसी के **शाहनामा** में भी **जमशेद** (यिम-ख्शएत) का जो वर्णन दिया गया हैं उससे उनका सूर्य से सम्बन्ध स्पष्ट है। वह मध्य आकाश में देदीप्य-मान सिंहासन पर बैठता है और तेजस्विता या 'ख्वरेनान्ह' (ह्वरेनो) सदा उसके साथ विद्यमान रहती है। शाहनामे में जमशेद कहते हैं कि मैं आत्माओं को प्रकाश की ओर ले जाने के लिये मार्ग बनाऊँगा। यह वाक्य वेन्दिदाद २।११ से लिया गया है और ऋग्वेद के '**यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ**' (१०।१४।२) की प्रतिध्वनि है। जमशेद जैसे सामान्य नराधिप के लिये ये शब्द महत्त्वहीन है, जब तक उसका कोई अतिमानवीय रूप न माना जाय।

अवेस्ता में यिम का अन्त भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है। जब **ह्वरेनो** (प्रकाश, तेजस्विता) उसे छोड़ देती है तो सारा संसार उसके लिये अन्धकार-मय हो जाता है और वह राज्य-भ्रष्ट हो जाता है। दुबारा फिर वह सुदूर

---

१. यिम के विस्तृत विवरण के लिये द्वितीय अध्याय (पृ० ११८-२२४) द्रष्टव्य है।

पूर्व में प्रकट होता है (जो सूर्य के उदय की दिशा है)। ईरानी देवशास्त्र में यिम सम्बन्धी अन्य कथाओं की व्याख्या भी यिम की सौर-प्रकृति स्वीकार कर लेने से की जा सकती है। उदाहरणार्थ **वेन्दिदाद** में कहा गया गया है कि यिम के 'वर' में एक दिन मनुष्यों के एक वर्ष के बराबर होता है। उसके हरे-भरे 'वर' को शिशिर तथा तुषार का राक्षस महरकूश नष्ट कर देता है, किन्तु कुछ समय पश्चात् वह पुनः मनुष्यों से भर जाता है[1]।

रोठ[2] का मत है कि यम देवता का अवश्य कोई ऐतिहासिक आधार है और वे प्राचीन परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम राजा रहे होंगे। मैक्डानल[3] का कथन है कि वैदिक ऋषि यम को केवल प्रेतात्माओं का नेता तथा अधिपति समझते थे। हिलेब्रांट्[4] के अनुसार वे मूलतः चन्द्रमा से सम्बन्धित थे क्योंकि चन्द्रमा प्रतिमास क्षीण होते-होते विलुप्त हो जाता है और उसे सूर्य का पुत्र भी कहा जा सकता है। यास्क (१२।१०) ने उन्हें अग्नि का एक रूप माना है।

वैदिक एवं आवेस्तिक प्रमाणों के आधार पर यम को अस्तंगत सूर्य से सम्बन्धित करने वाला मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यदि यम का किसी भौतिक तत्त्व से सम्बन्ध है, तो उसी से हो सकता है। परवर्ती साहित्य में भी नरकों का स्थान पृथ्वी से नीचे बताया गया है जहाँ यम शासन करते हैं। विवस्वान् सूर्य का उदित होता हुआ रूप है और यम अस्त होता हुआ। **श० ब्रा०** १४।१।३।४ में यम को स्पष्ट शब्दों में सूर्य बताया गया है। प्राणियों का नियमन करने के कारण सूर्य ही यम है—

एष वै यमः य एष तपति, एष हीदं सर्वं यमयति।

यजुस् तथा अथर्ववेद में यम के स्वरूप में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। **यजुर्वेद** में यम को केवल पितरों का स्वामी कहा गया है। पितृगण यमलोक में रहते हैं और बुलाये जाने पर यम के साथ आकर अपना भाग ग्रहण करते हैं—

---

१. कारनाय : **ईरानियन माइथॉलजी**, पृ० ३१५।
२. **स्सा० डे० मा० गे०**, भाग ४, पृ० ४२५ त० आ०।
३. **वैं० मा०**, १७३।
४. **वेदिशे मिथोलोगी**, भाग १, पृ० ३९४।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।
तेषां लोकः स्वधा नमः ।। वा० सं० १९।४५

तेभिर्यमः संरराणो हवींषि अशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ।
वा० सं० १९।५१

वा० सं० २७।९ से यम का मृत्यु से भी सम्बन्ध प्रतीत होता है क्योंकि इस मन्त्र में बृहस्पति से प्रार्थना की गई है कि वे स्तोता को यम के भय से छुड़ाएँ और अश्विनौ से मृत्यु को दूर रखने के लिये कहा गया है ।

अथर्ववेद में यम का उल्लेख लगभग ११५ स्थानों पर है । **विवस्वान्** और **सरण्यू** से उनकी उत्पत्ति बताई गई है (१८।१।५३, १८।२।३३) । सर्व-प्रथम मरने आदि की सभी विशेषताएँ उसी प्रकार उल्लिखित की गई हैं (६।२८।३, १८।१।४९-५०, १८।३।१३) । वे पितरों में श्रेष्ठ हैं (११।६।११) और उनके अधिपति हैं (५।२४।१४) । यम के दूत मनुष्यों को उनके लोक में ले जाते हैं (वैवस्वतेन प्रहितान् यम-दूतान् चरतो अपसेधामि सर्वान्, ८।२।११) । यम के दो दूत मृतात्मा को अपने साथ लेने के लिये आते हैं (दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीव पुरा इहि, ५।३१।१)। **अ० वे०** ६।२९ में सर्वत्र यम का निर्ऋति (विनाश, मृत्यु) से तादात्म्य किया गया है और निर्ऋति के भी ऋग्वैदिक यम की भाँति कपोत और उलूक आदि दूत बताये गये हैं । किसी कन्या को सदा अविवाहित बनाये रखने के लिये प्रयुक्त होने वाले एक मन्त्र में (१।१४) अभिचारक यम से कहता है कि 'यह कन्या तुम्हारी वधू है, इसे ग्रहण करो । यह तुम्हारे घर की दासी बन कर रहेगी'—

एषा ते राजन् कन्या वधूर्निधूयतां यम ।
अ० वे० १।१४।२

एषा तु कुलपा राजन् तामु त्वां परिदद्मसि ।
अ० वे० १।१४।३

इससे उनका मृत्यु से सम्बन्ध स्पष्ट है ।

अब हम ब्राह्मण ग्रन्थों पर आते हैं । **श० ब्रा०** १२।८।१।१९ तथा १३।४।३।६ में यम को दक्षिणदिशा में रहने वाले पितरों का अधिपति बताया गया है (यमो वैवस्वतो राजा इत्याहुः तस्य पितरो विशः) । **तै० सं०** ५।५।९ के इन शब्दों से भी यही भाव व्यक्त होता है—**पितरस्त्वा यमराजानः**

पितृभिः दक्षिणतः पान्तु। इन अंगिरस आदि पितरों के साथ आकर वे यज्ञभाग ग्रहण करते हैं **(श० ब्रा० १४।२।२।१४)**

तै० सं० ५।२।३ तथा **श० ब्रा०** ७।१।१।३ में कहा गया है कि इस सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी यम है। अतः यज्ञ-भूमि में रचित वेदी के लिये यम से उतनी भूमि माँगनी चाहिये—

(१) **यावती वै पृथिवी तस्यै यम आधिपत्यं परीयाय। यममेव देवयजनमस्यै निर्याच्य आत्मने अग्निं चिनुते।**

(तै० सं०)

(२) **यमो ह वा अस्यावसानस्येष्टे। स एवास्मा अस्यामवसानं ददाति।** (श० ब्रा०)

स्पष्ट है कि यह कल्पना **ऋ० वे०** १०।१४।९ (यमो ददात्यवसानमस्मै), १०।१८।१३ तथा **अ० वे०** १८।२।३७ (ददाम्यस्मा अवसानमेतद्) आदि मन्त्रों पर आधारित है। अवेस्ता में भी यम को पृथ्वी का राजा बताया गया है।

कहा जा चुका है कि **श० ब्रा०** १४।१।३।४ में यम का सूर्य से तादात्म्य किया गया है। **तै० सं०** ३।३।८ तथा **श० ब्रा०** ७।२।१।१० में अग्नि को यम तथा पृथ्वी को यमी बताया गया है। इन दोनों वस्तुओं से ही सब कुछ संयत रखता है (अग्निर्वै यमः इयं यमी। आभ्यां हीदं सर्वं यतम्)। **वा० सं०** १२।६३ में आए **यमेन त्वं यम्या संविदाना उत्तमे नाके अधिरोहयैनम्** मन्त्र में **श० ब्रा०** के अनुसार अग्नि एवं पृथ्वी का युग्म ही विवक्षित है। सम्भवतः इसी आधार पर यास्क ने (१०।१९) यम को अग्नि का एक स्वरूप माना है[1]।

---

१. **श० ब्रा०** २।३।२।१,२ में यम को गार्हपत्य अग्नि बताया गया है, इन्द्र को आहवनीय तथा राजा नड (नल)-नैषिध को अन्वाहार्य-पचन। राजा नल यम के दाहिनी ओर जाता है **(तस्माद् आहुः अहरहो वै नडो नैषिधः यमं राजानं दक्षिणतः उपनयति)**। इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं है, पर **महाभारत** में जो निषधराज नल और दमयन्ती की कथा है उसमें इन्द्र और यम दमयन्ती की कामना करने वाले लोकपालों के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

जिस प्रकार **अवेस्ता** में यिम के दीर्घकालीन राज्य का और बाद में पदभ्रष्ट होकर भाग जाने का उल्लेख है उसी प्रकार **तै० सं०** २।१।४ में भी यम के सम्बन्ध में कुछ ऐसी विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। यम एवं देवों में इस लोक के आधिपत्य के लिये स्पर्धा थी। यम ने देवों की शक्ति एवं बल को छीन लिया (अयुवत), इसी से वे 'यम' हुए। वे यहाँ के राजा बन गये। पर बाद में देवों ने प्रजापति के कहने से वरुण एवं विष्णु को प्रसन्न किया। उन्होंने यम का तेज अपहृत कर लिया और इन्द्र ने उनका राज्य लेकर उन्हें भगा दिया—

> **देवाश्च वै यमश्च अस्मिन् लोके अस्पर्धन्त। स यमो देवानाम् इन्द्रियं वीर्यम् अयुवत। तद् यमस्य यमत्वम्। ते देवा अमन्यन्त यमो वा इदमभूत् यद्वयं स्म इति। ते प्रजापतिमुपाधावन्। स एतौ प्रजापतिरात्मन उक्षवशौ निरमिमीत। ते देवा वैष्णावरुणीं वशामालभन्त ऐन्द्रम् उक्षाणम्। तं वरुणेनैव ग्राहयित्वा विष्णुना यज्ञेन प्राणुदन्त। इन्द्रेणैव अस्य इन्द्रियम् अवृञ्जत॥**

गृह्यसूत्रों में यम बहुत कम उल्लेख हुआ है। सामान्यतः मृत्यु के देवता के रूप में उनकी प्रतिष्ठा हो चुकी है और संकटों तथा मृत्यु को दूर करने के लिये ही उनकी प्रार्थना की गई है; उदा० **हिरण्यकेशी गृ० सू०** १।८।२८।१ में नवीन गृह में प्रवेश करते समय गृहपति यम की इन शब्दों के साथ प्रार्थना करता है 'मृत्यु इस घर से निकल जाए और यहाँ अमरता का वास हो। यम हमारी संकटों से रक्षा करें', आदि।

रामायण एवं **महाभारत** में यम की प्रतिष्ठा प्राणियों को कर्मानुरूप शुभाशुभ फल प्रदान करने वाले एवं पापियों का नियमन करने वाले देवता के रूप में हो चुकी है। दुष्टों को वे अपने नरक में दण्डित करते हैं। वैदिक साहित्य में यम के इस कार्य का उल्लेख सर्वप्रथम **तै० आ०** ६।५।३ में प्राप्त होता है जहाँ कहा गया है कि वैवस्वत यम के पास जाकर सत्यवादी और अनृतवादी अलग-अलग हो जाते हैं—

> **वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः।**
> **ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः॥**

तैत्तिरीय आरण्यक ६।५।३

पर यहाँ स्मरणीय यह है कि वैदिक साहित्य में कहीं भी यम का नरक-लोक से सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता। बल्कि **अ० वे०** १२।४।३६ में तो 'नारकलोक' को स्पष्ट शब्दों में यम के दिव्यलोक से, जहाँ मनुष्य अपनी सब कामनाएँ प्राप्त करता है, पृथक् और ठीक विपरीत बताया गया है—

सर्वकामान् यमराज्ये वशा प्र ददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्।।

अ० वे० १२।४।३६

वस्तुतः वैदिक साहित्य में स्वर्ग की धारणा तो स्पष्ट है किन्तु नरक की कल्पना अभी केवल रूप-रेखा में ही है। उसके विषय में कोई निश्चित धारणा प्राप्त नहीं होती। प्रायः उसे **अन्धःतमस्, कृष्णतमस्** या **वव्र** (गड्ढा) कहा गया है। वहाँ राक्षस तथा यातुधानियाँ आदि रहती है (अ० वे० २।१४।३) और वह पृथ्वी के नीचे हैं (ऋ० ७।१०४।११)।

कठ उपनिषद् में यम एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र-प्रवक्ता के रूप में उपस्थित होते हैं। यहाँ उनका मृत्यु से पूर्ण तादात्म्य किया गया है। उद्दालक ऋषि अपने पुत्र नचिकेता के प्रश्न से **(कस्मै मां दास्यसि ?)** अप्रसन्न होकर कहते हैं **'मृत्यवे त्वा ददामीति'** (१।४)। नचिकेता सोचता है **"किंस्विद् यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति** ? १।१२ में फिर उनके लिये 'मृत्यु' सम्बोधन आया है **'त्वं च मृत्यो'**। १।७ में उनके लिये 'वैवस्वत' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। नचिकेता यम के प्रासाद में तीन दिनों तक रहता है **(तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीत् गृहे मे,** १।९)। किन्तु यहाँ भी कहीं नरक का उल्लेख नही है। लगता है, अभी यम नरकाधिपति के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुए थे। नचिकेता उनसे मृत्यु के अनन्तर आत्मा की स्थिति के विषय में प्रश्न करता है और वस्तुतः, **'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये'** की विद्या का उपदेष्टा उसे यम के अतिरिक्त और कौन मिल सकता है जिसे रात-दिन मनुष्यों की प्रेत-आत्माओं से काम पड़ता है—**वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः** (१।२२)!

यम के भयंकर रूप से सबसे पहले हम **रामायण** के उत्तरकाण्ड में परिचित होते है। यहाँ उन्हें कालपाशों से युक्त और अग्नि तथा वज्र के समान भयानक बताया गया है। इनके दर्शनमात्र से जीवों के प्राण निकल जाते हैं—

यस्य पार्श्वेषु निखिलाः कालपाशाः प्रतिष्ठिताः ।
पावकाशनिसंकाशो मुद्गरो मूर्तिमान् स्थितः ।।
दर्शनादेव यः प्राणान् प्राणिनामपकर्षति ।

रामा० उत्तर० २२।३५, ३६

उत्तरकाण्ड के २०वें सर्ग में नारद जी यम के स्वरूप का चित्रण जिन शब्दों में करते हैं उनसे यम की शक्ति का परम उत्कर्ष सूचित होता है । आयु के क्षीण होने पर इन्द्र सहित तीनों लोकों के प्राणी यम से पीड़ित होते हैं। वे मनुष्य द्वारा किये गये कर्मों के साक्षी हैं । उन्हीं से संसार के प्राणी चेतना प्राप्त करके संसार में विभिन्न चेष्टाएँ करते हैं । वे पाप-पुण्य के फल देने वाले हैं । तीनों लोक उनके वश में हैं और उनसे सदा भयभीत रहते हैं—

येन लोकास्त्रयः सेन्द्राः क्लिश्यन्यते सचराचराः ।
क्षीणे चायुषि धर्मेण स कालो जेयष्ते कथम् ।।
स्वदत्तकृतसाक्षी यो द्वितीय इव पावकः ।
लब्धसंज्ञा विचेष्टन्ते लोका यस्य महात्मनः ।।
यस्य नित्यं त्रयो लोका विद्रवन्ति भयार्दिताः ।।
यो विधाता च धाता च सुकृतं दुष्कृतं तथा ।।

उत्तर० २०।२८-३२

रामायण का यम-लोक स्वर्ग नहीं है । अब यह नरक में परिवर्तित हो गया है, जहाँ सब प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुरूप यम के पुरुषों से विविध प्रकार की यातनाएँ एवं क्लेश प्राप्त करते हैं । यम के पुरुष अत्यन्त उग्र, तथा घोर हैं और इनका रूप भयंकर है—

यमस्य पुरुषैरुग्रैः घोररूपैः भयानकैः ।
ददर्श वध्यमानांश्च क्लिश्यमानांश्च देहिनः ।।

उत्तर० २१।१२

उत्तरकाण्ड में प्राणियों की यातना का यह वर्णन निश्चित रूप से पुराणों का समकालीन है, उनसे प्राचीन नहीं । क्योंकि उत्तरकाण्ड का यह भाग रामायण में सबसे बाद में जोड़ा हुआ अंश माना जाता से । फिर भी ये श्लोक नरक में दी जाने वाली यातनाओं का, जिनका अन्य पुराणों में (विशेषतः **गरुडपुराण** के प्रेतकल्प में) विस्तार से उल्लेख किया गया है, प्रतिनिधि-वर्णन प्रस्तुत करते हैं । "वहाँ बहुत से प्राणी कराह रहे थे और बहुत से रोते तथा

चिल्लाते थे। कुछ को कुत्ते नोच रहे थे और कुछ को कीड़े काट रहे। बहुत से रुधिर से भरी वैतरणी पार कर रहे थे और कुछ बालू में भूने जा रहे थे," आदि—

> **कृमिभिर्भक्ष्यमाणांश्च सारमेयैश्च दारुणैः ।**
> **श्रोत्रायासकरा वाचो वदतश्च भयावहाः ॥**
> **सन्तार्यमाणान् वैतरणीं बहुशः शोणितोदकाम् ।**
> **बालुकासु च तप्तासु तप्यमानान् मुहुर्मुहुः ॥**
> **पानीयं याचमानांश्च तृषितान् क्षुधितानपि ।**
> **शवभूतान् कृशान् दीनान् विवर्णान् मुक्तमूर्धजान् ॥**
>
> राम० उत्तर० २१।१४, १५, १७

आगे के श्लोकों में (२१।१८-२०) पुण्यात्माओं द्वारा यमपुरी में भोगे जाते हुए सुख तथा ऐश्यर्वों का भी वर्णन है। इस प्रकार रामायण के अनुसार मनुष्य को अपने सुकृत एवं दुष्कृतों का फल यमपुरी में ही मिल जाता है। परवर्ती पुराणों (तथा महा० स्वर्ग० १।६-१०) में पुण्यों के भोग का स्थान केवल स्वर्ग है।

रामायण उत्तर० २२।२५ में यम और रावण के युद्ध के प्रसंग में **मृत्यु** का यम से स्वतन्त्र उल्लेख है और उसका यम से तादात्म्य नहीं किया गया। यह मृत्यु यम का परिचर है—

> **ततो मृत्युः क्रुद्धतरो वैवस्वतमभाषत ।**
> **मुञ्च मां समरे नित्यं हन्मीमं पापराक्षसम् ॥**

परवर्ती पुराणों में मृत्यु का सदा पृथक् व्यक्तित्व है। **भाग० ४।८।४** में उसे ब्रह्मा के पुत्र **अधर्म** एवं उनकी पत्नी **मृषा** का वंशज बताया गया है। **पद्म** ३०वें अध्याय में मृत्यु की एक **सुनीथा** नामक कन्या का भी उल्लेख है जिससे **वेन** नामक अत्याचारी राजा उत्पन्न हुआ।

यम की उत्पत्ति के विषय में महाकाव्यों तथा पुराणों में भी वही इतिहास प्राप्त होता है। ये विवस्वान् की पत्नी **संज्ञा** से उत्पन्न हुए हैं (महा० आदि० ७४।३०, वायु ८४।३३, विष्णु० ३।२।३, मत्स्य० ११।४ आदि)। किन्तु इनकी बहन का नाम यमी नहीं अपितु **यमुना** है और उसका उत्तरी भारत में वहने वाली इसी नाम की नदी के साथ तादात्म्य किया गया है (मत्स्य० ११।४

आदि)। अपनी सौतेली माता **सवर्णा** या **छाया** के दुर्व्यवहार से खिन्न होकर इन्होंने एक बार उसे मारने के लिये पैर उठाया। उसने इनके पैर को कुष्ठ रोग से पीडित होने का शाप दे दिया (शशाप च यमं छाया सक्षतः क्रमिसंयुतः। पादोऽयमेको भविता पूयशोणितविस्रवः॥ मत्स्य पु० ११।१२; तु० की०, विष्णु० ३।२।५)। इस पर यम खिन्न होकर गोकर्ण-तीर्थ में तपस्या करने चले गये और शिव को प्रसन्न करके उन्होंने लोकपालत्व (दक्षिण दिशा का अधिपतित्व), पितरों का आधिपत्य तथा जगत् के धर्माधर्म के परीक्षक होने का वरदान माँगा—

वव्रे स लोकपालत्वं पितृलोके नृपालनम्।
धर्माधर्मात्मकस्यापि जगतस्तु परीक्षणम्॥

मत्स्य० ११।२०

सभी प्राणियों के कर्मों का न्याय एवं धर्मपूर्वक निर्णय करने के कारण यम के लिये प्रायः **धर्म** शब्द प्रयुक्त हुआ है। उनको स्थान-स्थान पर **धर्मराज** की आदरयुक्त उपाधि से विभूषित किया गया है। उपर उद्धृत **रामा० उत्तर०** २०।२८ में भी उनके लिये धर्म शब्द आया है (क्षीणे चायुषि धर्मेण)। **अजामिल** के प्राणों को लेने के लिये आये यमदूत विष्णु पार्षदों द्वारा निषिद्ध किये जाने पर पूछते हैं—

के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम्? भाग० ६।१।३२

किमर्थं धर्मपालस्य किंकरान्नो निषेधथ? ६।१।३३

तथा **प्रत्याह किं तान् प्रति धर्मराजः?** ६।३।१

मत्स्यपुराण अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यम को धर्माधर्म के विधानों के ज्ञाता, तथा धर्म-प्रवर्तक बताता है और कहता है कि धर्म से प्रजा का अनुरंजन करने के कारण यम का नाम धर्मराज है—

धर्माधर्मविधानज्ञ सर्वधर्मप्रवर्तक।
त्वमेव जगतो नाथ प्रजासंयमनो यमः।
धर्मेणेमाः प्रजाः सर्वाः यस्माद् रंजयसे प्रभो।
तस्मात्त्वं धर्मराजेति नाम सद्भिर्निगद्यते॥

मत्स्य० २१२।१,३

ब्रह्मपुराण में भी निम्नलिखित तीन स्थानों पर यम के लिये धर्म या धर्मराज शब्दों का प्रयोग हुआ है—

अयं वैवस्वतो धर्मो नियन्ता सर्वदेहिनाम्।
धर्माधर्मव्यवस्थायां स्थापितो लोकपालकः ॥ ६४।३२

स कदाचिद् यमगृहं द्रष्टुं मातुलमभ्यगात् ।
स मातुलं तु पप्रच्छ नत्वा धर्मं सनातनम् ।
एवं पृष्टो धर्मराजः सर्वं प्राह यथार्थवत् । १६५।३१, ३२, २४

महाभारत के अनेक प्रकरणों से यम एवं धर्म की एकरूपता सूचित होती है । **आदि० १०७।१४-१६** में **माण्डव्य** ऋषि यम द्वारा अपने को मृत्यु-तुल्य कष्ट दिये जाने पर उन्हें शूद्र-योनि में जन्म लेने का शाप देते हैं । वे **विदुर** के रूप में जन्म लेते हैं । **आदि०** १२२।६-७ में युधिष्ठिर का धर्मराज के अंश से कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न होने का वर्णन है । **आश्रम०** २६।२०-२३ में विदुर के शरीर से एक ज्योति निकल कर युधिष्ठिर में प्रविष्ट हो जाती है क्योंकि दोनों एक ही देवता के अंश थे । **स्वर्ग०** ५।२२ में पुनः कहा गया है कि विदुर ने धर्मराज के शरीर में प्रवेश किया । **आदि०** ६७।८६ में धर्म को सूर्य का पुत्र कहा गया है । इनके भयंकर रूप के वर्णन के समय 'यम' तथा नियामक-रूप के द्योतन के लिये 'धर्म' शब्द प्रयुक्त होता है ।

यम शब्द वेदों में सम्भवतः 'युग्म' का वाची है किन्तु पुराणों में इसका सम्बन्ध **यम्** धातु से जोड़ कर यमराज के पापियों को दण्ड देने वाले कार्य की सुन्दर एवं सन्तोषजनक व्याख्या की गई है—

कर्मणामनुरूपेण यस्माद् यमयसे प्रजाः ।
तस्माद् वै प्रोच्यसे देव यम इत्येव नामतः ॥

मत्स्य० २१२।२

भाग० ६।१।४८ में कहा गया है कि यम सभी प्राणियों के अन्तःकरण में विद्यमान रहते हैं इससे वे उनके सम्पूर्ण कर्मों को जानते हैं—

मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति ।
अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः ॥

यम का यह सूक्ष्म रूप और उनके लिये प्रयुक्त **अज** (उत्पत्तिहीन) शब्द ऋग्वैदिक यम से, जो केवल सर्वप्रथम मर्त्य हैं, कितना अन्तर रखता है !

यम के आदेशों एवं नियमों को कोई भग्न नहीं कर सकता। वे सबके लिये अपरिहार्य एवं अपरिवर्त्य हैं—

यमस्य देवस्य न दण्डभंगः कुतश्चनर्षे श्रुतपूर्वमासीत् ।

भाग० ६।१।२

तस्य ते विहतो दण्डो न लोके वर्ततेऽधुना ।

वही ६।३।८

प्राणियों को दण्डस्वरूप कष्ट देने पर भी इन्हें पाप नहीं लगता (ब्रह्म० ९४।३३)।

यम ही जगत् की मर्यादा के स्थापक हैं। यदि वे न हों तो सब लोग कुत्सिताचार में प्रवृत्त हो जायें। उन्हीं के भय से लोग धर्म का पालन करते हैं—

त्वद्भीता अनुव्रजन्ते जनाः त्वद्भीता ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
त्वद्भीताः साधु चरन्ति धीराः त्वद्भीताः कर्मनिष्ठा भवन्ति ॥

ब्रह्म० १२५।२३

आयु के अन्त में सभी प्राणी यम के वश में हो जाते हैं और उनके द्वारा दी गई यातनाएँ भोगते हैं (भाग० ३।७।५)। मृत्यु के पश्चात् प्राणी यम की **संयमनी** नामक पुरी (भाग० ६।३।३, यमं संयमनीपतिम्) में जाकर अपने पार्थिव रूप में निवास करते हैं। **भाग० १०।४५।४०** तथा **विष्णु० ५।२६।३०-३१** में भगवान् कृष्ण संयमनी जाकर अपने गुरु सान्दीपनि के पुत्र को यम से माँग लाते हैं।

यम की कल्पना एक काले एवं भयंकर शरीर वाले पुरुष के रूप में की गई है। वे पीतांबर तथा सोने के आभूषण धारण किये रहते है। उनके एक हाथ में कालपाश रहता है जिससे वे प्राणियों के सूक्ष्म शरीर को बाँधते हैं और दूसरे हाथ में मुद्गर की आकृति का दण्ड, जो राजत्व सूचक है। उनका वाहन महिष है तथा काल और मृत्यु नामक उनके दो परिचर हैं—

ददर्श धर्मराजं तु स्वयं तद्देशमागतम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं पीताम्बरधरं प्रभुम् ॥

विद्युल्लतानिबद्धांगं सतोयमिव तोयदम् ।
किरीटेनार्कवर्णेन कुण्डलैश्च विराजितम् ।।
हारमारोपितोरस्कं तथांगदविभूषितम् ।
तथानुगम्यमानं च कालेन सह मृत्युना ।।

मत्स्य० २०९।५-७

प्रायः सामान्य मनुष्यों के प्राणों को लेने के लिये[1] यमराज अपने दूतों को भेजते हैं। ये दूत घोरदर्शन एवं क्रूर होते हैं। इनकी आकृति अत्यन्त भयंकर होती है और पापी मनुष्य इन्हें देखते ही काँप उठते हैं **पद्म पुराण** में यम के इन दूतों का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया गया है—

यमदूताः समायान्ति दारुणा घोरदर्शनाः ।
लंबोदरा वक्रमुखाः क्रूरा पिंगलचक्षुषः ।।
केचित् पिंगलसर्वांगाः कृष्णाः केचित् तु बभ्रवः ।।
स्विद्यन्ति पापिनो दृष्ट्वा कंपन्ते च भृशं भिया ।।

पद्म० भूमिखण्ड **१३।५४,५५**

पीछे कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में यम के दो कुत्तों का दूतों के रूप में उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में ही सर्वप्रथम दूत शब्द बहुवचन में आया है किन्तु, न तो इनका स्वरूप निश्चित है न कार्य। पुराणादिकों में ही यमदूतों की एक स्पष्ट धारणा प्राप्त होती है। अशुभदर्शन होने के कारण यमदूत पुण्यात्माओं को लेने के लिये नहीं भेजे जाते। सच्चरित्र एवं पुण्यशाली व्यक्तियों को के लिये यमराज स्वतः पधारते हैं। **महा० वन०** २९६।१५ में सत्यवान् को को लेने वे स्वयं आते हैं और **मत्स्य० पु०** २१०वें अध्याय में वर्णित इस कथा में वे सावित्री से उसका कारण बताते हुए कहते हैं—

गुरुशुश्रूषणाद् भद्रे तथा सत्यवतो महत् ।
पुण्यं समर्जितं येन नयाम्येनमहं स्वयम् ।।

मत्स्य० २१०।१६

---

१. पुराणों का विश्वास है कि केवल मनुष्य की प्रेतात्मा को ही कर्मों का फल भोगने के लिये स्वर्ग-नरक आदि की यात्रा करनी पड़ती है, अन्य प्राणियों को नहीं, क्योंकि केवल यही एक कर्म-योनि है। शेष भोग्य-योनियाँ हैं और मनुष्यों द्वारा किये गये कर्मों के परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है।

ऋग्वेद में यम के जिन दो कुत्तों का वर्णन है उनका **ब्रह्मपुराण** (अ० १३१) में भी उल्लेख हुआ है। यहाँ भी उन्हें सरमा के पुत्र, मनुष्यों के पीछे चलने वाले, चार आँखों वाले, पवन भक्षण करने वाले तथा यम-प्रिय कहा गया है किन्तु उनका कार्य अब केवल देवों की गायों की वन्य जीवों से रक्षा करना है। यम से उनका केवल नाम मात्र को सम्बन्ध रह गया है (उदा० अपनी माता को शाप मिलने पर वे अपने स्वामी यम ने उसकी निष्कृति का उपाय पूछते हैं, श्लोक ३४)।

तस्याः (सरमायाः) पुत्रौ महाश्रेष्ठौ श्वानौ नित्यं जनाननु।
गामिनौ पवनाहारौ चतुरक्षौ यमप्रियौ।
गाः रक्षतः स्म देवानां यज्ञार्थं कल्पितान् पशून्॥

ब्रह्म० १३१।३

पर ऋग्वेद में जहाँ उलूक और कपोत को यम का पक्षी बताया गया है वहाँ रामायण में यह स्थान **काक** ने ले लिया है। काला और अशुभ होने के कारण यह यम का पक्षी होने के सर्वथा उपयुक्त भी है। **रामा० उत्तर० १८।२६,२७** में यम अपने इस पक्षी को वर देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मैं अन्य प्राणियों को विविध रोगों से पीड़ित करता हूँ उस प्रकार तुम्हें नहीं करूँगा। मेरे वर से तुम्हें मृत्यु का भी भय नहीं रहेगा—

यथान्यैः विविधैः रोगैः पीड्यन्ते प्राणिनो मया।
ते न ते प्रभविष्यन्ति मयि प्रीते न संशयः॥
मृत्युतस्ते भयं नास्ति वरान् मम विहंगम॥

आज भी लोक विश्वास है कि कौआ स्वयं कभी नहीं मरता। उसकी मृत्यु तभी होती है जब कोई उसकी हत्या कर डाले। पितरों का यम से सम्बन्ध होने के कारण आज भी पितृपक्ष में यम के इस पक्षी को उड़द आदि से बने पदार्थों की बलि प्रदान की जाती है।

पर यम के हाथ से पितरों का आधिपत्य अब छिन चुका है। पितरों का स्वामी अब **अर्यमा** को माना जाता है (तु० की०, **पितृणाम् अर्यमा चास्मि,** भगवद्गीता १०।२९)। किन्तु इन अर्यमा का निवास स्थान भी यम-लोक में है (भाग० ५।२६।५)।

भागवत में यम को परम विष्णुभक्त चित्रित किया गया है। जब **अजामिल**

के प्राण निकालने वाले दूत विष्णु पार्षदों द्वारा प्रतिषिद्ध होने पर यम के पास जाकर सारी घटना का वर्णन करते हैं तो वे परम प्रसन्न होकर उनसे विष्णु के माहात्म्य का वर्णन करते हैं (**भाग०** ६।३।१२-३३)। भागवत धर्म के तत्त्व को जानने वाले बारह व्यक्तियों में यम की भी गणना की गई है (वही, ६।३।२०)।

कठ उपनिषद् में यम का दार्शनिक-ज्ञान के उपदेष्टा के रूप में जो व्यक्तित्व है उसका प्रतिबिम्ब महाकाव्यों एवं पुराणों में भी प्राप्त होता है। **महा० शान्ति०** १२९ अ० में ये महर्षि गौतम को निश्रेयस् का उपदेश देते हैं। अनु० १३०।१४-३३ में भी इनके द्वारा धर्म के रहस्य का वर्णन करवाया गया है। **अनु०** १७।१७८, १७९ तथा ६८।१६-२२ भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं। **भाग०** ७।२।२५ त० आ० में यम उशीनर देश के राजा **सुयज्ञ** के मरने पर विलाप करती हुई रानियों को सान्त्वना देने के लिये एक बालक के रूप में आते हैं और संसार के चक्र का वर्णन करते हैं। इसी प्रकार **मत्स्य०** ४९।६८ में भी वे जनमेजय की वीरता से प्रसन्न होकर उसे मुक्ति-ज्ञान प्रदान करते हैं—

यमस्तुष्टः ततस्तस्मै मुक्तिज्ञानं ददौ परम्।

किन्तु यम का मुख्य रूप वही है जिसे भागवतकार ने **शास्ता दण्डधरो नृणां शुभाशुभविवेचनः** (६।३।७) शब्दों से प्रकट किया है। परवर्ती पुराणों में यम के इस कार्य में **चित्रगुप्त** नामक एक सेवक को भी सहायक माना गया है। इसका कार्य अपनी वही में लोगों के शुभाशुभ कार्यों का लेखा-जोखा रखना है। **बृहन्नारदीय-पुराण में** इनकी आकृति बड़ी विचित्र बताई गई है और इन्हें ३२ भुजाओं से युक्त, तीन योजन विस्तृत, दीर्घनासिका वाले, तथा बड़ी-बड़ी लाल आँखों से युक्त बताया गया है। कायस्थवंशीय चित्रगुप्त को अपना आदि-पुरुष मानते हैं और यम-द्वितीया (कार्तिक शुक्ल द्वितीया) को धूम-धाम से इनकी, एवं लेखनी, मसीपात्र आदि लेखन-सामग्री की, पूजा करते हैं। यम-द्वितीया का दिन परवर्ती हिन्दू-धर्म में **भैया दूज** के पुण्य पर्व के रूप में विकसित हुआ है। उस दिन भाई बहन के घर जाता है। दोनों मिल कर यमुना (सूर्यपुत्री, यमभगिनी) अथवा किसी अन्य नदी में स्नान करते हैं। बहन भाई के टीका करती है और भाई बहन को वस्त्रालंकार आदि की भेंट देता है। पुराणों का कहना है कि इस दिन बहन से टीका कराने से यम की यातनाओं से मुक्ति मिल जाती है। यम और यमी (=यमुना) अब भाई-बहन के पवित्र स्नेह के दैवी प्रतीक हैं।

सोम

सोम एक विशेष प्रकार की लता से निकाला जाने वाला[1] आनन्ददायक, स्फूर्तिप्रदायक एवं बलवर्द्धक पेय है जिसको वैदिक आर्य दूध तथा मधु मिश्रित करके देवों को अर्पित करते थे और तदनन्तर स्वतः पान करते थे। देवों को प्रदान किये जाने वाले द्रव्यों में इसका सर्वोत्कृष्ट स्थान था। इसीलिये ऋ० ९।८६।१० आदि में इसे 'उत्तमं हविः' और 'यज्ञ की ज्योति' कहा गया है।

सोम-यागों का वैदिक कर्मकाण्ड में सर्वाधिक महत्त्व है। इन यागों में दिन में तीन बार अर्थात् प्रातः, मध्याह्न तथा सायं, सोम का सवन किया जाता था और वैदिक देवमण्डल के देवों को तीन गणों में विभक्त करके प्रत्येक बार उनके एक-एक समूह को सोम पान के लिये आमन्त्रित किया जाता था। **निरुक्त** (१२।१ आदि) तथा **बृहद्देवता** (१।९८-१३१, २।७-१४) में देवों की इन तीनों सूचियों का विस्तार से वर्णन है। सोम के इसी माहात्म्य के कारण ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल, जिसमें ११४ सूक्त हैं, उसी से सम्बन्धित है।

सोमलता से रस निकलने के लिये पहले उसके डंठलों (अंशु) को उलूखल में डालकर (ऋ० १।२८।१) लोढ़े (ग्रावन्) से कुचला जाता था

---

१. सन् १९६८ में न्यूयार्क से **वैसन्** (R. Gordon Wasson) नामक विद्वान् की *Soma*, Divine Mushroom of Immortality नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें प्रतिपादित किया गया है कि सोम किसी लता का नहीं अपितु एक विशेष प्रकार के छत्रक (खुम्भी या कुकुरमुत्ता) को कूट कर और दबा कर निकाला गया रस है। सोम के इस छत्रक को अँग्रेजी में Flyagaric (मक्षिका-छत्रक) कहते हैं। यह साइबेरिया के मैदानों में प्रचुरता के साथ पाया जाता है और वहाँ की जन-जातियों के पुरोहित आज भी धार्मिक उत्सवों पर इसे पीकर झूमते हैं। वैसन् का मत है कि इस भूरे ('बभ्रु') रंग के छत्रक के रस को पीने के बाद जो शारीरिक और मानसिक लक्षण प्रकट होते हैं वे ऋग्वेद में वर्णित सोम के प्रभाव से पूर्णतया मेल खाते हैं। वैसन् का मत यद्यपि सर्वमान्य नहीं है, तो भी पश्चिमी विद्वानों में आजकल उसके कई अनुयायी हैं।

(ऋ० ६।६७।१९)। सोमलता के कभी सूख जाने पर कुचलने से पूर्व उसे कुछ देर पानी में भिगो कर रखा जाता था। कुचलने या कूटने के पश्चात् दबा कर उसका रस निकाला जाता था और शुद्ध (तृणरहित, वैदिक शब्दावली में 'पूत') करने के लिये ऊन (या ऊनी कपड़े) की छन्नी से उसे छान लिया जाता था। लगता है छनते हुए ('पवमान') सोम का दृश्य वैदिक ऋषियों को विशेष मनोहारी प्रतीत होता था क्योंकि नवम मण्डल के अधिकांश सूक्त इसी **सोम पवमान** के लिये कहे गये हैं। सोम का यह रस भूरा (बभ्रु) होता था। इस उन्मादक रस का प्रभाव देवों पर, मुख्यतः इन्द्र पर, विशेष संरम्भ के साथ वर्णित किया गया है।

देवता के रूप में सोम का मानवीकरण अत्यधिक अपूर्ण है, सम्भवतः अग्नि और वायु से भी कम। उसके केवल ऐसे ही गुणों का उल्लेख किया गया है जो या तो सभी देवों में सामान्य हैं, या कि फिर इन्द्र आदि देवों को स्फूर्ति एवं बल प्रदान करके वृत्रवध आदि कार्य करवाने के कारण, साहचर्य के कारण उन पर भी संक्रान्त कर दिये गये हैं। सोम की शक्ति से ही इन्द्र शौर्य के विविध कार्य करते हैं (ऋ० ६।१७।११, ९।४८।२ आदि) अतः परोक्षतया सोम भी 'वृत्रहन्' है। सूर्य को उदय की ओर प्रेरित करने के कारण वह 'ज्योति प्राप्त करने वाला' भी है (ज्योतिर्विदासि नः, ऋ० ९।३५।१)। उसे दिशाओं का अधिपति तथा द्यावापृथिवी का उत्पादक भी कहा गया है (ऋ० ९।९०।१)। वह शूरों की भाँति आयुध धारण करता है (शूरो न धत्त आयुधा, ऋ० ९।७६।२)।

मधु से मिश्रण करके पीने के कारण सोम को प्रायः **मधु** या मधुरस (४।२७।५, ५।४३।४) भी कहा जाता है। पर यह शब्द आकाशीय-सोम या अमृत को ही विशेषरूप से सूचित करता है। **अमृत** शब्द भी सोम का पर्याय-वाची है (नू चिन्नु वायोरमृतं विदस्येत्, ६।३७।३; ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत्, ५।२।३)। अनेक स्थानों में सोम पीकर अमर हो जाने का भी उल्लेख है (अपाम सोमम् अमृता अभूम, ८।४८।३)। उसके लिये दुग्ध को द्योतित करने वाला (परवर्ती साहित्य में अमृतवाची) **पीयूष** शब्द भी ऋग्वेद में कुछ स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है (पीयूषमपिबो गिरिष्ठाम्, ३।४८।२)। **इन्दु** शब्द भी सोम का वाची है और मैक्डानल के अनुसार 'दीप्तिमान् बिन्दु' का भाव रखता है[1]। पर संस्कृत व्याकरण में इसे 'उन्दी क्लेदने' धातु से

१. **वैदिक माइथॉलजी, पृ० १०५।**

सिद्ध किया गया है[1]। द्रोण (काष्ठ पात्र) में एकत्र सोम की प्रायः समुद्र से उपमा दी गई है (५।४७।३ आदि)। छन्नी से छाने जाते हुए सोम का साम्य आकाश से गिरती हुई वृष्टि से किया गया है। 'सिन्धुओं' अथवा जल-स्रोतों का उन्हें प्रायः अधिपति बताया गया है (पतिः सिन्धूनां भवन् ९।१५।५ राजा सिन्धूनां, ९।८६।३३)। जल को प्रायः उसकी बहनें (स्वसार आपः ९।८२।३) अथवा पत्नियाँ (आपो देवीरमृतस्य पत्नीः, वा० सं० ६।३४) कहा गया है। श० ब्रा० ११।५।४।५ में सोम का 'अमृत' नाम जल के लिये प्रयुक्त हुआ है (अमृत वा आपः। अमृतमशानेत्येवैनम्) और लौकिक साहित्य में यह प्रायः जल का पर्यायवाची है।

यद्यपि सोम पार्थिव है और वह **मूजवत्** पर्वत पर उत्पन्न होता है (१०।३४।१) किन्तु साथ ही उसे दिव्य भी कहा गया है (१०।११६।३)। वह आकाश का पुत्र या **दिवःशिशुः** है (९।३८।५)। वह आकाश का दुग्ध है (दिवः पीयूषम् उत्तमम् ९।५१।२)। वहीं वह छन कर शुद्ध होता है (पवस्व सोम दिव्येषु धामसु ९।८६।२२)। इसका वास 'परम व्योम' में है (९।८६।१५), वहीं से यह पृथ्वी पर जाता है। इसको एक **श्येन** आकाश से पृथ्वी पर लाया है। यह श्येन तीव्रवेग से उड़ने वाला (रघु) तथा सुन्दर पंखों से युक्त (सुपर्ण) है (रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा युवा कविर्दीदयद् गोषु गच्छन्, ५।४५।९। श्येनो यदन्धो अभरत् परावतः, ९।६८।६)।

मन के समान वेगवाले सुपर्ण श्येन ने जाकर एक लौहमय दुर्ग को भग्न किया और वे इन्द्र के लिये सोम को पृथ्वी पर लाये—

मनोजवा अयमान आयसीमतरत्पुरम्।
दिवं सुपर्णो गत्वाय सोमं वज्रिण आभरत्॥

ऋ० ८।१००।८

एक स्थान पर कहा गया है कि सोम सौ लौह पुरों के मध्य में सुरक्षित था किन्तु श्येन ने अपने वेग से उन सबको तोड़ दिया—

शतं मा पुर आयसीररक्षन् अध श्येनो जवसा निरदीयम्।

ऋ० ४।२७।१

---

१. उन्दिः = गीला करने वाला [द्रव-पदार्थ], वर्ण विपर्यय से उन्दिः = इन्दुः।

श्येन ने जाकर इन्द्र के लिये सोम के मधुमय अंशु को तोड़ लिया और उसे अपने पंजों में दबा कर पृथ्वी पर ले आये (**यं ते श्येनः पदाभरत् तिरो रजांस्यस्पृतम्, ८।८।९**)। ऋ० ४।२७।३, ४ में यह भी कहा गया हैं कि जब श्येन आकाश से सोम को ला रहा था तो कृशानु नामक एक धनुर्धारी ने उस पर बाण चलाया जिससे उसका एक पंख कट गया—

(१) **अव यच्छ्येनो अस्वनीदध द्योर्वि यद् यदि वात ऊहुः पुरंधिम्।**
सृजद् यदस्मा अव ह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन् ॥

(२) **अन्तः पतत् पतत्र्यस्य पर्णम् अध यामनि प्रसितस्य तद् वेः ॥**

ऋ० २७।३, ४

ब्लूमफ़ील्ड के अनुसार आकाश से श्येन द्वारा सोम को पृथ्वी पर लाने की गाथा जलवृष्टि का ही रूपक है[1]। श्येन तडित् का प्रतीक है जो कृष्णमेघ रूपी लौहपुरों का विभेद करके दिव्य-सोम अथवा आकाशीय-जल को पृथ्वी पर लाता है। कृशानु द्वारा श्येन को विद्ध करने का उल्लेख किसी परवर्ती कवि की कल्पना है जो उसने कथा को रोचक तथा नाटकीय रूप देने के लिये जोड़ दी है। ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में मातरिश्वा द्वारा वृष्टि करने का तथा श्येन द्वारा सोम आनयन का साथ-साथ उल्लेख हुआ है—

आन्यं दिवो मातरिश्वा जभार आ मथनादन्यं परि श्येनो अद्रेः।

ऋ० वे० १।९३।६

प्रो० उलरिष् श्नाइडर ने इस कथा की एक सर्वथा नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए हाल में कहा है कि ऋ० ४।२६ और ४।२७ में सोम अपहरण की यह कथा

---

१. **ब्लूमफ़ील्ड, रिलीजन आफ दि वेद, पृ० १४६।**
It is the simple phenomenon of cloud, lightning and downpore of refreshing and life-giving rain which is turned into the heavenly prototype of this delightful drink.
तथा **जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरिएंटल सोसाएटी**, भाग १६, पृ० १ त० आ०। मैक्डानल (**वै० मा०**, पृ० ११२) ने भी इससे सहमति व्यक्त की है।

आर्यों द्वारा सोम-प्राप्ति या सोम-आनयन की वास्तविक प्रक्रिया की धार्मिक प्रयोजन हेतु की गई काव्यात्मक अतिरञ्जना है। कथोपकथन की शैली में निबद्ध इन सूक्तों की ऋचाएँ प्रारम्भिक-वैदिकयुगीन सोम-याग में इन्द्र तथा सोम आदि की भूमिका अभिनीत करने वाले पुरोहितों द्वारा बोली जाती थीं और एतद्द्वारा प्रस्तुत एक कर्मकाण्डीय नाटक (Cult Drama) के माध्यम से वर्तमान सोम-आनयन एवं सोम-सवन का आदिकाल में मनु द्वारा प्रेरित सोम-अपहरण एवं सर्वप्रथम सोम-सवन से कथात्मक यातविक सम्बन्ध जोड़ा जाता था[1]।

सोम एक श्रेष्ठ वनस्पति है (९।१२।७)। उसे ओषधियों का स्वामी तथा राजा कहा गया है (सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः ९।११४।२)। सोम राजा ने ही सम्पूर्ण ओषधियों को उत्पन्न किया (त्वमिमा ओषधीः सोम अजनयः, १।९१।२२)। **श० ब्रा०** १२।१।१।**२** में कहा गया है कि सब ओषधियाँ सोम से सम्बन्धित हैं (सौम्या ओषधयः)। ओषधियों के ही नहीं अपितु ब्राह्मणों के भी वे राजा हैं (सोमो अस्माकं ब्राह्मणानां राजा, **वा० सं०** ९।४०)। 'राजा' विशेषण उनके साथ प्रायः प्रयुक्त हुआ है और **ऋ० वे०** में उन्हें देव तथा मनुष्य सभी का राजा कहा है (पवित्रेभिः पवमानो नृचक्षा राजा देवानाम् उत मर्त्यानाम्, ९।२७।२४)।

अब हम सोम के सर्वाधिक जटिल पक्ष पर आते हैं, और वह है सोम का चन्द्रमा से तादात्म्य। यह सर्वविदित है कि सोम तथा इन्दु आदि शब्द परवर्ती संस्कृत साहित्य में चन्द्रमा के वाची हैं किन्तु इस मादक एवं आह्लाद-कारी यज्ञिय पेय का आकाश में विवरण करने वाले चन्द्र-मण्डल से किस प्रकार तादात्म्य हुआ, यह आज भी कल्पना का विषय बना हुआ है। मैक्डॉनल का मत है कि सोम को ऋग्वेद के कई मन्त्रों में भास्वर तथा प्रकाशमान कहा गया है। वह 'बृहत् ज्योति' है जो अन्धकार के समूह को नष्ट कर देती है—

(१) **अवा कल्पेषु नः पुमस्तमांसि सोम योध्या। ऋ० ९।९।७**

(२) **पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्। कृष्णा तमांसि जंघनत्॥**
ऋ० ९।६६।२४

---

१. द्रष्टव्य Ulrich Schneider, *Der Somaraub des Manu : Mythus und Ritual*, Wiesbaden 1971.

ऋ० ९।४१।५ में कहा गया है कि सोम अपनी किरणों से उषा और सूर्य की भाँति पृथ्वी एवं आकाश को आपूरित कर देता है (आ पवस्व विचर्षण आ मही रोदसी पृण । उषा सूर्यो न रश्मिभिः) । इसके अतिरिक्त सोम को पानी में फुलाने के लिये ऋ० १।९१।१६ आदि में आ+प्या धातु प्रयुक्त हुई है, चन्द्रमा की कलाओं की वृद्धि को भी उसका 'आप्यायन' कहा जाता है। साथ ही सोम के लिये 'इन्दु' शब्द प्रयुक्त हुआ है (इन्द्रायेन्दो परि स्रव, ऋ० ९।११२।१ तथा ६।४४।२५) जो प्रकाशमान जल-बिन्दु का वाची है। जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब भास्वर जल-बिन्दु से समान प्रतीत होता है। एक ऋचा में पात्र में अवस्थित सोम की चन्द्रमा से इसी प्रकार तुलना की गई है—

यो अप्सु चन्द्रमा इव सोमश्चमूषु ददृशे । पिबेदस्य त्वमीशिषे ।

ऋ० ८।८२।८

उक्त कारणों से चन्द्रमा को 'अंतरिक्षस्थ जलों के बीच में विचरण करने वाला तेजस्वी (जल) बिन्दु' मानकर उसका तादात्म्य सोम से कर देना स्वाभाविक है।

यह भी हो सकता है कि सोम एवं चन्द्रमा की उभयनिष्ठ विशेषता 'ओषधिपतित्व' ने दोनों का तादात्म्य कर दिया हो। ओषधियों में श्रेष्ठ होने के कारण सोम को 'वीरुधां पतिः' तथा ओषधियों का राजा कहा गया है। साथ ही वैदिक काल में यह भी धारणा विद्यमान थी कि सूर्य अपने प्रखर तेज से ओषधियों के रस को सुखा डालता है किन्तु चन्द्रमा अपनी शीतल एवं मधुमती किरणों के द्वारा उन्हें फिर पुष्ट करके उनमें रस-संचार करता है।

उपर्युक्त मतों में सबसे बड़ी कमी यह है कि इन्हीं आधारों को विपरीत दृष्टि से सोचने पर इनसे विरुद्ध निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। सोम एवं चन्द्रमा के तादात्म्य के संकेत ऋग्वेद में ही बहुलता से प्राप्य हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ८५वाँ सूक्त सूर्य की पुत्री **सूर्या** (उषा) के **सोम** के साथ हुए विवाह का वर्णन करता है। यह सोम निश्चित रूप से चन्द्रमा ही है, लता का रस नहीं। प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि सोम आकाश में स्थित है (दिवि सोमो अधि श्रितः, १०।८५।१) और द्वितीय में उसे नक्षत्रों की गोद में रहने वाला कहा गया है—

अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ।

तृतीय ऋचा में कहा गया है कि लोग ओषधि को पीस कर उसका पान करते हैं और यह समझते हैं कि हमने सोम का पान कर लिया। किन्तु जो वास्तविक सोम है उसका कोई भी पान नहीं कर सकता और इस रहस्य को केवल ज्ञानी ही जानते हैं—

सोमं मन्येत पपिवान् यत् संपिंषन्ति ओषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुः न तस्याश्नाति कश्चन ॥

इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि सोम और चन्द्रमा का तादात्म्य ऋग्वेद के समय तक एक रहस्य ही था किन्तु यह निष्पन्न हो चुका था और ऐसी दशा में सोम को जो 'भास्वर' तथा 'अन्धकार का विनाशक' आदि कहा गया है, वह उचित ही है। साथ ही आप्यायन क्रिया से सोम-रस का सम्बन्ध, उसकी 'इन्दु' संज्ञा तथा चन्द्रमा का 'ओषधिपतित्व' आदि सभी स्वाभाविक है। इस प्रकार यह भी एक तर्क हो सकता है कि ऋग्वेद में पहले ही से सम्पन्न चन्द्र-सोम के तादात्म्य के कारण ही चन्द्रमा की विशेषताएँ सोमरस में संक्रान्त कर दी गई हैं और तब सोम के भास्वरत्व आदि गुणों को चन्द्रमा के साथ हुए तादात्म्य में मूल कारण मानने की आवश्यता नहीं रह जाती।

यहाँ विल्के आदि के उन निःसार मतों का उल्लेख अनावश्यक है जिसके अनुसार सोम और चन्द्रमा के तादात्म्य का कारण चन्द्रमा की सोम से भरे हुए चषक की भाँति आकृति है[1]।

चन्द्रमा और सोम की परवर्ती एकरूपता तथा ऋग्वेद में दोनों के उपर्युक्त तादात्म्य पर दृष्टि रखते हुए **हिलेब्रांट्** का मत है कि ऋग्वेद में सर्वत्र सोम शब्द से चन्द्रमा ही वाच्य है। कहीं भी यह शब्द पार्थिव वनस्पति या रस को सूचित नहीं करता। संपूर्ण नवम मण्डल उनके अनुसार चन्द्रमा की ही स्तुति है। उनका यह भी कथन है कि वैदिक युग में चन्द्रमा को जगत् का निर्माता एवं पालक माना जाता था अतः वह वैदिक कर्मकाण्ड का केन्द्र था। उनके अनुसार वरुण, अपां-नपात्, बृहस्पति, यम तथा सोम, ये पाँच देवता चन्द्रमा से ही सम्बन्धित हैं[2]।

---

१. विल्के : **डी रिलीगियोन डेर इंडोगेर्मानेन्**, पृ० १५४-५५।

२. **वेदिशे मिथोलोगी** : प्रथम भाग, पृ० २६७-४५०।

हिलेब्रांट् का मत विद्वानों को विशेष प्रभावित नहीं कर सका[1]। क्योंकि ऋग्वेद के अगणित मन्त्रों में सोमपादप, उससे निकाले जाने वाले सोमरस एवं उसको 'ग्रहों' (पात्रों) में भरकर विविध देवों को अर्पित किये जाने का स्पष्ट और निर्भ्रान्त वर्णन है।

प्रतीत होता है कि सोम का **ऋग्वेद** में भौतिक ही नहीं, आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक रूप भी है। कहीं उसे भौतिक रस के रूप में चित्रित किया गया है, कहीं अन्तरिक्ष से आने वाली वृष्टि से उसका तादात्म्य किया गया है, कहीं वह देवता के रूप में शत्रुओं से लड़ता है और कहीं एक ऋषि के रूप में ज्ञानी तथा वाचस्पति है (९।२६।४)। कहीं उसे हृदय के पाप एवं कालुष्य को दूर करते हुए वर्णित किया गया है तो कहीं उसे देवताओं द्वारा पिया जाने वाला अमृत कहा गया है, और कहीं उसका चन्द्रमा से तादात्म्य किया गया है। वस्तुतः सोम का वैदिक स्वरूप इतना रहस्यमय एवं गूढ़ है कि वैदिक ऋषियों के हृदय में उसकी सही धारणा का पता लगाना अत्यन्त कठिन है।

शुक्ल यजुर्वेद एवं **अथर्ववेद** में सोम-विषयक कोई नवीन धारणा प्राप्त नहीं होती। **वा० सं०** २।२९ में सोम को 'पितृमत्' या पितरों से युक्त कहा गया है (सोमाय पितृमते स्वाहा)। वह पितरों का अधिपति है और उनको स्वर्ग ले जाकर देवों से मिलाता है (तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नम् अभजन्त धीराः, १९।५२, त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः १९।५३)। ऋग्वेद की भाँति अनेक स्थानों पर यहाँ भी उसे ओषधियों का स्वामी बताया गया है (या ओषधीः सोमराज्ञीः विष्ठिता पृथिवीमनु, १२।९३; वाजस्येमं प्रसवः सुषुवे अग्रे सोमं राजानमोषधीषु, ९।२३)। कुछ स्थानों पर उसके लिये प्रयुक्त विशेषणों से उनका चन्द्रमा से भी सम्बन्ध प्रतीत होता है, उदा० ४।२६ में उसे **शुक्र**, **चन्द्र** तथा **अमृत** कहा गया है। एक स्थान पर उसकी पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं आकाश में स्थित तीन ज्योतियों का उल्लेख किया गया है—

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत् पृथिव्या यदुरावन्तरिक्षे। ८।३३

---

1. **मैक्डानल, वैं० मा०** पृष्ठ ११३; हॉपकिन्स : **रिलीजन्स ऑफ इंडिया**, पृ० ११७; ओल्डेनबर्ग : **डी रिलीगियोन डेस वेद** : ५९९-६१२; कीथ : **रिलीजन०**, प्रथम भाग, पृ० १७१।

जो संभवतः उसके पार्थिव रस, अमृतमयी वृष्टि तथा चन्द्रमा से सम्बन्धित तीन रूपों का परिचायक है। **ऋग्वेद** ९।१०३।२ में भी सम्भवतः इसी आधार पर सोम को 'त्रिषधस्थ' कहा गया है (त्री षधस्था पुनानः कृणुते हरिः)।

यद्यपि **अथर्ववेद** में एक स्थान पर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सोम को चन्द्रमा बताया गया है—

सोमो मा देवो मुंचतु यमाहुश्चन्द्रमा इति। (११।६।७)

किन्तु सोम का यह पक्ष **अ० वे०** में विशेष महत्त्व नहीं रखता क्योंकि यहाँ **चन्द्र या चन्द्रमस्** नाम से इस देवता का पृथक् एवं स्वतन्त्र वर्णन हुआ है। इसे नक्षत्रों का आधिपति बताया गया है (चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मामवतु, ५।२४।१०, यानि नक्षत्राणि ... प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति, १९।७।८)। सोम का उल्लेख अनेक आभिचारिक मन्त्रों में हुआ है और सोमलता को अनेक रोग दूर करने में समर्थ बताया गया है।

श० ब्रा० १।६।४।५ तथा २।४।२।७ में सोम का चन्द्रमा से तादात्म्य करते हुए उसे देवों का अन्न या भोजन बताया गया है—

एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः।

चन्द्रमा एवं सोम दोनों की ही देवों के अन्न के रूप में पर्याप्त संगति बैठ जाती है। **ऋग्वेद** के समय में ही यह विश्वास था कि चन्द्रमा देवों का भक्ष्य है और उसकी कलाओं के घटने का कारण यह है कि देवता उस (में निहित सोम-मधु या अमृत) का क्रमशः भक्षण करते रहते हैं[1]। **सूर्या-सूक्त** (१०।८५) की निम्न ऋचाएँ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। पंचम ऋचा में सोम से कहा गया है कि 'जितना देवगण तुम्हारा पान करते हैं, तुम उतना ही बढ़ते हो'—

यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।

१९वीं ऋचा में कवि कहता है कि चन्द्रमा देवों को उनका भाग (भोजन) प्रदान करता है। क्षीण हो जाने पर भी यह प्रतिदिन बढ़कर नवीन हो जाता है। यह दिन का प्रतीक है और उषा के पूर्व विचरण करता है—

नवो नवो भवति जायमानो अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो विदधाति आयन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥

---

१. तु० की०, **पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः।**
रघुवंश ५।१६

देवों के सोम एवं चन्द्रमा रूपी इन दो पार्थिव एवं दिव्य 'अन्नों' को दृष्टि में रखकर श० ब्रा० १०।११।६।३ में इन्द्र से कहा गया है कि हे इन्द्र तुम्हें दिव्य एवं पार्थिव दोनों प्रकार के सोम प्रसन्न करें—

ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र ममत्तु यः सूयते पार्थिवेषु ।

कौषीतकि ब्राह्मण ७।१० में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'कृष्ण पक्ष में देवगण चन्द्रमा के अमृत का पान करते हैं। चन्द्रमा ही देवों का सोम है (तु० कौ०, **एतद् वै देवसोमं यच्चन्द्रमाः**, ऐ० ब्रा० ७।२।१०)। अतः कृष्ण पक्ष की रात्रि में सोम-सवन करके यजमान देवों के साथ सोम-पान करता है।

परवर्ती साहित्य में सोम की धारणा के पूर्णतः लुप्त हो जाने के कारण दिव्य-सोम को सदा 'अमृत' नाम से अभिहित किया गया है। शुक्ल-पक्ष में सूर्य की **सुषुम्ना** नाम रश्मि से आपूर्यमाण चन्द्रमा के अमृत का देवगण कृष्ण-पक्ष में १४ दिनों तक पान करते हैं। **विष्णु-पुराण** के अनुसार चतुर्दशी के पश्चात् बची हुई दो कलाओं से पितरगण तृप्त होते हैं—

सूर्यरश्मिः सुषुम्ना यः तर्पितस्तेन चन्द्रमाः ।
कृष्णपक्षेऽमरैः शश्वत् पीयते स सुधामयः ॥
पीतं तं द्विकलं सोम कृष्णपक्षक्षये द्विज ।
पिबन्ति पितरस्तेषां भास्करात्तर्पणम् यथा ।

विष्णु० २।११।२२-२३

संभृतं चार्धमासेन तत्सोमस्थं सुधामृतम् ।
पिबन्ति देव मैत्रेय, सुधाहारा यतोऽमराः ॥ २।१२।६

श्रीमद्भागवतकार का मत है कि चन्द्रमा आपूर्यमाण कलाओं से (शुक्ल-पक्ष में) देवों को तृप्त करता है और क्षीयमाण कलाओं से (कृष्ण पक्ष में) पितरों को—

अथ चापूर्यमाणाभिः कलाभिः अमराणां क्षीयमाणभिः कलाभिः पितृणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः सर्वजीवनिवह-प्राणो.....। भागवत० ५।२२।९

सोम और अमृत की एकरूपता के संकेत ब्राह्मणग्रन्थों में बाहुल्य से प्राप्त हैं। श० ब्रा० ७।५।२।१९ में कहा गया है कि सोम अमर (अजस्र) है,

उसका विनाश नहीं होता; और ९।४।४।८ में उसे स्पष्ट शब्दों में अमृत बताया गया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में सोम और चन्द्रमा के तादात्म्य की एक अन्य प्रकार से भी व्याख्या करने की चेष्टा की गई है। सोम (चन्द्रमा) वनस्पतियों का अधिपति है। श० ब्रा० का कथन है कि जिस दिन चन्द्रमा पूर्व या पश्चिम की ओर नहीं दिखाई पड़ता उस दिन पृथ्वी पर आकर जल एवं वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाता है। इनके साथ (अमा) वास करने से उस तिथि को 'अमावास्या' कहते हैं—

...स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरस्तात् न पश्चात् ददृशे तदिमं लोकमागच्छति। स इहैव आपः ओषधीश्च प्रविशति। स वै देवानां वसु अन्नं हि एषाम्....तस्मादमावास्या नाम। श० ब्रा० १।६।४।५

कौ० ब्रा० ७।१० में भी कहा गया है कि 'आकाश में वर्तमान चन्द्रमा ही वास्तविक सोम है। जब सोमलता का क्रय होता है तो दिव्य-सोम उसमें प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार यजमान सोम के रस द्वारा चन्द्रमा में वर्तमान अमृत को ही मानों देवों को अर्पित करता है।'

विष्णु पुराण में भी अमावास्या के दिन चन्द्रमा द्वारा वनस्पतियों में प्रविष्ट होने की धारणा प्राप्त होती है। इस दिन लताओं का छेदन वर्जित किया गया है—

अप्सु तस्मिन् अहोरात्रे पूर्वम् विशति चन्द्रमाः।
ततो वीरुत्सु वसति प्रयात्यर्कं ततः क्रमात्॥ २।१२।९

किन्तु, जैसा कि ब्लूमफील्ड ने कहा है, जब आकाश से श्येन द्वारा पृथ्वी पर सोम के आनयन का वर्णन किया जाता है तो इसका तात्पर्य केवल वर्षा से होता है। यही कारण है कि सोम की अनेक गाथाएँ वृत्रहनन एवं तदनन्तर होने वाली जलवृष्टि से सम्बन्धित हैं। **वृत्र** मेघों से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। ब्राह्मणग्रंथों में अनेक स्थानों पर कहा गया है कि वृत्र ने **अग्नि** एवं **सोम** को आत्मसात् कर लिया था। अग्नि **तडित्** का एवं सोम **जल** का प्रतीक है। दोनों का सम्मिलित रूप वृत्र है (कौ० ब्रा० ३।६ आदि)। **तै० सं०** २।४।१२ तथा २।५।१२ की एक कथा के अनुसार जब इन्द्र ने बलात् त्वष्टा के सोम का पान कर लिया तो त्वष्टा ने क्रुद्ध होकर इन्द्र के पान से उच्छिष्ट

सोम को अग्नि में डालकर उससे वृत्र नामक दैत्य उत्पन्न किया। अग्नि में पड़े सोम से उत्पन्न होने के कारण वह अग्नि और सोम दोनों से युक्त (अग्नीषोमात्मक) था—

"...स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्। तस्य यदत्यशिष्यत तत् त्वष्टा आहवनीयमुप प्रावर्तत् 'स्वाहा इन्द्रशत्रुर्विवर्धस्व' इति"' स संभवन् अग्नीषोमावभि समभवत्।

श० ब्रा० १।६।३।९ में भी वृत्र के विषय में कहा गया है—

स अग्निसोमावेवाभिसमा बभूव।

कौ० ब्रा० ३।६ में कहा गया है कि वृत्र ने अग्नि एवं सोम को आत्मसात् कर रखा था। उनके विनाश के भय से इन्द्र वृत्र को नहीं मारता था। उसने दोनों को याज्ञिक कृत्यों से प्रसन्न किया जिससे वे दोनों उसके शरीर से बाहर आ गये[1]। श० ब्रा० ३।४।३।१३ में वृत्र का सोम से अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में तादात्म्य किया गया हैं और शिलाओं तथा पर्वतों को उसका शरीर बताया गया है—

दिवि हि सोमः। वृत्रो वै सोम आसीत्। तस्यैतत् शरीरं यद् गिरयः।

जैसा कि इन्द्र के प्रसंग में कहा जा चुका है, ऋग्वेद में **गिरि** तथा **अश्मन्** शब्दों का प्रयोग मेघों को द्योतित करने के लिये भी होता है। वृत्र का शरीर

---

१. श० ब्रा० १।६।३।१६ के निम्न वाक्य भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। इसमें कहा गया है कि वृत्र के सौम्य रूप को इन्द्र ने चन्द्रमा में स्थापित कर दिया और रौद्र रूप को प्राणियों के उदर में (जठराग्नि के रूप में)। प्राचीन वैदिक धारणा के अनुसार चन्द्रमा 'जलमय' है अतः जलरूप सोम से उसका तादात्म्य स्वाभाविक है। सब कुछ भक्षण कर लेने के कारण उदर (की अग्नि) ही वृत्र है और निरन्तर बढ़ने के कारण (वृध्। **वृत्रः वर्धतेर्वा,** निरुक्त) चन्द्रमा को भी वृत्र (वृध्र=वृत्र) कहा जाता है—
'तं द्वेधा अनु अभिनत्। तस्य यत् सौम्यं तं चन्द्रमसं चकार—अथ यदसुर्यम् तेनेमाः प्रजा उदरेण अविध्यत्॥

पर्वत (मेघ) है और उसके शरीर में विद्यमान सोम-तत्त्व जल का सूचक है। इसीलिये संभवतः ऋग्वेद में अनेकशः कहा गया है कि सोम पर्वत पर उत्पन्न होता है (तु० की०, **वरुणः.....अदधात् सोममद्रौ**, ५।८२।२)। **श० ब्रा०** के उपर्युक्त उद्धरण की सायण ने जो व्याख्या की है उससे यह रूपक और भी स्पष्ट हो जाता है—

> **त्वष्ट्रा इन्द्रघातकोत्पत्यर्थम् हुतस्य इन्द्रपीतसोमशेषस्य वृत्रत्वेनोपपत्तेः सोमस्य वृत्रत्वम्। इन्द्रेण हतस्य तस्य वृत्रस्य शरीरं गिरयो अश्मानश्च अभवन्। सोमाख्यं वस्तु एव सोमशरीरभूतेषु गिर्यादिषु वर्तते।**

उपर्युक्त विवरण से मध्यम-सोम का मूल रहस्य स्पष्ट हो जाता है। किन्तु ऋग्वेद में उल्लिखित श्येन के द्वारा आकाश से सोम को लाने की गाथा का ब्राह्मणग्रन्थों में एक अन्य स्वतन्त्र कर्मकाण्डीय विकास भी हुआ है। ऋग्वेद की कथा में श्येन का क्या अर्थ था, यह स्पष्ट नहीं है। वैदिक याज्ञिकों का विश्वास था कि वास्तविक सोम आकाश में ही है, किन्तु विशिष्ट वैदिक मन्त्रों से उसका संनिवेश पार्थिव-सोम में भी किया जा सकता है। वैदिक मन्त्र या छन्द ही एक प्रकार के पक्षी हैं जो आकाश से सोम को पृथ्वी पर लाते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में सर्वत्र यही अवधारणा प्राप्त होती है। **गायत्री** सर्वप्रमुख छन्द है। वही पक्षिराज श्येन है जो अन्ततः सोम को लाने में सफल होता है। छन्दों को ब्राह्मण-ग्रन्थों में **वाक्** का पुत्र बताया गया है, जो सर्वथा उचित है। इसी वाक् का मानवीकरण सुपर्णा या **सुपर्णी** के रूप में किया गया है जो इन छन्दों की माता कही गई है। **सुपर्णा** शब्द श्येन या **गरुत्मान्**-वाची **सुपर्ण** शब्द से ही स्त्रीलिंगार्थक प्रत्यय जोड़ कर सरलतापूर्वक बना लिया गया है। सोम को पृथ्वी पर लाने का एक कारण भी ब्राह्मण ग्रंथों में कथा को पूर्ण करने के लिये कल्पित कर लिया गया है और वह है **कद्रू** तथा **सुपर्णा** का विवाद। कद्रू पृथ्वी की प्रतीक है। वह सुपर्णा के पुत्रों से अपने लिये आकाश से सोम मँगाती है। ऋग्वेद की गाथा के अनुसार भी सोम आकाश से श्येन द्वारा पृथ्वी पर (या पृथ्वी के लिये) लाया गया था। **तै० सं०** ६।१।६ तथा **श० ब्रा०** ३।६।२।१ में स्पष्ट शब्दों में कद्रू एवं सुपर्णा को क्रमशः पृथ्वी तथा वाक् घोषित किया गया है—

> **ते एते माये असृजन्त—सुपर्णीं च कद्रूं च। वागेव सुपर्णी इयं कद्रूः।**

पुराणों में भी अनेक स्थानों पर कश्यप की पत्नी सुपर्णा (या **विनता**) से छन्दों तथा पक्षियों की साथ-साथ उत्पत्ति वर्णित की गई है (**वायु०** ६९।६५)।

श० ब्रा० में वर्णित कद्रू-सुपर्णी-आख्यान संक्षेप में इस प्रकार है—'सोम आकाश में था। देवों ने सोचा कि यदि यह पृथ्वी पर आ जाय तो इससे हम यज्ञ करें। उन्होंने दो मायारूपिणी (अवास्तविक) स्त्रियों को उत्पन्न किया, जिनके नाम कद्रू एवं सुपर्णी थे और जो पृथ्वी एवं वाक् की प्रतीक थीं। एक बार दोनों में विवाद छिड़ गया कि कौन अधिक दूर तक देख सकती है। उन्होंने अपने-अपने शरीर की बाजी लगाई। सुपर्णी ने कहा कि इस दृश्यमान जल के पार एक खंभे के पास एक श्वेत अश्व खड़ा है, मैं उसे देख रही हूँ, क्या तुम्हें वह दिखाई पड़ रहा है? कद्रू ने कहा, मुझे उस अश्व की पूँछ भी दिखाई पड़ रही है। वह खंभे से लगी हुई है और वायु से हिल रही है। सुपर्णी ने कहा, आओ उड़ कर चलें और देखें किसकी बात कितनी सत्य है। कद्रू ने कहा तुम्हीं देखकर आओ और बताना कि कौन जीता। सुपर्णी ने जाकर देखा तो वैसा ही पाया। कद्रू जीत गई। उसने सुपर्णी से कहा कि यदि तुम देवों के लिये आकाश से सोम मँगवा दो तो मैं तुम्हें स्वतन्त्र कर दूँगी। सुपर्णी ने छन्दों को उत्पन्न किया। गायत्री सोम लेने पहुँची। सोम स्वर्ण से बने दो तीक्ष्ण आयुधों क्षुर (छुरा) और पवि (वज्र) के बीच में सुरक्षित था जो क्रमशः उसकी रक्षा करते थे। ये आयुध वस्तुतः थे **दीक्षा** एवं तप। गायत्री ने उन्हें भग्न करके देवों को प्रदान कर दिया और सोम ले आई। तब सुपर्णी कद्रू के दास्य-भाव से मुक्त हो गई'—

> **दिवि वै सोम आसीत्। तं देवा अकामयन्त। आ नः सोमो गच्छेत्। तेनागतेन यजेमहि। ते एते माये असृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च। वागेव सुपर्णी इयं कद्रूः। ताभ्यां समयं चक्रुः। ते ह ऋतीयमाने ऊचतुः यतरा नौ दवीयः परापश्याद् आत्मानं नौ सा जयाद्। सा ह सुपर्ण्युवाच अस्य सलिलस्य पारे अश्वः श्वेतः स्थाणौ सेवते तमहं पश्यामीति। तमेव त्वं पश्यसीति। तं हीति। अथ हं कद्रूरुवाच तस्य वालो न्यषंजि तममुं वातो धूनोति तमहं पश्यामीति''' सा ह सुपर्ण्युवाच एहीनं पताव वेदितुम्। सा ह कद्रूरुवाच त्वमेव पत त्वमेव वै न आख्यास्यसि यतरा नौ जयतीति। सा ह सुपर्णी पपात।**

तद् ह तथैव आस यथा कद्रूरुवाच । तामागतामभ्युवाद त्वमजैषी३-रहा३ मिति ।

सा ह कद्रूरुवाच आत्मानं वै त्वाजैषम् । दिव्यसौ सोमः । तं देवेभ्यः आहर । तेनात्मानं निष्क्रीणष्वेति । सा छन्दांसि ससृजे । सा गायत्री दिवः सोममाहरत् । हिरण्यमय्योर्ह कुश्योरन्तरवहित आस । ते ह स्म क्षुरपवी निमेषं निमेषमभिसन्धत्तः । दीक्षातपसौ हैव ते आसतुः । तयोरन्यतरां कुशीमाचिच्छेद''' अथ द्वितीयां''''तां देवेभ्यः प्रददौ''''तेनैतेन सुपर्णी देवेभ्य आत्मानं निरक्रीणीत ।

शा० ब्रा० ३।६।२।१-१५

यह **'सौपर्णीकाद्रवम्'** या **'सौपर्ण'** आख्यान **तै० सं०** ६।१।५, **मै० सं०** ३।७।३, **काठक सं०** २३।१०, **ऐ० ब्रा०** ३।३।१, **ताण्ड्य म० ब्रा०** ७।४।१ तथा **जैमिनीय ब्रा०** १।२८७ आदि में भी यत्किंचित् अन्तर के साथ प्राप्त होता होता है किन्तु स्थानाभाव से सबका विवरण यहाँ देना संभव नहीं है। **तै० सं०** में गायत्री के पक्षी के रूप में सोम के लिये उड़ने से पूर्व **जगती** एवं **त्रिष्टुभ्** छन्दों को भी उसके लिये प्रयत्न करते हुए वर्णित किया गया है। चतुर्दश अक्षरों वाली **जगती** सोम के लिये उड़ी किन्तु वह केवल पशु एवं दीक्षा को ला सकी। तथापि उसके दो अक्षर नष्ट हो गये और वह केवल १२ अक्षरों की रह गई। **त्रिष्टुभ्** भी १३ अक्षरों के साथ उड़ा। पर वह भी दक्षिणा एवं तप को ही ला सका, सोम को नहीं। उसके भी दो अक्षर नष्ट हो गये। गायत्री 'अजस्र ज्योति' (अजया ज्योतिषा) के साथ केवल ४ अक्षरों सहित उड़ी। वह सोम को भी ले आई और जगती आदि के शेष चार अक्षरों को भी। इस प्रकार उसमें ८ अक्षर हो गए। ऐ० ब्रा० में कहा गया है कि सोम की रक्षा अनेक 'सोमपालक' कर रहे थे किन्तु गायत्री ने उन सबको भयभीत करके मुख तथा चरणों में सोम को दबा लिया (**सा पतित्वा सोमपालान् भीषयित्वा पद्भ्यां च मुखेन च सोमं राजानं समगृभ्णात्**)।

श० ब्रा० की कथा में समुद्र के पार कद्रू एवं सुपर्णी द्वारा देखे जाने वाले जिस अश्व एवं यूपादि का वर्णन है उसकी व्याख्या **श० ब्रा०** में ही अगले वाक्यों में कर दी गई है। यज्ञ की वेदी ही जल है क्योंकि जिस प्रकार समुद्र का जल अनुल्लंघनीय होता है उसी प्रकार वेदी भी लाँघी नहीं जाती (सलिलं सागरादिसंबद्धं यथा अनतिलंध्यं भवति एवं वेदिरपीति सलिलत्वेन निरूप्यते,

सायण)। अग्नि ही श्वेत अश्व है। वह भास्वर होता है, अतः श्वेत है और सब कुछ भक्षण कर जाने से अश्व (अश्-भोजने) कहलाता है। यज्ञ-यूप ही स्थाणु है और उसमें बँधी रशना (रस्सी) प्रतीकात्मक रूप से पूँछ के बालों से उपमित की गई है—

वेदिर्वै सलिलम्। अग्निर्वा अश्वः श्वेतः यूपः स्थाणुः। अथ यत् कद्रूरुवाच तस्य वालो न्वषंजि......रशना हैव सा।

श० ब्रा० ३।६।३।५

ब्राह्मणों की यह कथा **महाभारत** में इतने विस्तृत एवं चित्ताकर्षक रूप में प्राप्त होती है कि इसमें किसी भी प्रकार के कर्मकाण्डीय तत्त्व नहीं ढूंढ़े जा सकते। यह आख्यान महाभारत के सर्वाधिक रोचक आख्यानों में से एक है और **आदिपर्व** में २० से लेकर ३४ तक कुल १५ अध्यायों तथा ३३६ श्लोकों में इस कथा का वर्णन किया गया है। यह कथा महाभारत की अन्य प्रमुख कथाओं में इतनी चतुरता से गूँथ दी गई है कि उस प्रसंग से इसका पृथक्-करण कठिन है। जनमेजय के नागयज्ञ में ही व्यास के शिष्य वैशम्पायन महाभारत की कथा सुनाते हैं और इस नागयज्ञ की भूमिका के रूप में यह कद्रू-सौपर्ण आख्यान प्रस्तुत किया गया है। **कश्यप** ऋषि की तेरह पत्नियों में **कद्रू** एवं **विनता** (आकाश) क्रमशः नागों तथा पक्षियों की माताएँ हैं। एक बार अमृत-मंथन से निकले अश्व **उच्चैःश्रवा** को देखकर विनता कद्रू से कहती है कि इसका वर्ण सम्पूर्णतया श्वेत है। कद्रू इस बात को नहीं मानती। उसके अनुसार अश्व की पुच्छ अवश्य कृष्णवर्ण की है। दोनों आपस में एक दूसरे की दासी बनने की शर्त लगाती हैं—

कृष्णवालमहं मन्ये हयमेनं शुचिस्मिते।
एहि सार्धं मया दीव्य दासीभावेन भामिनि॥ आदि० २०।४

जब कद्रू को पता चलता है कि अश्व की पुच्छ भी श्वेत है तो वह हार जाने के भय से अपने एक सहस्र पुत्रों (नागों) को जाकर उच्चैःश्रवा की पूँछ पर लिपट जाने का आदेश देती है जिससे वह काली प्रतीत हो। जो पुत्र उसकी आज्ञा नहीं मानते उन्हें वह यज्ञ में भस्म हो जाने का शाप देती है (२०।७,८)। दूसरे दिन दोनों समुद्र लाँघकर अश्व को देखने पहुँचती हैं। कृष्णवर्णा पुच्छ देखकर विनता हार जाती है और कद्रू उसे अपनी दासी बना लेती है (२३।१-४)। इसी बीच विनता के पुत्र, महापराक्रमी एवं मन

के समान वेगवान् **गरुड** का जन्म होता है। गरुड का वर्णन महाभारत में इन शब्दों में किया गया है—

> **महासत्त्वबलोपेतः सर्वा विद्योतयन् दिशः।**
> **कामरूपः कामगमः कामवीर्यो विहंगमः॥**
>
> **अग्निराशिरिवोद्भासन् समिद्धोऽतिभयंकरः।**
> **विद्युद्विस्पष्टपिंगाक्षो युगान्ताग्निसमप्रभः॥** २३।६,७

और 'गुरुम् आदाय उड्डीनः' व्युत्पत्ति से उनके नाम की व्याख्या की गई है (३०।७)। माता को दासीभाव से मुक्त कराने के लिये सर्पों की आज्ञा से (२७।१६) वे अमृत लाने का विचार करते हैं (२८।१)। समुद्र मंथन से उद्भूत अमृत स्वर्ग में सुरक्षित था। **गरुड** के स्वर्ग में पहुँचने पर इन्द्र अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और अनेक रक्षकों को सावधानी से उसकी रक्षा करने का आदेश देते हैं (३०।४३-५०)। महाभारत के इन सोम-रक्षकों में **त्वष्टा** (भौमन) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। **तै० सं०** तथा **श० ब्रा०** आदि में सोम-रस से उनका विशेष सम्बन्ध वर्णित किया गया है (**भौमनः सुमहावीर्यः सोमस्य परिरक्षिता**, ३२।३)। **गरुड** एवं अमृरक्षकों का भयंकर युद्ध होता है और उनके द्वारा आहत देवगण इधर-उधर भाग जाते हैं।

ऋग्वेद में लौहमय पुर को भग्न करके श्येन द्वारा सोमानयन का उल्लेख है और **श० ब्रा०** में सोम के चारों ओर तीक्ष्णधारों से युक्त दो आयुधों के घूमने का वर्णन है। इसी प्रकार महाभारत में भी अमृत अत्यन्त सुरक्षित है। उसकी दो विषधर **सर्प** सदा रक्षा किया करते हैं। सर्पों के चारों ओर एक लौहनिर्मित, सहस्र अरों से युक्त, **चक्र** सदा घूमता रहता है और इस सबको फिर भयंकर अग्नि परिव्याप्त किये रहती है—

> **.....सर्वतोऽग्निमपश्यत।**
> **आवृण्वानं महाज्वालामर्चिभिः सर्वतोऽम्बरम्।**
> **दहन्तमिव तीक्ष्णांशुं चण्डवायुसमीरितम्॥** ३२।२३
>
> **सचक्रं क्षुरपर्यन्तमपश्यदमृतान्तिके।**
> **परिभ्रमन्तमनिशं तीक्ष्णधारमयस्मयम्॥** ३३।२
>
> **अधश्चक्रस्य चैवात्र दीप्तानलसमद्युती।**
> **विद्युज्जिह्वौ महावीर्यौ दीप्तास्यौ दीप्तलोचनौ।**

चक्षुर्विषौ महाघोरौ नित्यं क्रुद्धौ तरस्विनौ।
रक्षार्थमेवामृतस्य ददर्श भुजगोत्तमौ ।। ३३।५, ६

गरुड ने इन सबको विनष्ट किया और अन्त में अमृत पाने में सफल हुए (३३।१०)।

इस अमृत को महाभारत में अनेक स्थलों पर **सोम** की संज्ञा दी गई है जो इस आख्यान का संबन्ध सीधे वैदिक साहित्य से जोड़ता है (सोमहारिणाम् ३३।३; न कार्यं यदि सोमेन मम सोमः प्रदीयताम्, ३४।८; किंचित्कारण-मुद्दिश्य सोमोऽयं नीयते मया, ३४।९; आदि) क्योंकि लौकिक साहित्य में सामान्यतः सोम शब्द चन्द्रमा का वाची है, अमृत का नहीं।

कृष्ण-यजुर्वेद की की संहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों में इस आख्यान के अन्तिम भाग में कहा गया है कि गायत्री द्वारा लाये हुए सोम को, सोम का रक्षक गन्धर्व **विश्वावसु** चुरा ले गया—

तस्या आहरन्त्यै गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात्, श० ब्रा० ३।२।४।२

एनमदः आह्रियमाणं सामिगन्धर्वो विश्वावसुरमुष्णात्, मै० सं० ३।७।८।

तं सोममाह्रियमाणं गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात्, तै० सं० ६।१।६

महाभारत की कथा में **इन्द्र** ही विश्वावसु का कार्य करते हैं और नागों को अमृतपात्र देकर जब विनता दास्य-भाव से मुक्त हो जाती है तो गरुड़ की सलाह से इन्द्र उस अमृत को चुरा ले जाते हैं (**शक्रोऽप्यमृतमाक्षिप्य जगाम त्रिदिवं पुनः**, ३४।२०) क्योंकि गरुड़ और इन्द्र कोई यह नहीं चाहते कि विषधर सर्प अमृत पी कर अमर हो जाएं।

ब्राह्मणग्रंथों में कथा आगे बढ़ती है और देवगण 'स्त्रीकामुक' गन्धर्वो को 'वाक्' प्रदान करके उनसे सोम का विनिमय कर लेते हैं। बाद में वाक् पुनः देवताओं के पास लौट आती है (काठक सं० २४।१ तां० महा० ब्रा० ६।९।२२ ऐ० ब्रा० १।५।१ तथा श० ब्रा० ३।२।४।१ आदि)। पर महाभारत में इसका उल्लेख नहीं किया गया। हाँ, ब्रह्मपुराण के १०५ में अध्याय में वाक् द्वारा सोम के विनिमय की यह कथा विस्तार से वर्णित है।

ऋग्वेद में कृशानु नामक धनुर्धर द्वारा बाण चलाकर श्येन के एक पंख को काट डालने का जो उल्लेख है और जो ऐ० ब्रा० ३।३।१ (तस्या अनुविसृज्य

कृशानुः सोमपालः सत्यस्य पदो नखमचिच्छिदत्), **श० ब्रा०** ३।२।४।१० तथा **तै० सं०** ३।५।७ आदि में पुनः वर्णित है उसकी छाया महाभारत में भी है। यहाँ अमृत ले जाते हुए गरुड पर **इन्द्र** अपने **वज्र** से प्रहार करते हैं। यद्यपि महाबली गरुड को उससे कोई कष्ट नहीं होता फिर भी 'दधीचि का मान रखने के लिये' वे अपना एक छोटा सा पंख नीचे गिरा देते हैं—

ऋषेर्मानं करिष्यामि वज्रं यस्यास्थिसंभवम् ।
एतत् पत्रं त्यजाम्येकं यस्यान्तं नोपलप्स्यते ॥ ३३।२१

विष्णु के प्रसंग में कहा जा चुका है कि गरुड के स्वरूप के दो वैदिक आधार हैं, एक तो यज्ञिय कर्मकाण्ड में **अग्नि** की एक सुपर्ण पक्षी के रूप में अवधारणा और दूसरे छन्दों की पक्षी के रूप में कल्पना। इन्हीं से विकसित पौराणिक गरुड के स्वरूप के दो पक्ष हैं। एक से वे यज्ञ के प्रतीक विष्णु के वाहन (अग्नि) हैं और दूसरे से वे स्वर्ग से सोम लाते हैं (छन्द)। पुराणों में ऐसे अनेक उल्लेख हैं जिनमें गरुड का छन्दों से घनिष्ठ सम्बन्ध वर्णित किया गया है। **श्रीमद्भागवत** ६।८।२९ में गरुड को स्तोत्र, स्तोम एवं छन्दों से युक्त कहा गया है—

गरुडो भगवान् स्तोत्रस्तोमच्छन्दोमयः प्रभुः ।

४।७।१९ में कहा गया है कि बृहत् एवं रथन्तर साम ही गरुड के दो पंख हैं और उड़ते समय उनके पंखों से वेदमन्त्रों की ध्वनि होती है—

सुपर्णस्तेज उपानीतस्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना ।

और एक स्थान पर तो **'छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानः** कहकर उनके ब्राह्मण-कालीन स्वरूप को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है।

यह तो हुई सोम के अमृत रूप की कथा। अब हम सोम के उस पक्ष पर आते हैं जिसमें उसका चन्द्रमा से तादात्म्य किया गया है। कहा जा चुका है कि **ऐ० ब्रा०** ४।२।१ में चन्द्रमा को **'सोम राजा'** बताते हुए एक युवक के रूप में उसकी कल्पना की गई है जिसे प्रजापति (या सूर्य) ने अपनी **सूर्या** (या उषा) नामक कन्या प्रदान की (प्रजापतिः वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम्)। **तै० सं०** २।३।५, **मै० सं०** २।२।७ तथा **काठक सं०** ११।३ में सोम-विषयक एक कथा में कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी ३३ या २७ कन्याएँ सोम को दे दीं। **मै० सं०** में इन कन्याओं को नक्षत्र बताया गया है

(प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितॄरददात् नक्षत्राणि)। इन कन्याओं में सोम रोहिणी के पास ही अधिक रहते थे। अतः ईर्ष्या से अन्य कन्याएँ प्रजापति के पास चली गईं। सोम उन्हें लेने पहुँचा तो प्रजापति ने सबसे समान व्यवहार करने को कहा। सोम ने उन्हें यह वचन दिया। किन्तु पुनः सोम रोहिणी पर अधिक आसक्त रहने लगा, जिससे क्रुद्ध होकर प्रजापति ने राजयक्ष्मा की सृष्टि की। वह सोम के शरीर में प्रविष्ट हो गया, जिससे सोम क्षीण होने लगे। बाद में अमावास्या के दिन आदित्य को चरु प्रदान करके उन्होंने नवजीवन प्राप्त किया—

> **प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन्। ताः सोमाय राज्ञे अददात्। तासां रोहिणीमुपैत्। ताः ईर्ष्यन्ती पुनरगच्छन्। ता अन्वैत्। ताः अस्मै न पुनरददात्। सो अब्रवीत् ऋतम् अमीष्व यथा समावच्छ उपैष्यामि''''स ऋतमामीत् ता अस्मै पुनरददात्। तासां रोहिणीमेवोपैत्। तं यक्ष्म आर्च्छत्। स एता नमस्यन् उपाधावत्। ता अब्रुवन् वरं वृणामहै समावच्छ एव न उपाय इति। तस्मा एतमादित्यं निरवपन् तेन एव एनं पापात् स्रामाद् अमुञ्चन्।**
>
> तै० सं० २।३।५

यह रोचक कथा पूर्णतः ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों पर आधारित है। रोहिणी-शकट के पास चन्द्रमा की अधिक स्थिति तथा २७ नक्षत्रों में उसका संचरण, चन्द्रमा का क्षीण होना तथा बढ़ना आदि दृश्यों के आधार पर बनी यह कथा अन्त तक अपने मूल रूप में प्राप्त होती है। **महाभारत** में शल्य पर्व के ३५वें अध्याय में ४५ से ८६ तक के श्लोकों में यह कथा विस्तार से वर्णित की गई है। प्रजापति का स्थान **दक्ष** ने ले लिया है और अन्त का भाग युग की धार्मिक प्रवृत्ति के अनुसार थोड़ा सा परिवर्तित कर दिया गया है। यहाँ चन्द्रमा पश्चिम-समुद्र में सरस्वती-समुद्र के संगम पर अमावास्या को स्नान करके रोगमुक्त होते हैं और अपनी कान्ति पुनः प्राप्त करते हैं। **आदिपर्व** ६६।१६, १७ में भी चन्द्रमा की इन २७ पत्नियों का उल्लेख है। यहाँ भी इन पत्नियों को "लोक व्यवहार के लिये नक्षत्रवाची नामों से युक्त" बताया गया है और कहा गया है कि ये समय का नियमन करती हैं—

> **सप्तविंशतिः सोमस्य पत्न्यो लोकस्य विश्रुताः।**
> **कालस्य नयने युक्ताः सोमपत्न्यः शुचिव्रताः॥**
> **सर्वा नक्षत्रयोगिन्यो लोकयात्राविधानतः॥**

श्रीमद्भागवत ६।६।२३,२४ में भी इसका संक्षिप्त सा उल्लेख है—

कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत ।
दक्षशापात् सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः ॥
पुनः प्रसाद्य तं सोमः कलाः लेभे क्षयोदिताः ।

सम्भवतः इसी कथा पर दृष्टि रखकर **शांखायन गृ० सू०** १।९।९ में सोम को 'अनेक पत्नियों से युक्त' बताया गया है और उससे पत्नी प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। सूर्यासूक्त (ऋ० १०।८५) तथा ऐ० ब्रा० के सोम-सूर्या विवाह के वर्णन के आधार पर यह विश्वास था कि सर्वप्रथम सोम ने ही पत्नी प्राप्त की थी। **गोभिल गृ० सू०** २।१।२२ तथा **हिरण्यकेशी** १।६।२०।७ में विवाह के अवसर पर पत्नी के लिये पढ़े जाने वाले **'सोमो अददद् गन्धर्वाय'** (तां० म० ब्रा० १।१।७) आदि मन्त्र से भी इसकी पुष्टि होती है।

सोम से सम्बन्धित एक अन्य पातक-पूर्ण आख्यान का भी उल्लेख पुराणों में प्रायः किया गया है। **मत्स्य०** २३, **ब्रह्म०** १५२, **विष्णु०** ४।६ तथा **भागवत०** ९।१४ आदि अध्यायों में कहा गया है कि एक बार अपने ऐश्वर्य तथा राजमद से उन्मत्त होकर सोम अपने गुरु **बृहस्पति** की भार्या **तारा** का अपहरण कर ले गया और बृहस्पति के बहुत माँगने पर भी उसे नहीं लौटाया। दारापहारी तेजस्वी सोम का बृहस्पति कुछ भी अपकार नहीं कर सके क्योंकि ब्रह्मा द्वारा राजा बना दिये जाने पर उसका तेज बहुत बढ़ गया था। अन्ततः देवों के मध्य भयंकर संग्राम की भूमिका उपस्थित होने पर ब्रह्मा ने चन्द्रमा से कहकर बृहस्पति की पत्नी को वापिस दिलवाया। बृहस्पति की इसी तारा नामक पत्नी को **महा० वन०** २१९।१ में **चान्द्रमसी** कहा गया है और **ब्रह्मपुराण** ५२।१३ में उसका रोहिणी से तादात्म्य किया गया है[1]—

तदा चन्द्रस्तु तां तारां नीत्वा संस्थाप्य मन्दिरे ।
बुभुजे बहुवर्षाणि रोहिणीं चाकुतोभयः ॥

यद्यपि इस कथा का ब्राह्मण-ग्रंथों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु सायण ने **श० ब्रा०** ४।१।२।४, ५ के निम्नलिखित उद्धरण में सोम द्वारा तारा के अपहरण की इस कथा का बीज ऊहित किया है—

१. पृष्ठ ६६८ तथा पादटिप्पणी १ द्रष्टव्य है।

यत्र वै सोमः स्वं पुरोहितं बृहस्पतिं जिज्यौ तस्मै पुनर्ददौ । तेन संशशाम । तस्मिन् पुनर्ददुषि । आस एव अतिविशिष्टम् एनो यदीन्नूनं ब्रह्मज्यानाय अभिदध्यौ ।

ये शब्द अत्यधिक अस्पष्ट हैं। पर सायण ने इनकी जो व्याख्या की है उससे किसी प्रकार इन वाक्यों से कथा का भाव निकल ही आता है। ये वाक्य एक याज्ञिक व्याख्या के रूप में है। प्रश्न यह है कि सोम छाना क्यों जाता है ? इसका कारण सायण के अनुसार उपर्युक्त शब्दों में वर्णित है। सोम ने गुरुपत्नीहरण रूपी जो पाप किया उससे वह अत्यन्त कलुषित हो गया। देवों ने उसे सोमलता के रूप में परिवर्तित कर दिया और फिर छन्नी से छानकर उसे पवित्र किया (तं देवा पवित्रेणापावयन् । स मेध्यः पूतो देवानां हविरभवत्, श० ब्रा० ४।१।२।५)। सायण ने उपर्युक्त शब्दों से कथा का भाव इस प्रकार निकाला है—

"""यदा 'सोमः' चन्द्रः स्वकीयं पुरोहितं 'जिज्यौ' दारापहरणेन मानहीनमकरोत् । ज्या वयोहानौ—वयोहानिवचनोऽपि इह हानिमात्रं लक्षयति । सा तु हानिरिह मानस्य एव इति प्रकरणाद् अवगम्यते । अपहृतान् दारान् इन्द्रबृहस्पत्यादिदेवानां वचनमनादृत्य युद्धे च तान् जित्वापि तैः प्रार्थ्यमानः तान् दारान् पुनः बृहस्पतये 'ददौ' । तेन दानेन स बृहस्पतिः सम्यगेकान्तहृदयोऽभूत् । 'ब्रह्मज्यानाय' ब्राह्मणमानहानाय चिन्तितवान् (अभिदध्यौ) इति तद् एनः पापं 'अतिशिष्टम्' स्थितम् 'आस' बभूव एव । इत्थं पापिनं चन्द्रं सोमलतारसरूपं विधाय शशाम पवित्रेण अपावयन् ।

श० ब्रा० के वाक्यों में केवल इन्द्र द्वारा अपने पुरोहित बृहस्पति के प्रति विहित पाप का वर्णन है। दारापहरण का उल्लेख नहीं किया गया। इसे सम्भवतः पौराणिकों ने बाद में सोम के पाप की व्याख्या करने के लिये कल्पित कर लिया। वहीं से यह सायण को प्राप्त हुआ।

सोमरस से सम्बन्ध के कारण चन्द्रमा की जलीयता की धारणा पुराणों में प्रायः सुरक्षित चली आई है। **पद्म०** भूमि० १२वें तथा **मत्स्य०** २३वें अध्याय में चन्द्रमा को ऋषि **अत्रि** के नेत्र बिन्दुओं से उत्पन्न बताया गया है। तपस्या करते हुए अत्रि के नेत्रों से कुछ तेजस्वी जल बिन्दु निकले। उन्हें

स्त्रीरूपिणी दिशाओं ने ग्रहण कर लिया[1] और ३०० वर्षों के पश्चात् उनके तेज से संतप्त होकर छोड़ दिया—

अधः सुस्राव नेत्राभ्यां धामतश्चाम्बुसंभवम् ।
दीपयद्विश्वमखिलं ज्योत्स्नया सचराचरम् ॥

तद्दिशो जगृहुर्धाम स्त्रीरूपेण सुतेच्छया ।
गर्भो भूत्वोदरे तासामास्थितोऽब्दशतत्रयम् ॥

मत्स्य० २३।६, ७

ब्रह्मा ने सब खण्डों को मिलाकर एक सुन्दर युवक की आकृति में परिणत कर दिया। ब्रह्मर्षियों ने सोम-देवता विषयक सूक्तों से उसकी स्तुति की जिससे उसका तेज बहुत बढ़ गया (मत्स्य० २३।११, १२)। ब्रह्मा जी ने उसे ओषधियों, ब्राह्मणों, पितरों, नक्षत्रों तथा यज्ञ आदि का स्वामी बना दिया—

नक्षत्रग्रहविप्राणां वीरुधां चाप्यशेषतः ।
सोमं राज्येऽदधद् ब्रह्मा यज्ञानां तपसामपि ॥

विष्णु० १।२२।२

ओषधियों का उन्हें विशेष रूप से स्वामी वर्णित किया गया है। उनके पास अमृत का अक्षय भंडार है। ब्रह्म० ११०।७८ में ओषधियाँ **पैप्पलाद** बालक की रक्षा के लिये अपने राजा सोम के पाम अमृत माँगने पहुँचती हैं—

एवमुक्त्वा तदौषध्यो वनस्पतिसमन्विताः ।
सोमं राजानमभ्येत्य याचिरेऽमृतमुत्तमम् ॥

देवरूप में भी राजा सोम का सम्पूर्ण शरीर अमृतमय है। उनकी उँगलियाँ पीयूषवर्षिणी हैं। बालिका **मारिषा** की रक्षा करने के लिये वे अपनी तर्जनी उँगली उसके मुख में डाल देते है—

क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम् ।
देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः ॥

---

१. तु० की०, अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः···
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी। **रघुवंश २।७५**

वस्तुतः सोम या चन्द्रमा के पौराणिक स्वरूप में वैदिक सोमरस, चन्द्रमा के भौतिक स्वरूप तथा उसकी आधिदैविक धारणा के सब तत्त्व इस प्रकार घुले-मिले हैं कि उन सब को पृथक् करना असम्भव है। जहाँ भी चन्द्रमा का वर्णन होता है वहाँ उनके ये सभी रूप एक साथ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। **मत्स्य पुराण** के १७३वें अध्यायों में तारकामय संग्राम के अवसर पर सोम **पाश** धारण करके असुरों से युद्ध करने जाते हैं। उनके रथ में तीन चक्र हैं, रथ में पूर्णतः श्वेत अश्व जुते हुए हैं और उनका आयुध **हिम** (प्रालेय, नीहार, कोहरा या पाला) है—

सोमः श्वेतहये भाति स्यन्दने शीतरश्मिवान् ।
ददृशुर्दानवाः सोमं हिमवत्प्रहरणं स्थितम् ॥ १७३।२४, २७

किन्तु अगले श्लोकों में कवि चन्द्रमा के भौतिक स्वरूप पर आ जाता है और उसे 'नक्षत्रों के समूह से अनुगम्यमान' 'शशक की छाया से युक्त' 'रात्रि के अन्धकार का विनाशक' तथा 'काल का नियामक' कहता है—

तमृक्षपूगानुगतं शिशिरांशुंद्विजेश्वरम् ।
शशच्छायांकिततनुं नैशस्य तमसः क्षयम् ॥ १७३।२७

क्षयवृद्धी तव व्यक्ते सागरस्येवमंडले ।
परिवर्तयस्यहोरात्रं कालं जगति योजयन् ॥ १७५।४

साथ ही साथ वैदिक सोम पर दृष्टि रखकर कवि उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ रस तथा सोमपान करने वाले देवों द्वारा पिया जाने वाला सोम कहता है—

त्वन्मयं सर्वलोकेषु रसं रसविदो विदुः ।
त्वं कान्तिः कान्तवपुषां त्वं सोमः सोमपायिनाम् ॥ १७५।२, ७

इस प्रकार पुराणों में सोम का मानवीकरण इन्द्र आदि देवों की भाँति विशेष प्रगत नहीं कहा जा सकता। यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें वृद्धि अवश्य हुई है तथापि देवता के रूप में सोम का वर्णन करते समय उसका रसात्मक वैदिक स्वरूप तथा चन्द्र-विम्ब रूपी आधिभौतिक पक्ष सदा पौराणिक कवियों की दृष्टि में रहा है।

●

नवम अध्याय

अमूर्त अथवा भावात्मक देवता

प्रजापति या ब्रह्मा

(विश्वकर्मा, त्वष्टा)

वैविध्य में ऐक्य के दर्शन करना विकसित मानव-बुद्धि का स्वभाव है। ऋग्वेद के अनेक देवों के प्रति अपने हृदय के भक्ति-पूर्ण उद्‌गारों को व्यक्त करते हुए तथा उन सबके लिये यज्ञों का आयोजन करते हुए वैदिक ऋषियों की दृष्टि उन सबके भी मूल अथवा आदि-कर्ता की ओर जानी स्वाभाविक थी जिसको वे संसार के अकेले जनक के रूप में स्वीकार कर सकें और इन्द्र, वरुण, सविता आदि विविध देवों में से प्रत्येक को (देखें, पीछे पृ० १७३-७५) पृथ्वी तथा आकाश आदि के उत्पादक मानने के असामंजस्य का परिहार हो सके। अतः ऋग्वेद के परवर्ती सूक्तों (१० मंडल) में ऋषियों की प्रवृत्ति ऐसे किसी एक पूर्णतः अमूर्त अथवा भावात्मक देवता की ओर जाती हुई दिखाई देती है। इस एक देवता को कभी वे 'निर्माण करने वाला' (**त्वष्टा**, त्वक्ष् धातु, देखिये निरुक्त ८।१३ त्वक्षतेर्वा स्यात् करोति-कर्मणः) कहते हैं, कभी 'संसार की रचना करनेवाला' (**विश्वकर्मा**) और कभी 'प्राणियों का स्वामी' (**प्रजापति**)।

यद्यपि **विश्वकर्मा** शब्द ऋग्वेद में दो बार (८।८७।२ तथा १०।१७०।४) क्रमशः इन्द्र तथा सूर्य का जगत् की उत्पत्ति में महत्त्व घोषित करने के लिये आया है (उदा०, येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता—सूर्य) किन्तु दशममंडल के ८१ तथा ८२वें सूक्त में जिस विश्वकर्मा का उल्लेख हुआ है वह ऋग्वैदिक युग की सर्वोच्च दैवीशक्ति का प्रतिनिधि है। वे मनुष्यों के पिता हैं (१०।८१।१)। उनके सब ओर नेत्र हैं, सब ओर मुख तथा सब ओर भुजाएँ और चरण। उन्हीं अकेले ने पृथ्वी और आकाश का बिना किसी उपकरण के निर्माण किया है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

ऋ० १०।८१।२

विश्वकर्मा अत्यन्त बुद्धिमान्, क्रियाशील, संसार के निर्माता (विधाता), एवं पालयिता (धाता) तथा परमज्ञानी (परमसंदृक्) हैं। वे सम्पूर्ण लोकों का ज्ञान रखते हैं और अकेले ही सब देवों के नामों को धारण करते हैं (अर्थात् सब देवता उन्हीं के अंश हैं)। सारा संसार अन्त में उन्हीं में लीन हो जाता है—

(१) **विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।**

१०।८२।२

(२) **यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।**
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

१०।८२।३

ऋ० १०।८२।६ में इस विश्वकर्मा को जल के अन्दर सम्पूर्ण लोकों तथा देवताओं को धारण करके स्थित एक गर्भ के रूप में चित्रित किया गया है और उन्हें शाश्वत तथा अनादि तत्त्व का व्यक्त प्रतीक माना गया है—

तामिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥

नासदीय सूक्त में (ऋ० १०।१२९) सृष्टि के पूर्व सर्वत्र जल ही जल की कल्पना की गई है (तम असीत् तमसा गूल्हमग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्) अतः ब्रह्माण्ड के बीजतत्त्व का उसमें जन्म होना स्वाभाविक है। ऋग्वेद के दशममण्डल के १२१वें सूक्त में इस बीज को हिरण्यवर्ण का कहा गया है। **'हिरण्यगर्भ'** उसकी सामान्य संज्ञा है और प्रजापति से इस हिरण्यगर्भ का तादात्म्य किया गया है। ऋग्वैदिक देवमण्डल के सर्वोच्च देवता की सर्वोत्कृष्ट शब्दों में स्तुति करने वाला यह हिरण्यगर्भसूक्त (१०।१२१) प्रजापति-विषयक वैदिक मन्त्रों में अद्वितीय स्थान रखता है। इस सूक्त की अन्तिम (दशम) ऋचा को छोड़ कर अन्य सभी ऋचाओं का चतुर्थ चरण है **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**। सायण तथा अन्य भारतीय भाष्यकारों का कथन है कि 'क' सुख को कहते हैं

और सुखमय होने के कारण प्रजापति ही 'क' वर्ण से वाच्य हैं[1]। अतः **कस्मै** का अर्थ है 'प्रजापति के लिये'। 'क' को प्रजापति का एक नाम मानने की परंपरा ब्राह्मण-ग्रंथों से लेकर परवर्ती धार्मिक साहित्य तक अविच्छिन्न रूप से पायी जाती है—**कं वै प्रजापतिः, कमेवैष प्रजाभ्यः कुरुते,** श० ब्रा० २।५।२।११ (तथा ६।२।२।५, १२; ६।४।३।४; **कौ० ब्रा०** ५।४; **तै० सं०** १।७।६ आदि)। श्रीमद्‌भागवत आदि पुराणों में 'क' शब्द नियमित रूप से प्रजापति का वाची है। बल्कि 'प्रजापति' उपाधि से युक्त होने के कारण दक्ष आदि के लिये भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है (नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः। ४।६।३)। किन्तु सभी पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि इस पंक्ति में ऋषि सृष्टि के आदि-कारण के विषय में विचिकित्साएँ करता हुआ पूछता है हम किस देवता को हवि प्रदान करें? अस्तु[2], इस सूक्त के अनुसार इस विश्व को पहले जो विशाल जल-राशि घेरे हुए थी उसमें तेजस् तत्त्व के संयोग से एक गर्भ की उत्पत्ति हुई और उस गर्भ से देवों में श्रेष्ठ एक शक्ति (असु) उत्पन्न हुई—

आपो ह यद् बृहतीर्गर्भमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ७॥

प्रजापति विषयक यह सारा सूक्त **शुक्ल यजुर्वेद** में खंडशः यत्र-तत्र प्राप्त

---

१. **कं सुखं जलमाख्यातं कश्च देवः प्रजापतिः।** एकाक्षरकोश
'क' जल को भी कहते है अतः यह भी हो सकता है कि जल से उत्पन्न होने के कारण यह वर्ण प्रजापति की संज्ञा बन गया हो।

२. दोनों ही मतों में कुछ न कुछ तर्क है। पहली बात तो यह है कि यदि क शब्द नाम अथवा संज्ञा होता तो इसका चतुर्थी एकवचन का रूप सर्वनाम की भाँति 'कस्मै' न बन कर 'काय' बनता। किन्तु यह भी ठीक नहीं जान पड़ता कि कवि प्रजापति की सम्पूर्ण विशेषताओं, नाम, जन्म आदि का वर्णन भी करता जाये और फिर भी शंका करे कि हम किसे हवि प्रदान करें? ऐसा नहीं लगता कि कवि को अपने आराध्य के स्वरूप के विषय में अनिश्चय है। वाक्य-विन्यास तथा अर्थौचित्य की दृष्टि से भारतीय आचार्यों का मत उपयुक्त है और इसे अत्यन्त प्राचीन परम्परा का समर्थन प्राप्त है।

होता है। प्रस्तुत ऋचा भी **वा० सं०** के २७वें अध्याय का २५वाँ मन्त्र है। वहाँ 'गर्भं दधानाः' की व्याख्या में महीधर ने **श० ब्रा०** ११।१।६।१ (आपो ह वै इदमग्रे सलिलमेवास) को उद्धृत करते हुए लिखा है—

··· तथा गर्भं हिरण्यगर्भलक्षणं दधानाः अत एव अग्निं जनयन्तीः अग्निरूपं हिरण्यगर्भं जनयन्त्यः उत्पादयिष्यन्त्यः ···।

ऋग्वेद का **प्रजापति**-सूक्त भी 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' से प्रारम्भ होता है। **अथर्ववेद** ४।२।८ में कहा गया है कि आपः (स्त्रीलिं०) ने सर्वप्रथम जिस पुत्र-रूपी गर्भ को जन्म दिया उसका ऊपरी आवरण हिरण्मय था। इस मन्त्र के अन्त में ऋग्वेद के **कस्मै देवाय हविषा विधेम** शब्द जोड़ दिये गये हैं—

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्।
तस्योत जायमानस्य उल्ब आसीत् हिरण्मयः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः सृष्टि की प्रक्रिया का **हिरण्यगर्भ** से ही प्रारम्भ माना गया है। 'सृष्टि के पूर्व जल था। उसमें एक हिरण्याण्ड उत्पन्न हुआ। बहुत समय बाद वह फूटा। उससे प्रजापति निकले। अंडे का ऊपरी छिलका आकाश बन गया और नीचे का पृथ्वी' (श० ब्रा० ११।१।६।१; २)। संसार के लिये प्रयुक्त 'ब्रह्माण्ड' शब्द में यह भाव अब भी सुरक्षित है। ऐसी सृष्टि-कथाओं में हिरण्यगर्भ और प्रजापति में परस्पर भेद किया गया है। हिरण्यगर्भ प्रजापति का भौतिक कारण है क्योंकि प्रजापति की उत्पत्ति हिरण्यगर्भ से होती है। पर ऋग्वेद में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'हिरण्यगर्भ' और 'प्रजापति' एक ही तत्त्व के वाची हैं।

ऋग्वेद के इन **प्रजापति** देवता का हिरण्यगर्भ-सूक्त (१०।१२१) में इन शब्दों में वर्णन है—'सम्पूर्ण जगत् में उनका ही जन्म सर्वप्रथम हुआ है। वे संसार के स्वामी हैं तथा उन्होंने ही इस पृथ्वी और आकाश को धारण कर रखा है। उन्होंने प्राणियों में चेतना का संचार किया है (आत्मदा) और उन्हें जीवन-शक्ति (बल) प्रदान की है। प्राणियों का जीवन और मरण सब उन्हीं के ऊपर आश्रित है। अपनी महिमा के कारण वे संसार के प्रत्येक प्राणी के, चाहे वह दो पैर वाला हो चाहे चार पैर वाला, स्वामी हैं। पर्वत, समुद्र तथा नदियाँ (या पृथ्वी, रसा) आदि सब उन्हीं के शरीर के अन्दर हैं। ये दिशाएँ

उनकी भुजाएँ हैं। वे सम्पूर्ण देवों के अधिपति, प्रधान एवं श्रेष्ठ हैं। पृथ्वी आकाश तथा जल आदि सब कुछ उन्हीं के बनाये हुये हैं। उनके अतिरिक्त इस संसार में और कुछ भी नहीं है'—

> हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
> स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥
> य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
> यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥
> यः प्राणतो निमिषतो महित्व एक इद्राजा जगतो बभूव।
> य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥
> यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
> यस्येमे प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥
> यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥
> मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
> यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥९॥
> प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ॥१०॥

प्रजापति और विश्वकर्मा की धारणाएँ वैदिक युग में ही एक हो चुकी थीं। शुक्ल यजुर्वेद में दो स्थानों पर प्रजापति के संदर्भ में 'उनके जगत्कर्तृत्व को व्यक्त करने के लिये 'विश्वकर्मा' विशेषण प्रयुक्त हुआ है—

> प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु—१२।६१
> प्रजापतिर्विश्वकर्मा ...स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु—१८।४३

पर विश्वकर्मा के लिए यजुर्वेद में आये हुए लगभग सभी मन्त्र ऋग्वेद के १०।८१ तथा १०।८२ सूक्तों के हैं। स्वतन्त्र मन्त्रों में निम्न महत्त्वपूर्ण है जिसमें विश्वकर्मा को भी ऋग्वैदिक प्रजापति की भाँति जल से सम्बन्धित तथा सृष्टि से आदि में वर्तमान (समवर्तताग्रे) कहा गया है और त्वष्टा से उसका सम्बन्ध जोड़ा गया है—

> अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे
> तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे।

वा० सं० ३१।१७

प्रजापति के विषय में भी स्वतन्त्र मन्त्र **शुक्ल यजुर्वेद** में नहीं के बराबर हैं। केवल निम्नलिखित एक ही स्वतन्त्र मन्त्र उनके विषय में प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि प्रजापति प्रजा की रक्षा के लिये अपना तेज तीन ज्योतियों (सूर्य, वायु-इन्द्र-विद्युत् तथा अग्नि) में प्रविष्ट करते हैं, उनसे श्रेष्ठ और कोई नहीं है तथा वे संसार में व्याप्त है—

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आ विवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
वा० सं० ८।३६

मन्त्र का अन्तिम चरण ज्योतिस्तत्त्व से प्रजापति के किसी न किसी रूप में सम्बन्ध को सूचित करता है और वस्तुतः 'प्रजापति' विशेषण केवल एक बार ऋग्वेद में और आया है और वह भी सूर्य के लिये—

दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशंगं द्रापिं प्रतिमुञ्चते कविः।
ऋ० ४।५३।२

इसी सूक्त के ५वें मन्त्र में सूर्य (सविता) के द्वारा अपनी महिमा से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश आदि तीन लोकों को प्रकाशित करने का वर्णन है—

त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना।
तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिस्र इन्वति····।

इससे अगले (६ठे) मन्त्र में सविता को स्थावर तथा जंगम प्राणियों का अधिपति कहा गया है—

बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी।

वा० सं० ७।४२ में भी सूर्य को स्थावर तथा जंगम प्राणियों की आत्मा कहा गया है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

पुनः **वा० सं०** १३।३ में सूर्य को वर्तमान काल के सत्, तथा भूत और भविष्य के असत् पदार्थों का स्वामी बताया गया है—

सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा सतश्च योनिमसतश्च देवः।

बृहद्देवता भी सूर्य को इन्हीं शब्दों में सत् और असत् पदार्थों का उत्पादक बताता हुआ उसको 'प्रजापति' संज्ञा प्रदान करता है। उसमें तो यहाँ तक कहा गया है कि संसार में जो भी पदार्थ हैं, हुये हैं, या होंगे, उन सबकी उत्पत्ति और लय का स्थान सूर्य ही है। सूर्य से ही उनका जन्म होता है और उसी में वे लीन हो जाते हैं। वह कभी नष्ट न होने वाला, शाश्वत ब्रह्म है—

भवद्भूतस्य भव्यस्य जंगमस्थावरस्य च।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः॥

असतश्च सतश्चैव योनिरेष प्रजापतिः।
यदक्षरं च वाच्यं च यथंतद् ब्रह्म शाश्वतम्॥

बृहद्देवता १।६१,६२

महर्षि शौनक ने इन शब्दों में जिस दृढ़ता से सूर्य के प्रजापतित्व का प्रतिपादन किया है उससे प्रजापति के उद्गम पर कुछ प्रकाश पड़ता है। सूर्य को ब्रह्म (शाश्वत) कहा गया है। नपुंसक **ब्रह्म** शब्द का पुल्लिग **'ब्रह्मा'** प्रजापति का पुराणों में सबसे अधिक सामान्य विशेषण है। ब्रह्मा जी का **'स्वयंभूः'** विशेषण भी परवर्ती साहित्य में अत्यन्त प्रचलित है और **वा० सं०** २।२६ में **सूर्य** को ही स्वयंभूः (या स्वतः-उत्पन्न) कहा गया है—

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा अधि वर्चो मे देहि।
सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥

संभव है प्राचीन वैदिक-काल में सूर्य के निरतिशय महत्त्व और प्राणियों की स्थिति के लिये उसकी आवश्यकता को देखते हुए ऋषियों ने प्रजापति-देवता की कल्पना सूर्य से प्राप्त की हो[1]। 'हिरण्यगर्भ' का संकेत भी संभवतः इधर ही है। किन्तु यदि ऐसा है भी, तो शीघ्र ही वैदिक ऋषियों की दृष्टि भौतिकता के धरातल से उठ कर आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच गई और प्रजापति के रूप में उसने एक उत्कृष्ट देवाधिदेव की स्थापना की।

यहाँ अप्रासंगिक होते हुए भी यह रोचक तथ्य उल्लेखनीय है कि हिरण्यगर्भ से संसार की उत्पत्ति की धारणा सृष्टि-उत्पत्ति की एक वर्तमान वैज्ञानिक

---

१. तु० की०, मैक्डॉनल, **वैदिक माइथॉलजी**, पृ० १३।

धारणा से काफी साम्य रखती है। इस धारणा के अनुसार निखिल सृष्टि पहले एक गैस के ज्योतिर्मय पिण्ड (वैदिक हिरण्यगर्भ) के रूप में थी। यह पिण्ड कल्पनातीत परिमाण में विस्तृत था तथा अपनी धुरी पर घूमता था। केन्द्र के दबाव के कारण (वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इसके एक घन से० मी० में एक अरब टन का दबाव था) इसमें विस्फोट हुआ और सूर्य जैसे छोटे-बड़े असंख्य तारे बने जिनसे टूट कर उस तारे के चारों ओर घूमने वाले विविध ग्रहों और उपग्रहों का जन्म हुआ। क्या वैदिक हिरण्यगर्भ हमारा सूर्य है?

ऋक् या **यजुर्वेद** में त्वष्टा का महत्त्व उत्कृष्टता की दृष्टि से विश्वकर्मा तथा प्रजापति से कम है। उसमें उतनी आध्यात्मिकता भी नहीं है जितनी इन दोनों में। उसके शारीरिक अवयवों के विवरण (८।२९।३, ६।४७।१९ तथा ६।४९।९) तथा पुत्री सरण्यू आदि के वर्णन (१०।१७।१, २) से उसमें मानवीयता की मात्रा अधिक हो गई है। वह संसार का तो नहीं, किन्तु पृथक्-पृथक् संसार की लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वस्तु का निर्माता है। गर्भ में प्राणियों के रूपों का वह निर्माण करता है (ऋ० १०।१०।५ तथा ३।५५।१९ आदि)। वह एक कुशल कारीगर है तथा इन्द्र के वज्र और अन्य देवों के विविध आयुधों और रथों का भी उसने निर्माण किया है (तु० की०, ऋ० १।८५।९, १०।५३।९, ५।३१।४ आदि)। हाँ, तैत्तिरीय संहिता के निम्न मन्त्र में अवश्य त्वष्टा का 'अश्व' (अर्थात् सूर्य) होकर संसार का कर्ता बनने का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है—

त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वाजायत आशुरश्वः।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्तारमिह यक्षि होतः॥

तै० सं० ५।१।११

ऊपर उल्लिखित वा० सं० ३१।१७ (विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे.....तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति) में भी विश्वकर्मा के साहचर्य में उल्लिखित त्वष्टा को संसार की उत्पत्ति से सम्बन्धित किया गया है। पर ऐसे मन्त्र बहुत कम हैं। त्वष्टा का मुख्य कार्य प्राणियों के रूपों का निर्माण है और उसकी इस विशेषता को अधिकांश में ब्राह्मणकालीन प्रजापति ने आत्मसात् कर लिया है। इसलिये वह परवर्ती वैदिक साहित्य में एक बहुत सामान्य सा देवता रह गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रजापति

अब हम **ब्राह्मणकालीन प्रजापति** पर आते हैं। वैदिक संहिताओं में जगत् के सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित प्रजापति ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मकाण्डीय कान्तार में फँस कर अपने मार्ग से भटक गये हैं। कहने को वे अब भी जगत् के निर्माता एवं देवों, मनुष्यों तथा असुरों के स्रष्टा है पर अब उनका सारा महत्त्व यज्ञ से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध से ही उद्भूत है। यदि संक्षेप में कहा जाय कि 'प्रजापति यज्ञ के देवता हैं' तो यह सर्वथा उचित होगा। यज्ञ संसार की सर्वोच्च शक्ति है जो प्राणियों की उत्पत्ति तथा कल्याण से सम्बन्धित है, अतः उससे सम्बन्धित प्रजापति का भी उत्कर्ष स्वाभाविक है। पर प्रजापति भी अपनी शक्ति यज्ञ करके ही प्राप्त करते है। प्राणियों की सृष्टि तथा पालन के लिये वे निरन्तर तप तथा यज्ञ किया करते हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वस्तु का प्रजापति से तादात्म्य कर दिया गया है अतः प्रजापति के व्यक्तित्व में इतने वैविध्यपूर्ण तत्त्व मिल गये हैं कि उनके ब्राह्मण-कालीन स्वरूप के विषय में ठीक-ठीक धारणा बनाना बहुत कठिन है। **शतपथ-ब्राह्मण** से ही इस विषय में पर्याप्त उद्धरण दिये जा सकते हैं। वाजपेय यज्ञ में सत्रह स्तोत्र होते है, होते हैं, उसमें यजमान को सत्रह दीक्षाएँ लेनी पड़ती हैं और वह सत्रह दिन चलता है। अतः **श० ब्रा०** ५।१।२।११, ९।२।२।६, १३।४।९।१५ में प्रजापति को 'सप्तदश' या 'सत्रह प्रकार का' कहा गया है। **कौषीतकि** ८।२ तथा १०।८ और **ऐतरेय ब्राह्मण** १।१।१ प्रजापति को इसलिये **'सप्तदशधा'** कहते है कि एक वर्ष में १२ मास तथा ५ ऋतुएँ होती हैं और प्रजापति ही वर्ष हैं। इसी कारण दीक्षा यज्ञ में १७ ऋचाओं द्वारा अग्न्याधान किया जाता है। वाजपेय में यजमान १२ 'आप्तियाँ' प्रदान करता है क्योंकि वर्ष में १२ मास होते हैं और प्रजापति वर्ष हैं तथा यज्ञ प्रजापति है (एता द्वादशाप्तीः जुहोति, द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य, संवत्सरः प्रजापतिः, प्रजापतिर्यज्ञः, **श० ब्रा०** ५।२।१।१)। प्रजापति अग्नि है (तस्मादेतं प्रजापतिं सन्तमग्निरित्याचक्षते, वही ६।१।२।१३)। प्रजापति चन्द्रमा है (असौ वै चन्द्रः प्रजापतिः, ६।२।२।१६) ६।२।२।१६) तथा प्रजापति अन्न है (अन्नं वा अयं पजापतिः ७।१।२।४)। ठीक इसी प्रकार सोम-रस, वायु, प्राण, सूर्य, यज्ञिय पशु तथा अन्यान्य विविध प्रकार की असंख्य वस्तुओं से प्रजापति का ब्राह्मणों में तादात्म्य प्राप्त होता है। अश्वमेध तथा अन्य बड़े-बड़े यज्ञों के लिये यज्ञवेदिका बनाने

में ब्राह्मण-कर्मकाण्ड के अनुसार पूरा एक वर्ष लगता है। यह वेदी यज्ञ की प्रतीक है और यज्ञ है साक्षात् प्रजापति। अतः प्रजापति को अनेक स्थानों में संवत्सर कहा गया है और उन्हें अनन्त काल की एक व्यक्त इकाई माना गया है (श० ब्रा० १०।३।२।१-२)। पर यज्ञ से प्रजापति की एकरूपता ब्राह्मण-ग्रन्थों के लिये सबसे अधिक सामान्य बात है; **'यज्ञो वै प्रजापतिः'** ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः पाया जाने वाला वाक्य है (श० ब्रा० १।१।१।१३, ३।२।२।४, ५।१।२।१३, ११।१।१।१; ऐ० ब्रा० २।२।७ तथा मै० सं० ३।६।५ आदि)। **श० ब्रा०** ११।१।८।३ में कहा गया है कि प्रजापति ने यज्ञ को अपने स्वरूप के समान रचा। यज्ञ प्रजापति की प्रतिमा या प्रतिरूप है—

> **....अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञम्। तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इति। आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत।**

यज्ञ ही प्रजापति की शक्ति है। उसी की सहायता से वे सृष्टि करते हैं। **श० ब्रा०** १२।३।४।१ में उन्हें **'पुरुष-नारायण'** को यज्ञ करने का उपदेश देते हुए वर्णित किया गया है।

प्रजापति की कुछ अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ ये हैं। उनका आकार पुरुष जैसा है (७।४।१।१५)। वे (यज्ञ के रूप में) मनुष्यों को वरुण-पाशों (विपत्तियों) से छुड़ाते हैं (५।२।४।२)। अग्नि के उत्पादक होने से प्रजापति उसके पितृस्वरूप हैं (६।१।२।२६)। प्रजापति अमर्त्य हैं और सभी देवता उनके पुत्र हैं (प्रजापतिर्वा अमृतः, तस्य विश्वेदेवाः पुत्राः ६।३।१।१७)। अन्यत्र असुरों को भी देवों के साथ-साथ प्रजापति के पुत्र बताया गया है। **'देवाश्च असुराश्च उभे प्राजापत्याः पस्पृधिरे'**, यह वाक्य लगभग सभी ब्राह्मणों में इसी रूप में यज्ञ सम्बन्धी अनेक कथाओं के प्रारंभ में आता है (श० ब्रा० २।१।१।८, ५।१।१।१, ११।१।६।७; तै० सं० २।३।७ आदि)। आकाश प्रजापति का सिर है और सूर्य-चन्द्र आँखें—**द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी'** (७।१।२।७)। प्रजापति ने इस पृथ्वी को उत्पन्न किया—**'प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता'** (७।३।१।२०)। काल या समय रूप होने के कारण प्रजापति पृथ्वी की प्रत्येक वस्तु के जनक हैं—**संवत्सरः प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि ससृजे'** (१०।४।२।२)। प्रजापति की उत्पत्ति की कथा का सूत्र ऋग्वेद में उल्लिखित हिरण्यगर्भ से मिलाते हुए **श० ब्रा०** उनके जन्म के विषय में कहता है कि 'पहले सर्वत्र

जल ही जल था.....तप की शक्ति से उनमें एक हिरण्मय-अण्ड उत्पन्न हुआ[1]। यह अण्ड एक वर्ष तक जल में तैरता रहा। तब उससे प्रजापति का जन्म हुआ। उन्होंने उत्पन्न होते ही 'भूः' कहा जिससे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। 'भुवः' कहने पर अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ और 'स्वः' कहने पर आकाश—

> **'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास.....तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयाण्डं सम्बभूव.....तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत्। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् स प्रजापतिः।..... स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति व्याहरत् सेयं पृथिव्यभवत्। भुव इति। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। द्यौरिति सा असौ द्यौरभवत्।**
>
> **श० ब्रा० ११।१।६।१-३**

वस्तुतः यज्ञ से घनिष्ठ सम्बन्ध के अतिरिक्त प्रजापति की दूसरी विशेषता सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के उत्पादक के रूप में प्रतिष्ठा है। श० ब्रा० के **'प्रजनयिता स प्रजापतिः'** (३।९।१।६), **'प्रजननं प्रजापतिः'** (५।१।३।९) और **'प्रजापतिना प्रजनयित्रा ताः प्रजाः प्राजनयत** (८।४।३।२०) आदि वाक्य इसके परिचायक है। इस रूप में प्रजापति का ऋग्वैदिक विश्वकर्मा से सम्बन्ध भुलाया नहीं गया है। ८।२।१।१० में कहा गया है कि प्रजापति ही स्रष्टा होने के कारण विश्वकर्मा हैं (प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा। प्रजापतिसृष्टासीत्येतत्)। श० ब्रा० ९।४।१।१२ और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्रजापति ही विश्वकर्मा हैं क्योंकि उन्होंने ही इस सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया है (प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा। स हीदं सर्वमकरोत्)। संसार को बनाने, इसका नियमन करने (वि-धा) तथा यहाँ की प्रत्येक क्रिया का संचालन करने के कारण वे ही **धाता** तथा **विधाता** हैं (स दिक्षु प्रतिष्ठायेदं सर्वं दधद् विदधद् अतिष्ठत्। यद् दधद् विदधद् अतिष्ठत् तस्माद् धाता, ९।५।१।३५)। प्रजापति परमेष्ठी (सर्वश्रेष्ठ) हैं और सब प्राणियों के स्वामी हैं (८।४।३।२०)। १३।१।२।५ में कहा गया है कि प्रजापति सभी देवताओं में सर्वाधिक तेजस्वी और शक्तिशाली हैं (प्रजापतिर्वै देवानां वीर्यवत्तमः)। उनका स्वरूप स्पष्ट (निरुक्त)

---

१. तु० की०—

> तम आसीत् तमसा गूल्हमग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
> तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिताऽजायतैकम्॥
>
> ऋ० १०।१२९।३

भी है और अस्पष्ट (अनिरुक्त) भी; ये निस्सीम भी हैं और ससीम भी (उभयं वा एतत् प्रजापतिः—निरुक्तश्च अनिरुक्तश्च, परिमितश्च अपरिमितश्च। ७।२।४।३०)। संसार की प्रत्येक वस्तु तथा सम्पूर्ण लोक, सब प्रजापति के ही रूप हैं—**सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः, सर्वं वा इदं प्रजापतिः यदिमे लोकाः यदिदं किंच** (५।१।३।१०, ११)।

परवैदिक-काल के सर्वोच्च देवता होने के कारण प्रजापति को ब्राह्मण-ग्रन्थों में पर्याप्त सम्मान प्राप्त है। उन्हें 'संसार का जनक' तथा 'सर्वोत्कृष्ट अमर-तत्त्व' कहा गया है। ऐ० ब्रा० ७।४।८ कहता है कि 'प्रजापति ही यह सम्पूर्ण जगत् हैं (प्रजापतेर्विभान्नामलोकः)। **कौषीतकि** १२।८ प्रजापति को संसार की प्रत्येक वस्तु का जनक बताता है। इसी ब्राह्मण में अन्यत्र (९।७) कहा गया है कि प्रजापति अपरिमेय हैं, उनकी शक्ति और स्वरूप की सीमा नहीं है। इसी प्रकार तै० सं० १।७।३ भी प्रजापति को अमृघ्न (अमर), अनिरूव्य तथा अपरिमित बताती है। श० ब्रा० ४।५।७।२ कहता है कि 'जो कुछ संसार में है वह सब मर्त्य है। वह प्रजापति का रूप है। किन्तु प्रजापति स्वयं अमृत (अमर) हैं'—

> **एतद् हि अमृतम्। यद् हि अमृतं तद् हि अस्ति। स एष प्रजापतिः एतद् उ यन्मर्त्यम्। सर्वं वै प्रजापतिः।**

लोक तीन हैं किन्तु प्रजापति इन तीनों लोकों से पृथक् एक चतुर्थ-सत्ता हैं (श० ब्रा० ४।६।१।४)—

> **त्रयो वा इमे लोकाः। प्रजापतिः अतीमाँल्लोकाँश्चतुर्थः।**

ब्रह्म, वाक् तथा ब्रह्मा

शतपथ ब्रा० में दो स्थानों पर (७।३।१।४२ तथा ८।४।१।३,४) प्रजापति को ब्रह्म कहा गया है—**सर्वमु ब्रह्म प्रजापतिः प्राणा उ वै ब्रह्म। प्राणा उ वै प्रजापतिः।** ऐ० ब्रा० भी यज्ञ-रूपी प्रजापति को ब्रह्मा बताता है—**यज्ञ उ ह वा एष यद् ब्रह्मा। ब्रह्मणि हि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठितः।** यद्यपि श० ब्रा० में ब्रह्म शब्द नपु० लिंग है और किसी देवता-विशेष का वाची न होकर जगत् की एक उत्कृष्ट, अमूर्त, परम-शक्ति को सूचित करता है किन्तु परवर्ती साहित्य में इस शब्द का पुल्लिंग '**ब्रह्मा**' शब्द प्रजापति के पौराणिक उत्तराधिकारी का सर्वाधिक सामान्य नाम है। प्रजापति और ब्रह्म का सर्वप्राचीन स्पष्ट तादात्म्य **आश्वलायन** गृ० सू० ३।४ में प्राप्त होता है। पौराणिक ब्रह्मा का

भी मुख्य कार्य प्रजापति की भाँति केवल प्रजा की उत्पत्ति है। वस्तुतः ब्रह्म शब्द का मूल अर्थ स्तोत्र या सूक्त है। ऋग्वेद में यह शब्द इस अर्थ में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है (उदा० तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः, ऋ० १।२४।११, वा० सं० १८।४९; इमा ब्रह्म शस्यमानानि जिन्वन्त, ऋ० १०।६६।१२; प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि स्वर्णशुक्रम्, ऋ० २।२।७; स्वर्गिरो ब्रह्मसूक्तं-जुषेरत, १०।६५।१४)। अग्नि को ६।१६।३० में स्तोत्रों का रचयिता, ब्रह्मणस्कविः, कहा गया है। पुल्लिग में ब्रह्मा शब्द स्तोत्र-गायक को सूचित करता है (प्र ब्रह्माणो अंगिरसो नक्षन्त, ७।४२।१)।

ऋग्वेद में ही शब्दशक्ति, ब्रह्म या वाक् की महत्ता को विशिष्ट मान्यता मिल चुकी थी। ब्रह्म की शक्ति का पता हमें ब्रह्मणस्पति (अथवा बृहस्पति) देवता के स्वरूप से चलता है। यह अमूर्त देवता ब्रह्म अथवा स्तोत्रों के अधिष्ठाता देव तत्त्व का वाची है; दूसरे शब्दों में स्तोत्र में निहित सर्व-सामर्थ्यशाली शक्ति का मानवीकरण है। वा० सं० ९।२६ में बृहस्पति के लिये ब्रह्मा (पु०) विशेषण प्रयुक्त हुआ है, आदित्यं विष्णु सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्। श० ब्रा० में अनेक स्थानों पर (उदा० ३।९।१।११,५।१।५।६) 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः' यह वाक्य प्राप्त होता है। बृहस्पति का निवास परम व्योम में है। उसकी उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई है। वह देवों को उत्पन्न करता है, संसार की रचना करना है तथा विविध नियमों की व्यवस्था करता है—

(क) बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
ऋ० ४।५०।४

(ख) स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्॥
ऋ० २।२६।३

(ग) अयतन्ता चरतो अन्यदन्यदिद्या चकार वयुना ब्रह्मणस्पतिः।
ऋ० २।२४।५

(घ) ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। ऋ० १०।७२।२

ब्रह्मणस्पति की भाँति ऋग्वेद में वाक् को भी अनन्त सामर्थ्यशाली कहा गया है। जब ब्रह्म (सूक्त) का इतना महत्त्व है तो ब्रह्म जिससे निर्मित होता है, ब्रह्म की कारणभूत उस वाक् का भी अतिशय महत्त्व होना स्वाभाविक है।

ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१२५) में वाक् का एक सर्वशक्तिमती देवी के रूप में वर्णन किया गया है। 'वह सम्पूर्ण देवों में श्रेष्ठ है और रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेवों के साथ विचरती है। मित्रावरुण, इन्द्राग्नी, अश्विनौ, सोम तथा त्वष्टा आदि देवों को वह धारणा करती है। देवों को हवि प्रदान करने वाले तथा सोमाभिषवण करने वाले को यज्ञ का फल भी वही प्राप्त कराती है। वह सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी, चिन्मयी, (ज्ञानमयी) तथा देवों में श्रेष्ठ (प्रथमा) है। जो कोई भी अन्न खाता है, सुनता है, साँस लेता है या सूँघता है वह सब उसी की शक्ति से करता है। वह जिसको चाहती है उसको शक्तिशाली, उत्तम स्तोता, परोक्षज्ञानसंपन्न ऋषि तथा उत्तम मेधा-शक्ति से युक्त बना देती है। ब्रह्मद्वेषी असुरों का वध करने के लिये वही रुद्र को प्रेरित करके उनका धनुष चढ़वाती है और मनुष्यों की रक्षा के लिये युद्ध करती है। संसार के पिता (ब्रह्म) को भी वही उत्पन्न करती है। उसका जन्मस्थान समुद्र के जल (आकाश ?) में है। वह इस पृथ्वी और आकाश के ऊपर है और अपनी महिमा से स्वर्गलोक का स्पर्श करती है'—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः ।।१।।

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।।२।।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।।३।।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।।४।।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।।५।।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवेश ।।६।।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ।।७।।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के परवर्ती अंश में जगत् की उत्पादिका, सर्वसामर्थ्यशालिनी शक्ति के रूप में वाक् की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यही कारण है कि त्वष्टा तथा विश्वकर्मा जैसे शक्तिमान् अमूर्त देवताओं को वैदिक साहित्य में '**वाचस्पति**', या जगत् की कारणभूत इस परमशक्ति के अधिष्ठाता, कहा गया है—

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।

वा० सं० ८।४५

ऐतरेय ब्राह्मण (२।१।४) स्पष्ट शब्दों में कहता है कि वाक् ही त्वष्टा है। त्वष्टा की पूजा करने से यजमान वाक् की पूजा करता है। वाक् से सब कुछ उत्पन्न होता है अतः त्वष्टा को प्रजापति कहते हैं—

त्वष्टारं यजति। वाग्वै त्वष्टा। वाग्घीदं सर्वं ताष्टि इव। वाचमेव तत् प्रीणाति....।

इसी प्रकार **श० ब्रा०** में भी कई बार **'वाग्वै त्वष्टा'** वाक्य प्राप्त होता है और ३।१।३।२२ में प्रजापति को **वाक्-पति** कहा गया है—**प्रजापतिर्वै वाक्पतिः।**

अथर्ववेद (९।२।५) में इस वाक् को **विराज्** कहा गया है। सर्वव्यापक होने से वाक् विराज् या विराट् है। इसे काम की पुत्री तथा धेनु (सर्वान् कामान् धयति। सर्वकामदुघा) भी कहा गया है—

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम्।

इसी संहिता में अन्यत्र (तुरीया) वाक् और ब्रह्म को सम्बन्धित किया गया है—

... येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चित्....।

अ० वे० ८।९।३

ब्रह्म और वाक् के इस पारस्परिक सम्बन्ध और दोनों की संसार के आदि-कारण के रूप में मान्यता के कारण **वाक्** और **ब्रह्म** दोनों को ही स्थान-स्थान पर एक दूसरे का जनक बताया गया है (उदा०, **अथर्व०** ८।१०।७, **श० ब्रा०** १३।२।५।३)। किन्तु सामान्यतः प्रचलित ब्राह्मण-कालीन धारणाओं के अनुसार प्रजापति ब्रह्म के प्रतिनिधि हैं और वाक् है वस्तुतः उनकी पुत्री, जिसे सरस्वती के रूप में उनकी पत्नी भी बताया गया है।

ब्रह्म शब्द सूक्तों के अतिरिक्त यजुस् (यज्ञसूत्र) का तथा वेदों का भी वाची है[1]। साथ ही वह कर्मकाण्डीय ज्ञान का भी एक समूहवाचक सामान्य

---

१. तु० की०, **भागवत पुराण** ४।७।४० जहाँ ब्रह्म (वेद) को विष्णु की स्तुति करते हुए दिखाया गया है।

नाम है। प्रजापति इन सभी से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित हैं—विशेषतः कर्मकाण्डीय ज्ञान से। ब्रह्म के प्राचीन उत्कृष्ट अर्थ से भी उनका पूर्ण सम्बन्ध है ही। ब्राह्मण-ग्रन्थों में उनका रूप अमूर्त न होकर पूर्णतः मानवीय है अतः इस शब्द का पुल्लिंगरूप (ब्रह्मा) ब्राह्मणोत्तरकालीन साहित्य में प्रजापति का सामान्य नाम बन गया है[1]।

पौराणिक ब्रह्मा जी के चार मुख हैं जो निश्चित रूप से चारों वेदों के परिचायक हैं। ब्रह्म (वैदिक ज्ञान) भी चार भागों में विभक्त है। ब्राह्मण-काल में अथर्ववेद की महत्ता प्रतिष्ठित नहीं हो सकी थी और इसका कारण सम्भवतः उसमें निहित विषय की प्रकृति थी जो यज्ञएवं कर्मकाण्ड से सम्बन्धित न होकर लोक-विश्वास के इन्द्रजाल, यातविक कृत्य तथा यज्ञ की उपेक्षा करने वाले दार्शनिक विषयों से सम्बन्धित है। श॰ **ब्रा॰** ११।५।८।१-२ में आई एक छोटी सी कथा में कहा गया है कि संसार के अदि में प्रजापति अकेले थे। उन्होंने तपस्या की जिससे त्रिलोकी (पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश) का जन्म हुआ। इनसे क्रमशः तीन ज्योतियाँ अग्नि, वायु तथा

---

१. तारापद भट्टाचार्य नामक एक विद्वान् की चौखम्बा, वाराणसी से १९६९ में **दि कल्ट ऑफ ब्रह्मा** (द्वितीय संस्करण) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। आपका मत है कि ब्रह्मा जी आर्यों के देवता नहीं हैं। मूलतः वे आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में रहने वाली अनार्य जाति के सर्वप्रमुख देवता थे। मेसोपोटामिया तथा सुमेरिया आदि देशों के देवों से उनका साम्य अवभासित होता है। आर्यों के आने के बाद वैदिक देवताओं के उत्कर्ष ने ब्रह्मा के व्यक्तित्व को दबा दिया। तथापि यह शब्द एक महत्त्वसूचक विशेषण के रूप में आर्यों ने ले लिया और प्रजापति, त्वष्टा, बृहस्पति आदि देवों के साथ उनकी सर्वशक्तिमत्ता एवं सामर्थ्य को सूचित करने के लिये प्रयुक्त किया। आर्य संस्कृति के विकास के साथ-साथ ब्रह्मा का अपकर्ष होता गया और उपास्य देव के रूप में वे धीरे-धीरे भुला दिये गये। चट्टोपाध्याय जी का मत उपलब्ध वैदिक प्रमाणों के आधार पर ब्रह्मा जी की अवधारणा का विश्लेषण करने पर नितान्त अमान्य ठहरता है।

सूर्य उत्पन्न हुईं और इन तीन ज्योतियों से क्रमशः ऋक्, यजुस् तथा सामवेदों की उत्पत्ति हुई[1]।

पुराणों में ब्रह्मा जी का वेदों से सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट है। वेदों तथा आत्मतत्त्व की रक्षा करने के लिये उनका जन्म हुआ है (भाग० ४।७।१४)। भाग० ३।९।२४ में वे विष्णु से वरदान माँगते हैं कि उन्हें सृष्टि रचना में उलझे रहने पर भी वेदों का ज्ञान बना रहे—

रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः।

भाग० ३।१५।१४ में देवता उन्हें विज्ञानवीर्य कहते हैं। इसी अध्याय के ८वें श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मा जी की वाक्-शक्ति से सभी प्राणी उसी प्रकार बँधे हुए हैं जैसे रस्सी से गायें बँधी रहती हैं—

यस्य वाचा प्रजाः सर्वाः गावस्तन्त्र्येव यन्त्रिताः।

भाग० ३।१५।११ में उन्हें 'शब्दगोचर', (वेदगम्य) तथा **रामायण** (उत्तर० ३६।३) में 'वेदवित्' (तं तु वेदविदा तेन लम्बाभरणशोभिना) कहा गया है।

ब्रह्मा जी को प्रायः **स्वयंभूः** या **आत्मभूः** कहा जाता है। यह विशेषण वेद अथवा वैदिक ज्ञान के विषय में अधिक ठीक है जो भारतीय परम्परा के अनुसार नित्य माना जाता है और जिससे बाद में ब्रह्मा जी की धारणा विकसित हुई। पुराणों में वेदों को भी अनेकत्र स्वयंभू कहा गया है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम॥

विष्णु की नाभि से ब्रह्मा जी की उत्पत्ति पौराणिक औपचारिकता मात्र है। उनका कमल ज्ञान और जीवनी-शक्ति का प्रतीक है। ब्रह्मा की उत्पत्ति

---

१. **प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीद् एक एव। सः अश्राम्यत। स तपः अतप्यत। तस्मात् श्रान्तात् तेपानात् त्रयो लोका असृज्यन्त। पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः। तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींषि अजायन्त। अग्निर्योऽयं पवते सूर्यः। तेभ्यःस्तप्तेभ्यः त्रीणि ज्योतींषि अजायन्त। अग्नेः ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः।**

श० ब्रा० ११।५।८।१-३

विषयक धारणा की दृष्टि से **रामायण** ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों के बीच में अवस्थित है। उत्तरकाण्ड ४।९ में उन्हें **'सलिलसंभवः'** कहा गया है।

प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा ह्यपः सलिलसम्भवः।

इसी काण्ड में आगे (उत्तर० ५६।७) में कहा गया है कि ब्रह्मा जी अंडे ('हिरण्यगर्भ') से उत्पन्न होकर भी कमल से उत्पन्न कहे जाते हैं—

लोकनाथ महादेव अण्डजोऽपि त्वमब्जजः।

प्रजापति की अपनी पुत्री के प्रति आसक्ति

प्रजापति से केवल एक ही प्रमुख देव-कथा सम्बन्धित है और वह है उनके अपनी पुत्री से शारीरिक सम्बन्ध की। ऋग्वेद से लेकर परवर्ती पुराणों तक यह कथा लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में कई प्रकार से वर्णित की गई है और अपने इस धर्म-विरुद्ध तथा लोक-विरुद्ध कार्य के कारण ब्रह्मा जी परवर्ती साहित्य में अत्यन्त हेय दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। श० ब्रा०२।३।१।७-१० में यह कथा इस प्रकार दी हुई है—

प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरम् अभिदध्यौ दिवं व उषसं वा। मिथुनी एनया स्यामिति। तां संबभूव। तद्वै देवानामाग आस। य इत्थं स्वां दुहितरम् अस्माकं स्वसारं करोति इति। ते ह देवा ऊचुः यो अयं देवः पशूनामीष्टे अतिसन्धं व अयं चरति, य इत्थं स्वां दुहितरम् अस्माकं स्वसारं करोति। विध्य एनम्। तं रुद्रो अभ्यायत्य विव्याध। तथेन्नूनं तदास॥ श० ब्रा० २।३।१।७-१०

'प्रजापति अपनी पुत्री के प्रति आसक्त हो गये जिसे **द्यौः** या **उषा** कहते हैं। उन्होंने उसके साथ समागम करना चाहा। इससे देवता बड़े क्रुद्ध हुए। "ये हमारी बहन और अपनी पुत्री से ऐसा करना चाहते हैं"। उन्होंने पशुओं के पति रुद्र से कहा तुम इन्हें वेध डालो। रुद्र ने झपट कर प्रजापति को (वाण से) विद्ध कर दिया।'

यह तथ्य तो निस्सन्दिग्ध है कि यह देव-कथा किसी प्राकृतिक दृश्य का रूपकात्मक चित्रण है पर निश्चित रूप से इसके मूल रूप का पता लगाना कठिन है। **श० ब्रा०** ने इस ओर संकेत करते हुए कहा है कि प्रजापति की पुत्री **द्यौः** (आकाश, स्त्रीलिंग) या **उषा** है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है,

प्रजापति अपने प्राचीनतम रूप में सूर्य से भी सम्बन्धित हैं (पृ० ६५३-५४)। एक स्थान पर श० ब्रा० (२।३।१।७) कहता है कि सूर्य प्रजापति है और उसकी विविध किरणें विभिन्न देवता—

एते वै विश्वेदेवाः रश्मयः योऽथ यत्परं भाः स प्रजापतिः ।

सूर्य से उत्पन्न होने के कारण उषस् सूर्य या प्रजापति की पुत्री है। वह सूर्योदय के पूर्व प्रकट होती है, सूर्य उसके कुछ समय पश्चात्। इससे प्रतीत होता है कि सूर्य उषा का पीछा कर रहा है। दिन भर यह दौड़ चलती है। संध्याकाल में सूर्य के डूबने के बाद भी संध्या की लाली (सूर्य-पुत्री) अस्ताचल पर बनी रहती है इससे लगता है कि सूर्य अब आगे हो गया, उषा उसके पीछे रह गई। रक्तिमा और सूर्य-बिम्ब के पश्चिम आकाश में मिल जाने से कहा जा सकता है कि प्रजापति ने अपनी पुत्री को पकड़ लिया। श० ब्रा० ६।१।३।८ में प्रजापति को उषा का पति कहा गया है—**'स भूतानां पतिः अथ या सा उषा पत्नी सा'**। प्रजापति कथा की यही व्याख्या **कुमारिलभट्ट** आदि मीमांसकों को स्वीकार्य है। साथ ही स्वतः **श० ब्रा०** के एक अन्य उल्लेख से इसकी पुष्टि होती है। **वा० सं० ३।१०** में एक मन्त्र आता है—**सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसा इन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु।** **'इन्द्रवत्या उषसा'** की व्याख्या में श० ब्रा० कहता है कि 'इन्द्र ही सविता है, वह उषस् से संगम करता है'—**सवितृमत्प्रसवाय''' सेन्द्रं करोति । तद् उषसा मिथुनं करोति तत् सूर्याय प्रत्यक्षं जुहोति ।**

इस कथा का एक क्षीण उल्लेख ऋग्वेद के दो तीन अस्पष्ट मन्त्रों (१०।६१।५-७) में भी प्राप्त होता है किन्तु सम्भवतः इन मन्त्रों की कन्या पृथ्वी है और प्रजापति **द्यौः**। पीछे (पृष्ठ १५ पर) **द्यौः** के विवरण में कहा जा चुका है कि द्यौः के द्वारा वृष्टि रूपी रेतस् से पृथ्वी रूपी स्त्री को गर्भित करने का रूपक ऋग्वेद में प्रायः उल्लिखित है। ऋग्वेद के इन मन्त्रों में इसी रूपक की छाया है—

(क) **पुनस्तदा वहति यत्कनाया दुहितुः आ अनुभृतम् अनर्वा ।५।**

(ख) **मध्या यत्कर्त्वम् अभवद् अभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम् ।६।**

(ग) **पिता यत्स्वां दुहितरम् अधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो न्यषिञ्चत् ।७।**

ऐतरेय ब्राह्मण में यह कथा थोड़ी और क्रमबद्ध तथा विकसित है। पर

यहाँ आकर कथा अपने मूल प्राकृतिक क्षेत्र से सम्बन्धित होती हुई भी ज्योतिष के क्षेत्र में विचरने लगी है। "प्रजापति अपनी पुत्री के प्रति आसक्त हुए, जिस पुत्री को कुछ लोग द्यौः और कुछ उषा कहते हैं। वह मृगी का रूप धारण करके भागी तो प्रजापति ने मृग का रूप धारण करके उसका पीछा किया। देवों ने उसे देखा और आपस में कहा कि प्रजापति एक अकृत करने जा रहे हैं। उन्होंने उनको दण्ड देना चाहा। किन्तु उनमें से कोई भी इस योग्य नहीं था। तब उन्होंने अपने घोर और भयंकर रूपों को एकत्र किया। उन रूपों का आकार एक देवता (रुद्र) जैसा हो गया। देवों के तेज से उत्पन्न होने के कारण उसे भूत कहते हैं। देवों ने उससे कहा, प्रजापति अकृत करने जा रहे हैं, उन्हें बाण से विद्ध करो। उसने कहा—'बहुत अच्छा, पर पहले मुझे कोई वर दो। 'पशुओं पर तुम्हारा पूरा अधिकार रहेगा', देवों ने उससे कहा। 'ठीक है'। तभी उसे पशुपति कहते हैं। उसने मृगरूपी प्रजापति को बाण से विद्ध किया। विद्ध होने पर वह आकाश में चला गया। उसी को 'मृग' कहते हैं। जिसने मृग का पीछा किया वह मृग-व्याध है। हरिणी ही रोहिणी है और तीन काण्ड वाला बाण ही त्रिकाण्ड है"।

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम् अभ्यध्यायद्। दिवमित्यन्ते आहुः उषसमित्यन्ये। ताम् ऋष्यो भूत्वा रोहितं भूताम् अभ्यैत्। तं देवा अपश्यन्। अकृतं वै प्रजापतिः करोतीति। ते तमैच्छन् य एनम् आरिष्यति। एतम् अन्योन्यस्मिन् नाविन्दन्। तेषां या एव घोरतमाः तन्वः आसन् ता एकधा समभरन्। ताः संभृता एष देवः अभवत् तदस्य एतद् भूतवन्नाम भवति। तं देवा अब्रुवन् अयं वै प्रजापतिः अकृतम् अकः। इमं विध्य इति। स तथेत्यब्रवीत्। स वै वो वरं वृणा इति। वृणीष्वेति। स एतमेव वरम् अवृणीत पशूनाम् आधिपत्यम्। तदस्यैतत् पशुमन्नाम भवति। तम् अभ्यायत्य अविध्यत्। स विद्धः ऊर्ध्वं उदप्रपतत्। तमेतं मृग इत्याचक्षते। य उ एव मृगव्याधः स उ एव। स या रोहित् सा रोहिणी। य एव इषः त्रिकाण्डा स एव इषुस्त्रिकाण्डा।

ऐ० ब्रा० ३।३।९ (३।३३)

इस कथा के दो अंश है। प्रथम अंश में प्रजापति की अपनी पुत्री के प्रति आसक्ति एवं उनका दण्डित होना वर्णित है जिसके संकेत प्राचीनतर वैदिक ग्रन्थों

में भी मिलते हैं। द्वितीय अंश में **प्रजापति** नक्षत्र-समूह की कथात्मक व्याख्या है जिसे ग्रीक में ओरायन (Orion=क्षेत्र) कहते हैं। इस नक्षत्र-मण्डल में पाँच मुख्य नक्षत्र हैं: रोहिणी, मृगशिर, आर्द्रा, पुनर्वसु तथा मृगव्याध। शिशिर ॠतु के माघ तथा पौष मासों की रात्रि के प्रथम प्रहर में सिर के लगभग ठीक ऊपर यह मनोरम नक्षत्रचक्र अच्छी प्रकार दिखाई पड़ता है। द्वितीय प्रहर में यह चक्र पश्चिम की ओर ढलने लगता है और तब बिलकुल वही दृश्य उपस्थित हो जाता है जो उपर्युक्त कथा में वर्णित किया गया है उस समय इन नक्षत्रों की जो स्थिति होती है वह पृ० ६६९ पर दिये गये आलेख में अंकित है।

इस आलेख में सबसे दाहिनी ओर रोहिणी (Aldebaran) दृष्टिगोचर होती है। मध्य में उनके पीछे भागते हुए मृगरूपधारी प्रजापति (Orion) हैं और बाँई ओर इस मृग का पीछा करते हुए व्याधरूपी रुद्र (Canis Major)। रोहिणी का अर्थ है मृगी (रोहित्) और यह वृष राषि का सबसे प्रमुख और चमकीला तारा है। लौकिक साहित्य में इसके लिये केवल 'तारा' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है[1]। प्रजापति के चतुष्कोण बनाते हुए चार तारे ही मृग की चार टाँगें हैं और इस चतुष्कोण के ऊपर की ओर अवस्थित त्रिकोण बनाते हुए तीन तारे मृग का सिर (शिरस्)। यही कारण है कि इस नक्षत्र का नाम 'मृगशिरस्' है। श० ब्रा० २।१।२।८ में कहा है कि 'यह जो मृगशिरा (नक्षत्र) है, वह प्रजापति का सिर है'—**एतद् वै प्रजापतेः शिरो यन्मृगशीर्षम्**। बाँई ओर अवस्थित 'मृगव्याध' की व्याध के समान आकृति अगल-बगल के तारों को मिला कर बनती है। ऐसा लगता है मानों कोई व्यक्ति कमर में शस्त्र लटकाए, एक हाथ में धनुष लिये प्रजापति के पीछे भाग रहा हो। अपना बाण वह छोड़ चुका है। मृग के शरीर के अन्दर एक रेखा में अवस्थित जो तीन तारे हैं, वही रुद्र का बाण है जिससे प्रजापति रूपी मृग विद्ध हो गया है। इसी 'बाण' को आर्द्रा-नक्षत्र कहा गया है[2] जिसके स्वामी रुद्र बताये गये हैं।

---

१. तु० की०, **अनुचरति शशाङ्कं राहुदोषेऽपि तारा।**

प्रतिमानाटक १।२५

२. आधुनिक खगोल-शास्त्री प्रजापति-मृग के चार तारों में बाँई ओर ऊपर जो सबसे चमकीला तारा है, उस एक तारे (Alfa Orionis) की पहचान आर्द्रा-नक्षत्र से करते हैं। किन्तु लेखक की इससे सहमति नहीं है क्योंकि वैदिक परम्परा से इसकी पुष्टि नहीं होती।

प्रजापति और उनकी पुत्री की कथा का खगोलीय आधार
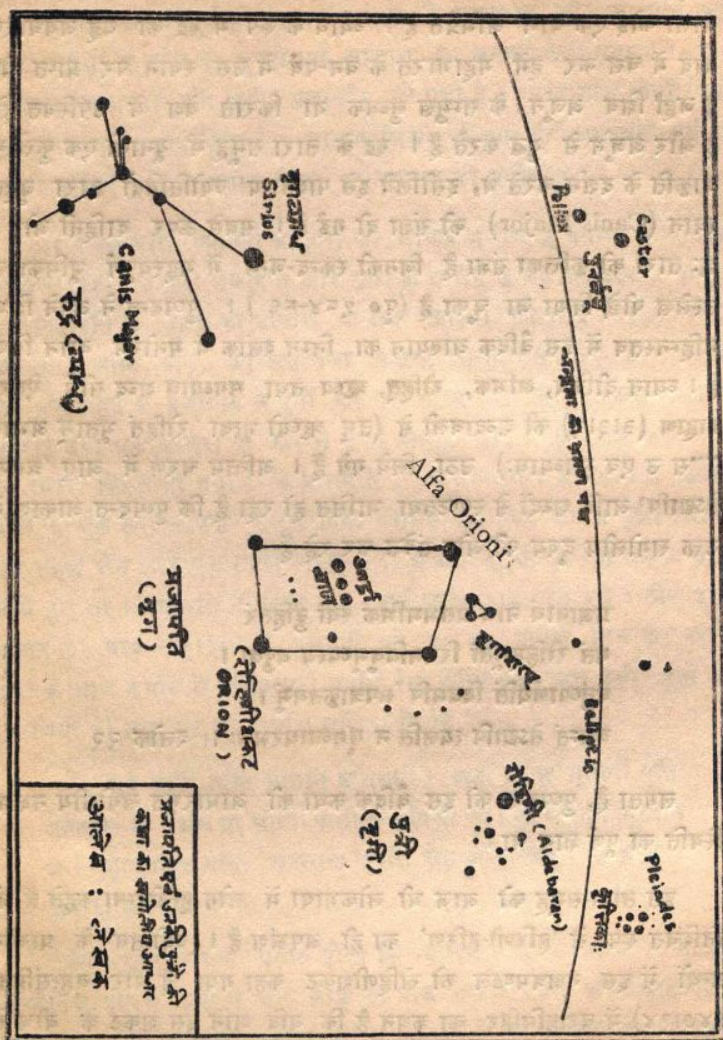
मृगव्याध, प्रजापति एवं रोहिणी को द्योतित करने वाले तारे

रुद्र का यह बाण तीन नोकों वाला (त्रिशूल) है। तथापि **ऐ० ब्रा०** के 'इषुस्त्रिकाण्डः' शब्द से लगता है कि उक्त ग्रन्थ में तीन काण्ड (शलाका) वाला कोई एक बाण अभिप्रेत है। व्याध के रूप में रुद्र की यह अवधारणा बाद में चल कर हमें महाभारत के वन-पर्व में उस स्थान पर प्राप्त होती है जहाँ शिव अर्जुन के सम्मुख लुब्धक या किरात वेश में उपस्थित होते हैं और अर्जुन से युद्ध करते हैं। रुद्र के तारा समूह में यूनानी एक कुत्ते की आकृति के दर्शन करते थे, इसीलिये इसे पाश्चात्य ज्योतिर्विदों द्वारा बृहत्-श्वान (Canis Major) की संज्ञा दी गई है। सबसे ऊपर दाहिनी ओर के छः तारों की **कृत्तिका** संज्ञा है जिनकी स्कन्द-जन्म में महत्त्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख पीछे किया जा चुका है (पृ० ५८४-८६)। पुष्पदन्त ने अपने शिव-महिम्नस्तव में इस वैदिक आख्यान का निम्न श्लोक में मनोरम वर्णन किया है। ध्यान दीजिये, **अभिकं, रोहित्, ऋष्य** तथा **मृगव्याध** शब्द सीधे **ऐतरेय ब्राह्मण** (३।३।९) की शब्दावली से (तम् ऋष्यो भूत्वा रोहितं भूताम् अभ्यैत् .....स उ एव मृगव्याधः) उठा लिये गये हैं। अन्तिम चरण में आए **'त्रसन्तं तेऽद्यापि'** आदि शब्दों से स्पष्टतया भासित हो रहा है कि पुष्पदन्त आकाश के उक्त खगोलीय दृश्य की ओर संकेत कर रहे हैं—

> **प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं**
> **गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा ।**
> **धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं ।**
> **त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥** श्लोक २२

लगता है, पुष्पदन्त को इस वैदिक कथा की आधारभूत खगोलीय नक्षत्र-स्थिति का पूर्ण ज्ञान था।

इस **तारा-समूह** को आज भी लोकभाषा में लोग **हन्नीहन्ना** कहते हैं जो निश्चित रूप से **'हरिणी-हरिण'** का ही अपभ्रंश है। ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थों में इस नक्षत्रमण्डल को रोहिणीशकट कहा गया है और **बृहत्संहिता** (४७।१४) में **वराहमिहिर** का कथन है कि यदि शनि इस शकट के बीच से होकर निकल जाये तो १२ वर्षों तक पानी नहीं बरसता। **तै० सं०** ४।४।१० में विभिन्न नक्षत्रों और उनके अधिष्ठाता देवों के परिगणन में **'रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता'** तथा **'आर्द्रा नक्षत्रं रुद्रो देवता'** आदि जो कहा गया है उससे इस कथा की ओर हलका सा संकेत प्राप्त होता है।

शतपथ और **ऐतरेय** दोनों ही स्पष्टतः कहते हैं कि प्रजापति की पुत्री को कुछ लोग **द्यौः** मानते थे और कुछ **उषा**। पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन-तर वैदिक काल में सूर्य ही प्रजापति शब्द से वाच्य था और प्रजापति को ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकशः पृथ्वी एवं आकाश का जनक कहा गया है। इस प्रकार आकाश या द्यौः (स्त्री) प्रजापति की पुत्री है। प्रातःकाल दोनों (सूर्य एवं द्यौः) का संयोग होता है। प्रातःकालिक रक्तिमा ही सम्भवतः सूर्य के अपनी पुत्री के प्रति जायमान 'राग' या अनुराग की प्रतीक है।

पर उषस् वाली व्याख्या ब्राह्मणों को अधिक अभीष्ट है क्योंकि **कौषीतकि ब्राह्मण** ६।१-९ में पुनः प्रजापति और उषा के संयोग से रुद्र की उत्पत्ति वर्णित है। प्रजापति ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिये तपस्या की और तपस्या करते हुए उनके अग्नि, वायु, आदित्य तथा चन्द्रमा नामक पुत्र और उषा नामक एक कन्या हुई। प्रजापति ने पुत्रों को तप करने का आदेश दिया। तभी सुन्दरी उषा एक अप्सरा के रूप में उनके सम्मुख आई। उसे देख कर चारों का चित्त विकृत हो गया। वे प्रजापति के पास पहुंचे। प्रजापति ने उनके बीज को एक स्वर्ण-चषक में रख दिया। उससे एक पुरुष उत्पन्न हुआ जिसके एक सहस्र नेत्र और एक सहस्र चरण थे। वे अपने हाथों में एक सहस्र बाण लिये हुए था। प्रजापति ने उसके भव, शर्व आदि आठ नाम रखे। ठीक इसी प्रकार श० ब्रा० ६।१।३।८ में प्रजापति को वर्ष का प्रतीक मान कर उनके **उषा** के साथ संयोग से **(संवत्सरः उषसि रेतः असिञ्चत्) ऋतु** रूपी भूतों की (प्राणियों ?) तथा रुद्र की उत्पत्ति वर्णित की गई है—

> **तद् यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते। अतः यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सः। अथ या सोषाः पत्नी—औषसी सा। तानीमानि भूतानि च। भूतानां च पतिः संवत्सरः उषसि रेतः असिञ्चत्। स संवत्सरे कुमारः अजायत।**
> श० ब्रा० ६।१।३।८

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होगा कि प्रजापति और उनकी कन्या की ऋग्वैदिक अस्पष्ट कथा के भाव मात्र को बीज रूप में ग्रहण करके ब्राह्मणों ने अनेक प्रकार की याज्ञिक तथा अयाज्ञिक कथाओं के रूप में पल्लवित किया। स्पष्ट है कि ब्राह्मण काल ही में इस कथा के मूल प्राकृतिक दृश्य की व्यक्तिगत रुचि के अनुसार विविध प्रकार से व्याख्या की जाने लगी थी।

कर्मकाण्ड के अत्यधिक प्रचार और यज्ञ की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के कारण

जगत् के आदिकारण के रूप में ब्रह्म और वाक् का कितना महत्त्व था, इस पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। ब्रह्म और वाक् दोनों अन्योन्याश्रित हैं। वे दोनों सृष्टि के आदि रूप हैं। **पंचविंशब्राह्मण** २०।१४।२ कहता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में दो ही तत्त्व थे, प्रजापति और वाक्—**प्रजापतिर्वै इदम् एकः आसीत् तस्य वाक् एव स्वमासीद् वाग् द्वितीया;** और वाक् के स्त्रीलिंग होने के कारण उसकी ब्रह्म (पुं० तथा नपु० लिंग) की पत्नी के रूप में परिकल्पना अत्यधिक स्वाभाविक है। **कृष्ण यजुर्वेद** की **काठक संहिता** (१२।५ तथा २७।१) में वाक् को स्पष्ट शब्दों में एक साथ प्रजापति की पुत्री तथा पत्नी कहा गया है। दोनों के संयोग के सांसारिक प्राणियों की उत्पत्ति होती है और तदनन्तर प्रजापति की शक्ति वाक् उन्हीं में प्रविष्ट हो जाती है—

> **प्रजापतिर्वै इदमासीत्। तस्य वाक् द्वुहिता आसीत्। ताम् मिथुनं समभवत् सा अस्माद् अपाक्रामत्। सा इमाः प्रजाः असृजत्। सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत्।।**

श० ब्रा० ६।१।२।५-९ में प्रजापति और वाक् के 'मानसिक-संयोग' द्वारा कमशः वसुओं, रुद्रों, आदित्यों तथा विश्वेदेवों की उत्पत्ति वर्णित है—

> **स (प्रजापतिः) इमाँल्लोकान्तसृष्ट्वा अकामयत। ताः प्रजाः सृजेय याम एषु लोकेषु स्युरिति। सा मनसा वाचं मिथुनं समभवत्। सः अष्टौ द्रप्सान् गर्भ्यभवत् ते अष्टौ वसवः असृज्यन्त····।**

सम्भवतः इन्हीं संकेतों के आधार पर **बृहद्देवता** ५।९७-१०३ में त्रिसांवत्सरिक यज्ञ करते हुए प्रजापति का शरीरिणी-वाक् को देखकर विकार-ग्रस्त हो जाना वर्णित है।

वाक् के इस स्वतन्त्र उल्लेख के साथ ही प्रायः ब्राह्मणों में ऋग्वेद की प्रसिद्ध देवी **सरस्वती** का भी वाक् से तादात्म्य प्राप्त होता है। **'वाक् वै सरस्वती'** यह ब्राह्मणों में सरस्वती के विषय में प्रायः आने वाला वाक्य है (**श० ब्रा०** ३।९।१।७, ५।२।२।१४, ५।३।५।८; **ऐ० ब्रा०** ३।१।१०, ६।२।३; **कौ० ब्रा०** ५।२ तथा १४।५ आदि)। **तै० सं०** १।८।१९ में सरस्वती को 'सत्यवाक्' कहा गया है और उससे स्तोता को मधुमती वाणी से युक्त बनाने की प्रार्थना की गई है। प्राचीन सरिता-देवी सरस्वती का वाक् से यह तादात्म्य स्वाभाविक भी है क्योंकि उसे **ऋ० वे०** में सुन्दर सूक्तों को प्रेरित करने वाली,

उत्कृष्ट बुद्धि को उद्बुद्ध करने वाली, सद्विचारों को जन्म देने वाली तथा यज्ञ को धारण करने वाली कहा गया है—

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ॥
ऋ० १।३।११

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति ॥
ऋ० १।३।१२

सरस्वती साधयन्ती धियं नः। ऋ० २।३।८

इतना होने पर भी ऋग्वैदिक सरस्वती में उसका नदी का रूप ही प्रधान है[1], वाणी, सूक्त और बुद्धि से सम्बन्धित अमूर्त रूप नहीं। साथ ही उसे 'सुभगा' (मंगलमयी) तथा 'वाजिनीवती' (धन-सम्पत्ति प्रदान करने वाली) भी कहा गया है। पर ब्राह्मणों में सरस्वती की केवल एक ही विशेषता पर बल दिया गया है, और यह कि वह 'वाक् है'। इस पूर्ण तादात्म्य के कारण वाक् के अधीश्वर ब्रह्म (ब्रह्मा) या प्रजापति का सरस्वती के पति बन जाना स्वाभाविक था। महाकाव्यों तथा पुराणों में सर्वत्र सरस्वती ब्रह्मा जी की पत्नी और पुत्री हैं। प्रजापति और उनकी पुत्री के संयोग की ब्रह्म और वाक् के संयोग के रूप में व्याख्या ही श्रीमद्भागवतकार को भी अभीष्ट है क्योंकि वे लिखते हैं—

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः।
अकामां चकमे क्षत्तः सकामः इति नः श्रुतम् ॥
भाग० ३।१२।२८

ब्रह्मा जैसे जगत्-स्रष्टा देवता के विषय में ऐसी कल्पना बाद के विद्वानों को मनः-पूत नहीं हुई। उन्होंने इस कथा की कई प्रकार से व्याख्या करके प्रजापति को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा की है। **मत्स्य पुराण** प्रजापति के इस दुष्कृत्य की एक सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करता है (अध्याय ४, श्लोक १-१०)। मनु मत्स्य-भगवान् से इस विषय में प्रश्न करते हैं—

अहो कष्टतरं चैतद् अंगजागमनं विभो।
कथं न दोषमगमत् कर्मणानेन पद्मभूः ? मत्स्य ४।१

---

१. मैक्डानल, वै० मा०, पृ० ८६।

मत्स्य-भगवान् पहले तो मनु को इस प्रकार समझाते हैं कि यह सृष्टि रजोगुणयी तथा अत्यन्त रहस्यमय है। इनके सब रहस्यों को मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि से नहीं जान सकता और विशेषतः देवताओं की बात को तो देवता ही समझ सकते हैं, मनुष्य नहीं (विदन्ति मार्गं दिव्यानां दिव्या एव न मानवाः, ४।५)। बाद में वे इस कथा की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा जी सभी वेदों के अधिष्ठाता हैं। वे स्वयं वेदमय हैं। वेदों का अंश होने के कारण गायत्री ब्रह्मा जी के शरीर से उत्पन्न मानी जाती है। इसी गायत्री को सावित्री, सरस्वती, ब्रह्माणी तथा भारती कहते हैं (देखिये ३।३२)। दोनों का यह मिथुन मूर्त (देव रूप में) भी है और अमूर्त (वेद, गायत्री) भी। अतः जहाँ ब्रह्मा रहते हैं, वहाँ सरस्वती भी होती है और जहाँ सरस्वती होती है, वहाँ ब्रह्मा जी रहते हैं। दोनों का कभी वियोग नहीं होता क्योंकि ब्रह्मा जी वेद (ज्ञान) की राशि हैं और सरस्वती है गायत्री। अतः दोनों के संयोग में कोई दोष नहीं है—

> अन्यच्च सर्ववेदानामधिष्ठाता चतुर्मुखः।
> गायत्री ब्रह्मणस्तद्वत् अंगभूता निगद्यते ॥७॥
>
> अमूर्तं मूर्तमद् वापि मिथुनं तत् प्रचक्षते।
> विरिंचिर्यत्र भगवान् तत्र देवी सरस्वती।
> भारती यत्र यत्रैव तत्र तत्र प्रजापतिः ॥८॥
>
> यथातपो न रहितश्छायया दृश्यते क्वचित्।
> गायत्री ब्रह्मणः पार्श्वं तथैव न विमुञ्चति ॥९॥
>
> वेदराशिः स्मृतो ब्रह्मा सावित्री तदधिष्ठिता।
> तस्मान्न दोषः कश्चित् स्यात् सावित्रीगमने विभो ॥१०॥
>
> मत्स्य ४।७-१०

इसमें सन्देह नहीं कि प्रजापति के अपनी पुत्री से समागम करने के दोष की इससे सुन्दर व्याख्या नहीं हो सकती। साथ ही यह व्याख्या मनगढ़न्त नहीं, अपितु प्रजापति के ऐतिहासिक विकास पर आधारित है और यथार्थ से अनुप्राणित है। ब्रह्मा और सरस्वती की इस एकरूपता के कारण मत्स्य-पुराण ने सरस्वती को ब्रह्मा की 'पुत्री' नहीं अपितु 'अंगभूता' बताया है। उसके अनुसार ब्रह्मा ने ही अपना आधा रूप स्त्री का और आधा पुरुष का बना लिया था—

ततः संजपतस्तस्य भित्त्वा देहमकल्मषम् ।
स्त्रीरूपमर्धमकरोद् अर्धं पुरुषरूपवत् ।
शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते । १।३०-३१

सामान्य बुद्धि के अनुसार सृष्टि के प्रसार के लिये आदिम युग्म का पारस्परिक संसर्ग होना आवश्यक है, भले ही वे यम-यमी की भाँति भाई-बहन हों या प्रजापति और सरस्वती की भाँति पिता-पुत्री। अतः इस सम्भावना को निर्मूल करने के लिये **मत्स्य०** तथा **मनुस्मृति** आदि परवर्ती ग्रन्थों में दोनों को परस्पर सम्बन्धित न मान कर एक ही अविभाज्य तत्त्व के दो अंश बताया गया है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहम् अर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥

ब्रह्म-पुराण में, जिसमें पौराणिक कथाओं के अपेक्षाकृत प्राचीनतर रूप पाये जाते हैं, प्रजापति और उनकी पुत्री की यह कथा **ऐतरेय ब्राह्मण** के आधार पर दी हुई है। पर ग्रन्थकार ने चतुरतापूर्वक यहाँ प्रजापति की पुत्री को **त्वष्टा** की पुत्री **संज्ञा** (वैदिक **सरण्यू**) से सम्बन्धित कर दिया है। विवस्वान् तथा अश्विनौ के प्रसंग में उषा की प्रतीक इस **संज्ञा** का वर्णन किया गया है (देखिये पीछे पृ० २४५-२४८)। दोनों के बीच की सामान्य-शृंखला है—उषा से उनकी उत्पत्ति। **ब्रह्म पु०** ८६।३ त्वष्टा की पुत्री के विषय में कहता है—

कश्यपस्य सुतो ज्येष्ठ आदित्यो लोकविश्रुतः ।
तस्य पत्नी उषा ख्याता त्वाष्ट्री त्रैलोक्यसुन्दरी ॥

इसी प्रकार **'दुष्प्रेक्षं तं स्वकं कान्तं ध्यायन्ती निश्चला उषा'** (८९।१२) तथा **'पर्यधावद्यतो याति उषा भानुस्ततस्ततः'** (८९।२८) आदि श्लोकों में भी त्वष्टा की पुत्री और विवस्वान् की पत्नी इस देवी को **उषा** बताया गया है। **श० ब्रा०** तथा **ऐ० ब्रा०** के उपर्युल्लिखित उद्धरणों में भी प्रजापति की पुत्री को 'उषा' बताया ही गया है, अतः **ब्रह्मपुराण** प्रजापति की कथा को इस प्रकार उपन्यस्त करता है—

सर्वासामुत्तमां काञ्चित् निर्ममे लोकसुन्दरीम् ।
तां दृष्ट्वा विकृता बुद्धिर्ममासीत् मुनिसत्तम ॥

गृह्यमाणा मया बाला सा मां दृष्ट्वा पलायिता।
मृगीभूता तु सा बाला मृगोऽहमभवं तदा ।।
मृगव्याधोऽभवच्छंभुः धर्मसंरक्षणाय च।
धनुर्गृहीत्वा सशरमीशोऽपि मृगरूपिणम्।
मामुवाच वधिष्ये त्वां मृगव्याधस्तदा हरः ।।
तत्कर्मणो निवृत्तोऽहं प्रादां कन्यां विवस्वते ।।

ब्रह्म पु० १०२।३-७

जिस कन्या की ओर पहले प्रजापति आकृष्ट होते हैं, मृगव्याधरूपी रुद्र के हस्तक्षेप पर वही कन्या बाद में पत्नी के रूप में **विवस्वान्** को दे दी जाती है। प्रजापति की कन्या उषा है और विवस्वान् की पत्नी भी उषा। अतः इस कन्या के विवस्वान् की पत्नी बन जाने का रहस्य तुरन्त समझ में आ जाता है।

त्वष्टा और प्रजापति की पुत्रियों के तादात्म्य का एक अन्य कारण **विश्वकर्मा** का दोनों से सम्बन्ध भी है। विश्वकर्मा और प्रजापति की धारणाएँ ऋग्वेद तथा ब्राह्मणों में बिलकुल एक हैं किन्तु पुराणों में 'विश्वकर्मा' **त्वष्टा** का ही दूसरा नाम है और दोनों एक ही देवता को सूचित करते हैं।

प्रजापति और दक्ष

पुराणों में आकर **प्रजापति** शब्द लगभग एक विशेषण बन गया है जो मुख्यतः ब्रह्मा जी के लिये प्रयुक्त होते हुए भी प्रजा की वृद्धि में योग देने वाले कुछ मुनियों के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। **पद्म पुराण** ४।३२ में **भृगु, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु,** अंगिरा, **मरीचि, अत्रि, वसिष्ठ** तथा **दक्ष** ये नौ प्रजापति माने गये हैं—

पुलस्त्योऽत्रिर्वसिष्ठश्च क्रतुश्च पुलहस्तथा।
भृगुर्मरीचिर्दक्षश्च अंगिरा च तपोधनः।
प्रजापतयः पुराणेष्वेते नव विनिश्चिताः ।।

पद्म पु० ४।३२

इस सूची में आये **दक्ष** के साथ प्रजापति विशेषण विशेष रूप से सम्बन्धित हैं। जहाँ भी पुराणों में दक्ष का उल्लेख आया है वहाँ उन्हें 'दक्ष-प्रजापति' कहा गया है। इसका मूल भी काफी प्राचीन है। **श० ब्रा०** २।४।४।२ में कहा गया है कि 'प्रजापति को ही दक्ष कहते हैं। दाक्षायण यज्ञ को सर्व-प्रथम प्रजापति ने ही सम्पन्न किया था इसीलिये उसका नाम दाक्षायण है'—

'स वै दक्षो नाम तद् यदनेन सः अग्रे अयजत तस्माद् दाक्षायणो नाम' ।

पुराणों में तो दक्ष और प्रजापति का व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् है किन्तु ब्राह्मणों में दोनों पूर्णतः अभिन्न हैं । **तै० सं०** २।३।५ में कहा है कि **प्रजापति** के ३३ कन्याएँ थीं । उन्होंने वे सोम (चन्द्रमा) को दे दीं । किन्तु उनमें से वह रोहिणी के प्रति अधिक आसक्त रहने लगा । शेष स्त्रियाँ कुपित होकर प्रजापति के पास आ गईं । जब सोम उन्हें लेने गया तो प्रजापति ने उसे सबके साथ समान व्यवहार करने का आदेश दिया । किन्तु जब सोम ने फिर भी ऐसा न किया तो प्रजापति ने उसके लिये यक्ष्मा (क्षय) की सृष्टि की । यक्ष्मा से ग्रस्त होकर सोम क्षयी हो गया—

> **प्रजापतेः त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञे अद-**
> **दात् । तासां रोहिणीमुपैत् । ता ईर्ष्यन्तीः पुनरगच्छन् । ताः अन्वैत ।**
> **ताः पुनरयाचत । ता अस्मै न पुनरददात् । सः अब्रवीत् ऋतममीष्व**
> **यथा समावच्छ उपैष्याम्यथ ते पुनर्दास्यामि इति । स ऋतमामीत् ।**
> **ता अस्मै पुनरददात् । तासां रोहिणीमेवोपैत् । तं यक्ष्म आर्च्छद् ।**
> **राजानं यक्ष्म आरद् इति ।** तै० सं० २।३।५

महाभारत (शल्य० ३५।४५-६२) में यह कथा बिलकुल इसी रूप में प्राप्त होती है । किन्तु प्रजापति का स्थान दक्ष ने ले लिया है और कन्याएँ ३३ न होकर २७ हैं जिन्हें विभिन्न नक्षत्र बताया गया है । चन्द्रमा, सरस्वती और समुद्र के संगम पर (प्रभास क्षेत्र में) स्नान करके रोग से आधे मुक्त हो जाते हैं और दक्ष पन्द्रह दिन तक उनकी वृद्धि की तथा पन्द्रह दिन तक क्षय की व्यवस्था कर देते हैं । रोहिणी-शकट के पास चन्द्रमा की स्थिति, उसका नक्षत्रपतित्व, २७ नक्षत्रों की कल्पना एवं शुक्ल और कृष्ण-पक्ष में चन्द्रमा की वर्धमान और क्षीयमाण कलाओं के ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर निर्मित इस प्राचीन कथा में अत्यधिक मानवीयता है । **श्रीमद्भागवत** ६।६।२३-२६ तथा अन्य पुराणों में भी यह कथा लगभग इसी रूप में प्राप्त होती है ।

प्रजापति और दक्ष के प्राचीन ऐकात्म्य की सिद्धि **महा० शान्ति** २०८।७ से भी होती है । इस कथा में कहा गया है कि दक्ष का नाम 'क' भी है । **श्रीमद्भागवत** ४।६।३ में भी दक्ष को 'क' कहा गया है—**न कस्याध्वरमीयतुः** । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह 'क' ब्राह्मणों में प्रजापति

का प्रमुख नाम है। दक्ष और प्रजापति के इसी सम्बन्ध ने, तथा प्रजापति को रुद्र द्वारा दण्ड दिये जाने की कथा ने पुराणों में दक्षयज्ञ-विध्वंस के आख्यान को जन्म दिया है जिसका विशेष वर्णन रुद्र के प्रसंग में किया जा चुका है।

प्रजापति के रूपान्तर

विष्णु के प्रसंग में कहा गया है कि पुराणों में वर्णित विष्णु के **वराह**, **कूर्म** तथा **मत्स्य** अवतार मूलतः प्रजापति के ही विविध रूप थे किन्तु बाद में उन्हें विष्णु ने आत्ममात् कर लिया (देखें, पृ० ३४१, ३५८, ३६४)। श० ब्रा० (१४।१।२।११) के **'इयती वा इयमग्रे पृथ्वी आसीत् प्रादेशमात्री। ताम् एमूष इति वराह उज्जघान। स अस्याः पतिः प्रजापतिः'** तथा तै० सं० ७।१।५ के **'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिः वायुर्भूत्वा अचरत्। स इमामपश्यत्। तां वराहो भूत्वा अहरत्'** आदि वाक्यों में प्रजापति द्वारा वराहरूप धारण करके जलमग्न पृथ्वी के उद्धार करने का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार श० ब्रा० ७।५।१।५ के इन वाक्यों में प्रजापति के कूर्म-रूप का संकेत है और इसी ने विष्णु के कूर्म अवतार की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है—**'स यत् कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत्''''यदकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः'**। श० ब्रा० १।८।१।१-६ में मनु के हाथ में अचानक आ जाने वाली और फिर अत्यन्त विस्तार से बढ़ने वाली जिस मछली का उल्लेख है उसे महा० वन १८७।५२ में स्पष्ट रूप से प्रजापति का रूप बताया गया है—**अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते।** मत्स्य पु० में भी यह विराट् मत्स्य प्रजापति का ही एक रूप है, किन्तु परवर्ती वैष्णव-पुराणों ने उसे विष्णु के अवतार के रूप में दृढ़तया स्थापित कर दिया है।

प्रजापति जैसे अमूर्त देवों की धारणा का उद्भव विद्वानों द्वारा वैदिक देवों के विकास क्रम में सबसे परवर्ती माना जाता है। यहाँ एक रोचक तथ्य यह ध्यातव्य है कि ब्राह्मणों में भी देवों की परिगणना में प्रजापति को सबसे अन्त में रखा गया है। श० ब्रा० ५।१।२।१३ में कहा गया है कि 'देवता ३३ हैं और प्रजापति ३४वें देवता हैं'—**त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः।** ११।६।३।५ में प्रजापति को ३३वें देवता माना गया है। आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्यों के बाद बत्तीसवें देवता हैं इन्द्र, और तैंतीसवें प्रजापति। ऐ० ब्रा० १।२।४ इन्द्र को आदित्यों में परिगणित करके इन ३१ वैदिक

देवताओं के अतिरिक्त बत्तीसवाँ देवता प्रजापति को मानता है और तेंतीसवाँ **वषट्कार** को। इस प्रकार संहिताओं में उल्लिखित देवों की तेंतीस संख्या पूर्ण हो जाती हैं।

ब्रह्मा का लोक-पितामहत्व

सम्पूर्ण प्रजा के जनक होने के कारण प्रजापति ब्राह्मणों में देव तथा असुर दोनों के जनक कहे गये हैं। **'देवाश्च असुराश्च उभे प्राजापत्याः पस्पृधिरे'** यह ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रायः आने वाला वाक्य है (उदा० **श० ब्रा०** ५।१।१।१, **तै० सं०** २।३।७,६।३।२ आदि। यज्ञ के किसी विशेष कृत्य के महत्त्व की व्याख्या प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थ इसी प्रकार करते हैं कि 'देव और असुर दोनों ही प्रजापति के पुत्र थे। उनमें आपस में एक दूसरे से आगे बढ़ने की बड़ी स्पर्धा रहती थी। देवों ने अमुक यज्ञ या विशेष कृत्य किया जिससे वे बढ़ गये' (**तै० सं०** २।३।७,६।३।२ आदि)। महाभारत, रामायण तथा पुराणों में सर्वत्र असुर ब्रह्मा जी का अत्यन्त सम्मान करते हुए एवं कामनाओं की पूर्ति के लिये तपस्या आदि से उन्हें प्रसन्न करते हुए वर्णित किये गये हैं। **रामा०** बाल० १८।३२ में कहा गया है कि देवता और राक्षस दोनों ही ब्रह्मा जी के पुत्र हैं किन्तु वे देवों से अधिक प्रसन्न रहते हैं—**'बभूव परमप्रीतो देवैरिव पितामहः**। **रामायण** के पराक्रमी किन्तु अत्याचारी राक्षस रावण को भी उन्होंने ही वर दिया था जिससे वह दुर्जेय हो गया था—

> **स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिन्दम।**
> **येन तुष्टोऽभवद् ब्रह्मा लोकभृत् लोकपूर्वजः॥**
> **सन्तुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः।**
> **नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात्॥**

उसके अत्याचारों से उद्विग्न होकर देवता ब्रह्मा जी के पास जाकर कहते हैं—

> **भगवंस्तवप्रसादेन रावणो नाम राक्षसः।**
> **सर्वान् नो बाधते वीर्यात् शासितुं तं न शक्नुमः॥१५।६**

इसी प्रकार वे कुम्भकर्ण तथा विभीषण को भी अभीष्ट वर प्रदान करते हैं (उत्तरकाण्ड, १० सर्ग)। **महा० वन०** २७५।१६-२५ में भी इन तीनों भाइयों की तपस्या से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा जी द्वारा उनको वर दिया जाना वर्णित है। **श्रीमद्भागवत** (स्कन्ध ७, अ० ३) में हिरण्यकशिपु दैत्य द्वारा ब्रह्मा को तुष्ट करने के लिये दोनों हाथ ऊपर उठा कर तथा पंजों के बल खड़े

होकर तपस्या करने का वर्णन है। वह इतनी तपस्या करता है कि चींटियाँ उसके शरीर के मांस, रक्त तथा त्वचा को चाट जाती हैं और उसकी अस्थियाँ भर बच रहती हैं। अन्त में ब्रह्मा जी जाकर अपने कमंडलु का जल छिड़क कर उसे स्वस्थ करते हैं और वर प्रदान करते हैं (श्लोक २२, २३ तथा ७।४।१-६)।

महाभारत की कुछ अन्य कथाओं में भी ब्रह्मा जी दानवों तथा असुरों के वर-प्रदाता के रूप में चित्रित किये गये हैं। **आदि०** २०८।१७-२५ में वे **सुन्द** एवं **उपसुन्द** नामक दैत्य-भाइयों को वर देते हैं तथा **कर्ण०** ३३।६-१६ में तारकासुर के **विद्युन्माली, तारकाक्ष** और **कमलाक्ष** नामक पुत्र ब्रह्मा जी को तुष्ट करके त्रिपुर का निर्माण करते हैं और युद्ध में दुर्जेयता प्राप्त करते हैं। **पद्मपुराण** में (सृष्टि०, २५वाँ अध्याय) **वाष्कलि** नामक दैत्य ब्रह्मा जी के वरदान से अत्यन्त पराक्रमी हो जाता है।

राक्षस ब्रह्मा जी को अपना जनक मानकर सदा उनका आदर करते हुए तथा उनके आदेश का पालन करते हुए वर्णित किये गये हैं। ब्रह्मा जी भी उनके ऊपर पुत्रवत् स्नेह रखते हैं। **पद्मपुराण** (सृष्टि०, १६वाँ अध्याय) में ब्रह्मा जी एक विशाल यज्ञ का आयोजन करते हैं और देवों तथा ऋषियों के साथ-साथ राहु, वृत्र, शंबर, वातापि, केशी, नमुचि, बलि तथा वृषपर्वा आदि दानवों को भी सादर निमन्त्रित करते हैं। ये दानव यज्ञ में ब्रह्मा जी का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं—"भगवन्, आपने ही हम लोगों की सृष्टि की है, हमें तीन लोकों का राज्य दिया है तथा देवों से अधिक बलवान् बनाया है। हम स्वयं ही अपने कर्त्तव्य का निर्णय करने में समर्थ हैं। अदिति के गर्भ से उत्पन्न इन देवताओं से क्या काम सधेगा? अतः आज्ञा दीजिये, इस यज्ञ में हम आपका कौन सा अभीप्सित कार्य करें"—

> **त्वयैव भगवन् सृष्टा वयं सर्वे पितामह।**
> **त्रैलोक्यराज्यं चास्मभ्यं त्वया दत्तं जगत्प्रभो ॥**
> **अभूम त्वत्प्रसादेन देवेभ्यो बलवत्तराः।**
> **अभीप्सितं हि यज्ञेऽस्मिन् ब्रूहि किं करवाम ते?**
> **स्वयमेव क्षमाः कर्त्तुं वयं कार्यविनिश्चयम्।**
> **किं वराकैर्निकृष्टैश्च देवैरदितिगर्भजैः ॥**
>
> पद्म० १६।४१-४३

इस उद्धरण में ब्रह्मा जी का यज्ञ से प्राचीन सम्बन्ध भुलाया नहीं गया है। पर ऐसे प्रसंग महाकाव्यों तथा पुराणों में बहुत कम हैं। कारण यह है कि पौराणिक युग में आकर यज्ञ और कर्मकाण्ड का महत्त्व ब्राह्मणकाल की तुलना में बहुत घट गया था। इसके स्थान पर एक नई आध्यात्मिक शक्ति ने जन्म ले लिया था और वह थी **तप**। वैसे तो ब्राह्मणों में ही प्रजापति सृष्टि उत्पादन के हेतु शक्ति संचय करने के लिये तप करते हुए वर्णित किये गये हैं (**श० ब्रा०** ११।४।३।१, तु० की० ११।१।६।१) पर इसका महत्त्व यज्ञ के आगे अत्यधिक गौण है। महाकाव्यों और पुराणों के काल में तप का महत्त्व बढ़ने पर प्रजापति का सम्बन्ध इस परम सामर्थ्य-शालिनी शक्ति से हो गया, जैसा कि उपर्युल्लिखित राक्षसों को तप का फल प्रदान करने से स्पष्ट है। विष्णु और शिव की तप के फलप्रदायक देवता के रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद में जा कर होती है, उस समय जब इन देवों का साम्प्रदायिक महत्त्व बढ़ने लगता है। **महाभारत** (भीष्म० २७।१०,११ = गीता ३।१०,११) के ये दो श्लोक भी उन दुर्लभ प्रसंगों में से हैं जिनमें ब्रह्मा जी का ब्राह्मण-कालीन यज्ञ से सम्बन्धित प्रजापति-रूप सुरक्षित है—

> **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**
> **अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥**
> **देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।**
> **परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥**

ब्राह्मणों में प्रजापति दो व्यक्तियों के किसी विवाद में निर्णय देने के लिये अन्तिम प्रमाण माने गये हैं। **श० ब्रा०** १।४।५।८-११ **मन** और **वाक्** के एक रोचक झगड़े का वर्णन करता है। दोनों में विवाद हुआ कि श्रेष्ठ कौन हैं? मन अपने को श्रेष्ठ बताता था और वाक् अपने को। दोनों प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति ने कहा कि मन श्रेष्ठ है, क्योंकि वाक् वही कहती है जो मन में सोचा जाता है। अतः वह मन के ऊपर आश्रित है—

> **स प्रजापतिर्मनस एवानु उवाच। मन एव त्वच्छ्रेयः। मनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि।**

देवों तथा असुरों के पितामह, पूजनीय तथा वृद्ध होने के कारण पुराणों में प्रायः देवता, असुर तथा मनुष्य आदि सभी योनियों के प्राणी उनका आदर करते हुए तथा उनकी बात मानते हुए वर्णित किये गये हैं। वे भी

सृष्टि में शान्ति स्थापित करने के लिये सदा उद्यत रहते हैं और जब-जब कोई कार्य बिगड़ जाता है या युद्ध छिड़ जाता है तो वे यथासम्भव लोक कल्याण के लिये वहाँ पहुँच जाते हैं। दक्षयज्ञ-विध्वंस होने पर और शिव के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर वे देवों के साथ शिव को मनाने जाते हैं (**भाग०** ४।६।८)। जब चन्द्रमा बृहस्पति की पत्नी **तारा** का हरण कर ले जाता है और चन्द्र तथा बृहस्पति के विरोध के कारण घोर-संग्राम छिड़ जाने की आशंका होती है तो ब्रह्मा जी ही दोनों पक्षों में सुलह करवाते हैं (**मत्स्य०** २३वाँ अ०, **ब्रह्म०** १५२वाँ अ०, **पद्म** १२वाँ अ०, **विष्णु०** ४।६ तथा **भागवत०** ९।१४)।

दो पक्षों में सन्धि करवाने या जन-विनाश के लिये उद्यत किसी क्रुद्ध व्यक्ति को शान्त करने के लिये ब्रह्मा जी का चातुर्य प्रायः वर्णित किया गया है। **श्रीमद्भागवत** ४।१९ में जब पृथु के १००वें अश्वमेध का घोड़ा इन्द्र चुरा ले जाता है और पृथु तथा अन्य ऋषिगण उसका विनाश करने के लिये उद्यत होते हैं तो वे तत्काल आकर पृथु को समझाते हैं कि 'तुम भी विष्णु भगवान् के अंश हो और इन्द्र आदि देवता भी; भला कोई अपने पर ही कभी क्रुद्ध होता है' ? आदि। जब कभी मनुष्यों या देवों पर कोई संकट पड़ता है तो वे पहले ब्रह्मा जी के पास जाते हैं। **पद्मपुराण** के १९वें तथा २५वें अध्याय में क्रमशः **वृत्र** तथा **वाष्कलि** दैत्यों से त्रस्त देवता ब्रह्मा जी के पास जाते हैं और त्राण का उपाय पूछते हैं। **रामायण** (बाल०, १५वाँ अ०) में देवगण **रावण** के अत्याचारों को दूर करने के लिये ब्रह्मा जी से उपाय पूछते हैं तो **महाभारत** (आदि०, २१०वाँ अ०) में **सुन्द** और **उपसुन्द** से परेशान ऋषिगण उनकी शरण लेते हैं।

इनको अपने पिता की भाँति हितचिन्तक समझ कर लोग अपनी व्यक्तिगत समस्याएँ लेकर भी इनके पास पहुँच जाते हैं। **महा०** आदि० २२२ अ० में बहुत दिनों तक निरन्तर घृतपान करने के कारण जब अग्निदेव को अजीर्ण हो जाता है तो वे रोगमुक्ति की सलाह लेने के लिये ब्रह्मा जी के पास पहुँचते हैं और भागवत में भी जब राजा **रैवत** (ककुद्मी) को अपनी पुत्री **रेवती** के योग्य कोई उपयुक्त वर नहीं दिखाई पड़ता तो वे उसे लेकर वर पूछने के लिये ब्रह्मा जी की सभा में पहुँच जाते हैं (यह बात अलग है कि ब्रह्मा के समय का मान मानव समय मान से बहुत अधिक होने के कारण इस बीच पृथ्वी पर अनेक चतुर्युगियाँ बीत जाती हैं और रैवत के पृथ्वी पर लौटने से

पूर्व ही उसके द्वारा सोचे गये सभी वरों के वंशज भी काल-कवलित हो चुके होते हैं !)। इसी प्रकार रामायण में वाल्मीकि के मुख के स्वतः श्लोक निःसृत होने पर ब्रह्मा जी प्रकट होकर ऋषि से रामायण की रचना करने का आग्रह करते हैं (बाल० २।२३,३१,३२)। ब्रह्मा जी लोक पालक हैं। पृथ्वी की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण बात पर उनकी दृष्टि रहती है और भूमंडल पर प्रजापति का आना सामान्य सी बात है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ब्रह्मा जी की कल्पना एक वृद्ध पुरुष के रूप में की गई है जिनके चार मुख है। उनका जन्म भगवान् विष्णु की नाभि से जायमान तथा विश्व के प्रकाश-तत्त्वमय सूक्ष्म-उपादानों से घटित एक विशाल पद्म से हुआ है (भाग० २।९ तथा ३।८)। उनका शरीर मूँगे के समान लाल है (पद्म० २९।१०) क्योंकि वे रजोगुण से युक्त हैं और इस गुण का वर्ण सांख्य के अनुसार लाल माना गया है। महाभारत एवं पुराणों पर भारत के प्राचीनतम दर्शन सांख्य का अत्यधिक प्रभाव है और इस दर्शन के अनुसार रजोगुण ही अव्यक्त प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करके सृष्टि की उत्पत्ति करता है। इसी कारण **मार्कण्डेय पुराण** का कथन है कि वह परम-पुरुष परमेश्वर निर्गुण होते हुए भी रजोगुण का आश्रय लेकर और ब्रह्मा का रूप धारण करके सृष्टि करता है—

उत्पन्नः स जगद्योनिरगुणोऽपि रजोगुणम् ।
भुञ्जन् प्रवर्तते सर्गे ब्रह्मत्वं समुपाश्रितः ॥

मार्कण्डेय० ४६।१३

मत्स्य पुराण १६९।१० तथा **वायु पुराण** २४।१६ में ब्रह्मा जी श्वेत रंग की पगड़ी धारण करने वाले तथा चतुर्भुज कहे गये हैं—

कस्त्वं पुष्करमध्यस्थः सितोष्णीषश्चतुर्भुजः ?

मत्स्य० १७७।२६ उन्हें 'धर्म की मर्यादा का स्थापक' भी कहता है। विष्णु **कालनेमि** दैत्य से कहते हैं—

प्रजापतिकृतं सेतुं भित्त्वा कः स्वस्तिमान् भवेत् ?

महाकाव्यों तथा पुराणों में शिव तथा विष्णु के अपेक्षाकृत अधिक उत्कर्ष के कारण प्रजापति पृष्ठभूमि में आ गये हैं। विष्णु तथा शिव के साथ नई-

नई कथाएँ जोड़ी गईं, उनके व्यक्तित्व का क्रमशः विकास हुआ और दोनों से सम्बन्धित दो श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण उपासना-सम्प्रदायों का जन्म हुआ। किन्तु ब्रह्मा जी अपनी सारी महत्ता वेदान्त के 'ब्रह्म' को दे बैठे। पूजा की दृष्टि से उनका महत्त्व सदा नगण्य रहा। **पद्म-पुराण** से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में पुष्कर-क्षेत्र (अजमेर, राजस्थान) ही ब्रह्मा जी की पूजा से विशेष सम्बन्धित था और यह स्थिति आंशिक रूप में आज भी है। अन्य स्थानों पर ब्रह्मा जी का कोई उल्लेखनीय मन्दिर प्राप्त नहीं होता।

ब्रह्मा जी के इस तुलनात्मक अपकर्ष के कारण मुख्यतः उन्हीं से सम्बन्धित **पद्म-पुराण** भी अधिक उत्कृष्ट शब्दों में उनका वर्णन नहीं करता। केवल एक स्थान पर ही विष्णु के द्वारा की गई ब्रह्मा जी की स्तुति में उनके परम-पुरुष होने का उल्लेख प्राप्त होता है। **पद्म पु०**, सृष्टि खंड के २९वें अध्याय में विष्णु उनको 'अमृतस्वरूप' और 'अविनाशी' कहते हैं। वे 'शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषों की परमगति' और 'पुराण-पुरुष' हैं। जो उनको प्रकृति से परे, अद्वितीय, ब्रह्म-स्वरूप समझता है, वही श्रेष्ठ है। अन्तःकरण में सूक्ष्म रूप से उनका बोध होता है। वे इन्द्रियों से रहित तथा कर्म और गति से हीन हैं। 'विशुद्धात्मा याज्ञिक संसार-बन्धन का उच्छेद करने वाले यज्ञों द्वारा उनका यजन करते हैं; परन्तु उन याज्ञिकों को स्थूल-साधनों से उनके सूक्ष्म परात्पर-स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। अतः उनकी दृष्टि में उनका चतुर्मुख स्वरूप ही रह जाता है। वे तपस्या से विशुद्ध, आदिपुरुष हैं और इसे न जान पाने के कारण देवता उनके कमल पर आसीन प्रत्यक्ष रूप की ही उपासना करते हैं।'

इस उद्धरण में उपनिषदों की विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट झलक रहा है। पर ब्रह्मा जी के सम्बन्ध में ऐसे प्रसंग बहुत कम हैं, और जो हैं भी वे सामान्य वर्णन के रूप में न होकर बहुधा स्तुति के रूप में निबद्ध किये गये हैं। ऐसे दुर्लभ उद्धरणों में **श्रीमद्भागवत** के निम्नलिखित श्लोक भी अन्यतम हैं जिनमें **हिरण्यकशिपु** उनकी स्तुति करता हुआ उन्हें "कल्प के आदि में अन्धकार से आवृत जगत् को अपने तेज से प्रकाशित करने वाले, स्वयं प्रकाशमान तत्त्व, आद्यबीज, ज्ञानविज्ञानमूर्ति, अव्यक्त किन्तु प्राण-मन-बुद्धि आदि विकारों से व्यक्त होने वाले, स्थावर-जंगम के अधिपति, कूटस्थ आत्मा, परमेष्ठी, काल तथा परात्पर-पुरुष" कहता है—

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसावृतम् ।
अभिव्यनग् जगदिदं स्वयं ज्योतिः स्वरोचिषा ॥
नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये ।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ।
त्वमीशिषे जगतस्तथुषश्च प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।
चित्तस्य चित्तेर्मन इन्द्रियाणां पतिर्महान् भूतगुणाशयेशः ॥
त्वमेव कालोऽनिमिषो जनानामायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महान् त्वं जीवलोकस्य च जीव-आत्मा ॥
त्वत्तः परं नापरमप्यनेजद् एजच्च किंचिद् व्यतिरिक्तमस्ति ।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा हिरण्यगर्भोऽसि बृहत् त्रिपृष्ठः ॥

भागवत ७।३।२६,२८,२९,३१ तथा ३२

बृहस्पति

प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में परिव्याप्त दिव्य चेतन शक्ति के दर्शन करने वाले और उसे देवता के रूप में महत्ता प्रदान करने वाले आर्यों का ध्यान किसी ऐसे एक देवता की धारणा की ओर जाना स्वाभाविक था जिसे वे प्रतिदिन विभिन्न देवों की स्तुति में बनाये जाते हुए सूक्तों एवं वाणी के अन्य व्यापारों का अधिपति मान सकें। यज्ञ का उन दिनों मानव जीवन में सर्वाधिक प्रमुख स्थान था और यज्ञ का सम्पूर्ण संचालन वाक् या वाणी के द्वारा ही होता है। जगत् की सर्वोत्कृष्ट-शक्ति यज्ञ की आधारभूमि के रूप में **वाक्** की सर्वातिशायिनी महत्ता ऋग्वेद के एक सूक्त में (१०।१२५) अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुई है। **बृहस्पति** इसी वाक् के, अथवा वाक् के स्तोत्र, सूक्त आदि के रूप में हुए विभिन्न परिणामों के अधिष्ठाता हैं। ऋग्वेद में उनकी एक प्रमुख संज्ञा **ब्रह्मणस्पति** भी है। ब्रह्म का अर्थ है सूक्त अथवा स्तोत्र। यह शब्द बृह् धातु से बना है। जिस वस्तु से देवों का बृंहण, अथवा बलवर्धन किया जाय वह ब्रह्म है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में कहा गया है कि अपनी प्रशंसा (स्तोत्र) सुनते ही इन्द्र का बल बढ़ने लगता है और फिर वे असुरों से युद्ध करने के लिये और अधिक सामर्थ्यशाली हो जाते हैं[1]—

---

१. तु० की०, **महाभारत**, उद्योग० १६।१४-१८ से। यहाँ **विश्वरूप** एवं **वृत्र** के वध से तब इन्द्र तेज-हीन होकर राज्यभ्रष्ट हो जाते हैं

ब्रह्माणि इन्द्र तव यानि वर्धना, १।५२।७

उक्थैः वावृधानः, २।११।२

यस्येदं ब्रह्म वर्धनम्, २।१२।१४

यः स्तोमेभिः ववृधे पूर्व्येभिः ३।३२।१३

इन्द्र ब्रह्माणि तविषीम् अवर्धन्, ५।३१।१०

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्तुति या प्रशंसा करने के लिये 'महयन्' या 'वर्धयन्' शब्द आया है (उदा० **श० ब्रा०** २।५।३।२०, मरुतो ह वै वृत्रं हनिष्यन्तम् इन्द्रम् अभितः परिचिक्रीडुः **महयन्तः**)

ब्रह्म की भाँति **बृह्** शब्द भी सम्भवतः इसी अर्थ की संज्ञा है[1]। **ब्रह्मण-स्पति** तथा **बृहस्पति** दोनों ही षष्ठ्यन्त शब्द हैं और दोनों का एक ही अर्थ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बृहस्पति सूक्तों की रचनात्मक शक्ति के प्रतीक के रूप में ब्रह्म या स्तोत्रों के अधिपति हैं और इनके स्वरूप का विकास एक पूर्णतः अमूर्त एवं याज्ञिक धारणा से हुआ है[2]।

निघंटु में बृहस्पति की पृथ्वी-स्थानीय देवों में गणना है और वस्तुतः बृहस्पति के स्वरूप में अग्नि-सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ प्राप्त होती है। अग्नि की भाँति वे भी 'बल के पुत्र' या **'सहसः पुत्रः'** है (१०।४०।२)। अग्नि की भाँति उनके भी तीन निवास स्थान है (**बृहस्पतिस्त्रिषधस्थः**)। विश्वरूप बृहस्पति स्वर्ग की ओर अग्रसर होते हैं (**द्यामरुक्षद् उत्तराणि सद्म**। १०।६७।१०) और अग्नि की भाँति वे राक्षसों को जला डालते हैं (**तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप** २।२३।१४)। उनके लिये अग्नि का प्रमुख विशेषण 'सदस्पति' भी प्रयुक्त हुआ है (१।२१।१५)। वे अग्नि की भाँति गृह में पूज्य हैं (**यजतं पस्त्यानाम्**। ९।९७।५)।

और जाकर एक कमलतंतु में छिप रहते हैं तो **बृहस्पति** जाकर इन्द्र के प्राचीन वीर-कर्मों का उल्लेख करते हुए उनकी स्तुति करते हैं जिससे उनका बल सहसा बढ़ जाता है—

एवं संस्तूयमानश्च सोऽवर्धत शनैः शनैः।
स्वं चैव वपुरास्थाय बभूव स बलान्वितः॥ १६।१८,१९

१. देखिये, मैकडानल : **वै० मा०**, पृ० १०३।

२. रोठ, **त्सा० डेर मा० गे०**, भाग १, पृ० ७३।

ऐसे ही अन्य उल्लेखों के आधार पर माक्सम्युलर[1] तथा विल्सन[2] आदि विद्वानों का मत है कि बृहस्पति अग्नि के ही कोई रूप हैं। मैक्डानल का भी मत है कि अग्नि की 'दिव्य-पुरोहित' के रूप में (१।१।१, **अग्निमीले पुरोहितम्**) स्तोत्रों के अधिष्ठाता मानने की धारणा ही स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर बृहस्पति बन गई है[3]। किन्तु वस्तुतः अग्नि और बृहस्पति के सम्बन्ध की प्रक्रिया इससे पूर्णतः भिन्न है। अग्नि का यज्ञ में सर्वतोभावेन अत्यधिक महत्त्व होने के कारण उनका तादात्म्य यज्ञ के विभिन्न पुरोहितों से किया गया है। ऋग्वेद के सर्वप्रथम मन्त्र में ही उन्हें यज्ञ का 'पुरोहित', 'ऋत्विज्' तथा 'होता' कहा गया है। द्वितीय मन्त्र में वे 'कवि' कहे गये हैं। ऋ० ६।१४।२ आदि अनेक स्थानों में उन्हें 'ऋषि' कहा गया है। इसी प्रकार ऋ० ६।१६।३ में उन्हें 'स्तोत्रों का निर्माता' या **ब्रह्मणस्कविः** भी कहा गया है। विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित स्तोत्रों को पढ़ कर अग्नि में ही आहुति दी जाती है। सभी मन्त्रों से उनका किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध है ही। अतः यज्ञ के अन्य पुरोहितों की भाँति उन्हें 'ब्रह्मा' (स्तोत्र-गायक) अथवा 'ब्रह्म का स्वामी' (ब्रह्मणस्पति) भी कहा गया है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर अग्नि के लिये **ब्रह्मणस्पति** शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है—

(१) **अच्छा वद तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम्।**
अग्निं मित्रं न दर्शतम्॥ ऋ० १।३८।१३

(२) **त्वमग्ने ब्रह्मा ब्रह्मणस्पते**...। २।१।३

ऋ० ३।२६।२ में अग्नि के लिये 'बृहस्पति' विशेषण प्रयुक्त हुआ है—

त्वं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे....बृहस्पतिं मनुषो देवतातये।

ब्रह्मणस्पति और अग्नि का ताद्रूप्य यज्ञ से दोनों के समान सम्बन्ध पर आधारित है। धीरे-धीरे दोनों देवों की विशेषताओं का पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ है। किन्तु बृहस्पति ने अग्नि की अधिक विशेषताएँ आत्मसात् की हैं। क्योंकि वे मूलरूप में एक पूर्णतः अमूर्त देवता थे और उनकी अपनी

---

१. **वैदिक हिम्स**, (से० बु० ई० ३२), पृ० ९४।

२. ऋग्वेद का अनुवाद, प्रथम भाग, भूमिका ९४।

३. **वै० मा०**, पृ० १०३।

वैयक्तिक विशेषताएँ अत्यन्त क्षीण थीं। इसके विपरीत अग्नि के मुख्यतः भौतिक तथा स्थूल होने के कारण उनमें ऐसी विशेषताओं का स्वभावतः प्राधान्य था। विशेषताओं के इसी आदान-प्रदान के कारण अग्नि को **आंगिरस** या अंगिरावंशी कहा गया है (त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिः, १।३१।१) जो बृहस्पति की अपनी एक विशेष उपाधि है। दूसरी ओर बृहस्पति का लगभग संपूर्ण शारीरिक वर्णन अग्नि के आधार पर हुआ है। उनका वर्ण हिरण्य के समान हैं, वे अरुण या भूरे हैं। वे अत्यन्त तेजस्वी तथा भास्वर है (बृहस्पतिं सदने सादयध्वम्.....दीदिवांसं हिरण्यवर्णमरुषं सपेम, ५।४३।१२)। वे अत्यन्त पवित्र (शुचि) है और उनकी वाणी स्पष्ट है (शुचिक्रन्द ७।९७।५)। उन्हें अग्नि की भाँति 'नीलपृष्ठ' तथा 'शतपत्र' (ऊपर उड़ने के लिये सौ पंखों से युक्त, ७।९७।७) भी कहा गया है। उनकी जिह्वाएँ सुन्दर हैं (मन्द्रजिह्व, १।१९०।१)। वे एक ऐसे वृषभ हैं जिसके शृंग तीक्ष्ण हैं (अराय्यं ब्रह्मणस्पते तीक्ष्णशृंगो दृषन् इहि, १०।१५५।२)। **ऋग्वेद** ४।५०।४ में उन्हें **'सप्तमुख'** तथा 'सप्तरश्मि' कहा गया है। इन रश्मियों से वे अन्धकार दूर करते हैं—

सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि।

यह अग्नि की सप्त जिह्वाओं की ओर संकेत जान पड़ता है। किन्तु यह भी हो सकता है कि इसका संकेत सप्त वैदिक-छन्दों की ओर हो (इन छन्दों को वैदिक साहित्य में प्रायः अश्व आदि के प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया गया है)। ब्रह्म या स्तोत्रों के स्वामी होने के कारण इनके सप्तमुख विशेषण की इसी प्रकार व्याख्या करना सम्भवतः अधिक संगत है। बृहस्पति के परशु (१०।५३।९) तथा धनुष-बाण आदि शस्त्रों (२।२४।८) का भी **ऋ० वे०** में प्रायः उल्लेख किया गया है।

बृहस्पति पुरोहित हैं (२।२४।९)। वे प्राचीन ऋषियों के नेता हैं (तं प्रत्नास ऋषयो दीध्याना पुरो विप्रा दधिरे, ४।५०।१)। बृहस्पति के बिना यज्ञ सफल नहीं हो सकता (यस्माद् ऋते न सिध्यति यज्ञो, १।१८।७)। उन्हीं से देवता अपना भाग प्राप्त करते हैं (२।२३।२) वे ब्रह्मा अथवा स्तुतिगायक हैं (त्वं ब्रह्मा रयिवत् ब्रह्मणस्पते, २।१।३; ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्, १०।१४१।३)। उनको कवियों में श्रेष्ठ कहा गया है (कविं कवीनामुपश्रवस्तमम् २।२३।१)। वे स्तोताओं को वाणी (स्तोत्र) प्रदान करते है (बृहस्पतिः वाचमस्मा अयच्छत्, १०।९८।७)।

इन्द्र के बलवर्धन के लिये ब्रह्म या स्तुतियों का जो महत्त्व है उस पर ध्यान रखते हुए यह अत्यन्त स्वाभाविक था कि स्तोमों के अधिष्ठाता बृहस्पति को इन्द्र का सहायक मान लिया जाता, और ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में ऐसा हुआ भी है। बृहस्पति वृत्र का वध करते हैं असुरों के पुरों को नष्ट करते हैं (घ्नन् वृत्राणि पुरो दर्दुरीति, ६।७३।२)। शंबर को भी वे मारते हैं (२।२४।२)। वे बल को मार कर उसके द्वारा बद्ध गायों को बाहर निकालते हैं (''' वलं रुरोज फलिगं रवेण । बृहस्पतिः उस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशती-रुदाजत् । ४।५०।५)। एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि बृहस्पति ने सूर्य, उषा तथा गायों (किरणों) को प्राप्त किया (बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद । १०।६७।५) । कुछ मन्त्रों में (उदा० ४।४९) इन्द्र और बृहस्पति का साथ-साथ आह्वान किया गया है[1]।

अथर्ववेद में बृहस्पति के स्वरूप में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। उन्हें 'दिव्य-कवि' कहा गया है (अ० वे० ४।१।५)। सप्त-ऋषियों में उनकी गणना है। **विराज्** रूपी गौ से **सोम** को वत्स बना कर बृहस्पति ने **ब्रह्म** एवं **तपस्** का दोहन किया (तस्या सोमो राजा वत्स आसीत् छन्दः पात्रम् तां बृहस्पति-रांगिरसो अधोक् तां ब्रह्म तपश्चाधोक् ८।१०-४-१५)। वे ऊर्ध्व दिशा के स्वामी हैं (ऊर्ध्वा दिक् बृहस्पतिरधिपतिः ३।२७।६)। स्तोता को वे प्रेरणा प्रदान करते है (१९।४।३)। अनेक आभिचारिक मन्त्रों में बृहस्पति से युद्ध में विजय की कामना की गई है। वे अपने जाल से शत्रुओं को बाँध लेते हैं (६।१०३।१)। वैवाहिक कृत्यों में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है (१४।१ तथा १४।२)।

यजुर्वेद में ब्रह्मणस्पति के स्वरूप के विषय में एक निर्भ्रान्त उल्लेख मिलता है जिसमें कहा गया है कि वे सूक्तों के नियामक हैं—

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।

वा० सं० ३४।५८

---

१. इन्द्र और बृहस्पति के पारस्परिक संबन्ध और इन्द्र के वीर-कर्मों में बृहस्पति (यज्ञ-शक्ति) की महत्त्वपूर्ण भूमिका की विस्तृत विवेचना जर्मन विद्वान् हन्स पेटर श्मिट् (Hans Peter Schmidt) ने *Bṛhaspati und Indra* नामक ग्रन्थ में की है जो Wiesbaden (प० जर्मनी) से १९६८ में प्रकाशित हुआ है।

वा० सं० १०।१० के अनुसार भी बृहस्पति ब्रह्म के अधिष्ठाता हैं। २।१२ में '**बृहस्पतये ब्रह्मणे**' शब्दों से दोनों का पुनः तादात्म्य किया गया है। वे महान् ज्ञानी तथा मेधावी हैं (स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वान् ७।१५) तथा पशु एवं धनादि के दाता हैं। वे अत्यन्त प्रेरणाप्रदायक हैं (सत्यसवसः)। **अथर्ववेद** में जैसे बृहस्पति को ऊर्ध्व दिशा का स्वामी कहा गया है उसी प्रकार शुक्ल **य० वे०** में भी उनका स्वर्ग या 'उत्तम-नाक' से विशेष सम्बन्ध है। यजमान वहाँ जाने की कामना करता है (सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकं रुहेयम्। ८।१०)। **वा० सं०** के नवम अध्याय में जो वाजपेय यज्ञ से सम्बन्धित मन्त्र हैं उनमें बृहस्पति का प्रमुख स्थान है और उन्हें 'वाज' (अन्न या बल) का दाता या अधिष्ठाता माना गया है। यद्यपि ऋग्वेद में एक स्थान पर बृहस्पति को 'पुरोहित' भी कहा गया है किन्तु यह विशेषण केवल उनके अग्नि तथा स्तोत्रों से सम्बन्ध के कारण प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के काल में नियमित पौरोहित्य के अभाव के कारण अग्नि के लिये प्रयुक्त होने वाले 'पुरोहित' विशेषण (ऋ० १।१।१) की भाँति इसका विशेष महत्त्व नहीं है। उनको निश्चित रूप से देवों का पुरोहित **शुक्ल यजुर्वेद** में ही घोषित किया गया है—

> **बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे।**
> **देवा देवैरवन्तु माम्॥** वा० सं २०।११

ब्राह्मण ग्रंथों में बृहस्पति का अधिक उल्लेख नहीं है। अगणित स्थानों में उन्हें **ब्रह्म** बताया गया है (**ब्रह्म वै बृहस्पतिः**, श० ब्रा० ३।१।४।१५, ऐ० ब्रा० १।४।२, कौ० ब्रा० १५।२ तथा तै० सं० १।५।४ और २।२।९ आदि)। ब्रह्म शब्द का यहाँ अर्थ धार्मिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति है। **ऐ० ब्रा०** १।३।२ में कहा गया कि बृहस्पति किसी की हानि नहीं करते क्योंकि वे 'ब्रह्म' हैं। ब्रह्म शब्द का पुंल्लिग ब्रह्मा शब्द भी बृहस्पति के लिये प्रायः प्रयुक्त हुआ है और उन्हें देवों का 'ब्रह्मा' (पुरोहित-विशेष) भी बताया गया है (तै० सं० २।६ तथा श० ब्रा० १।७।४।२१, **बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा**)।

तै० सं० ७।४।१ में कहा गया है कि बृहस्पति देवों के पुरोहित हैं और देवों की उनमें अत्यन्त श्रद्धा है—**बृहस्पतिरकामयत श्रन्मे देवा दधीरन् गच्छेयं पुरोधामिति"""ततो वै तस्मै श्रद्देवा अदधत अगच्छत् पुरोधाम्**। ऐ० ब्रा० ३।२।६ में कहा गया है कि जब देवों ने बृहस्पति को अपना पुरोहित बना

कर यज्ञ किया तो उन्हें इस लोक में भी (असुरों पर) विजय मिली और बाद में उन्होंने स्वर्ग-लोक प्राप्त किया—

बृहस्पतिपुरोहिता वै देवा अजयन्स्वर्गलोकं व्यस्मिंल्लोके अजयन्त ।

श० ब्रा० ५।३।१।२ में भी वे देवों के पुरोहित वर्णित किये गये हैं । बृहस्पति के लिये **वाचस्पति** या 'वाणी का अधिष्ठाता' शब्द सर्वप्रथम **वा० सं०** १०।१ में प्रयुक्त हुआ है (वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु) । **श० ब्रा०** ५।३।३।५ तथा **तै० सं०** में भी उन्हें वाक् का स्वामी माना गया है । **ब्रह्मणस्पति** शब्द तो प्रायः उनके विशेषण के रूप में आया है (श० ब्रा० १४।१।२।५, ऐ० ब्रा० ३।२।६ आदि) । उन्हें **आंगिरस** अथवा अंगिरावंशी कहा गया है (श० ब्रा० १।२।५।२५, कौ० ब्रा० ३०।६) जो संभवतः अग्नि से उनके प्राचीन संबन्ध को सूचित करता है । अंगिरावंशियों का प्राचीनतम अग्नि-पुरोहितों के रूप में वैदिक साहित्य में अनेकशः उल्लेख है, (तु० की०, अंगिरसो नः पितरः ऋ० १०।१४।६) ।

बृहस्पति से संबन्धित एक-दो कर्मकाण्डीय कथाएँ भी ब्राह्मणों में प्राप्त होती हैं । उदा० **श० ब्रा०** ९।३।२।३ में कहा गया है कि 'एक बार सभी देवता यज्ञ के लिए एकत्र हुए । पर दक्षिण की ओर से राक्षसों ने आकर विघ्न डालना प्रारम्भ कर दिया । देवों ने इन्द्र से कहा कि तुम देवों में सर्वाधिक शक्तिशाली हो, अतः इन्हें भगाओ । इन्द्र ने कहा कि बृहस्पति यदि मुझे सहयोग दें तो ऐसा हो सकता है । मैं **क्षत्र** (बल, पराक्रम, ओज) हूँ और बृहस्पति **ब्रह्म** (यज्ञीय-शक्ति) । दोनों के संयोग से ही राक्षस नष्ट हो सकते हैं—

ते देवा इन्द्रमब्रुवन् । त्वं वै नः श्रेष्ठो बलिष्ठो वीर्यवत्तमो असि त्वमिमानि रक्षांसि प्रतियतस्व । तस्य वै मे ब्रह्म द्वितीयमस्तु तस्मै बृहस्पतिं द्वितीयमकुर्वन् । ब्रह्म वै बृहस्पतिः । ते इन्द्रेण चैव बृहस्पतिना च दक्षिणतो असुरान् रक्षांसि नाष्ट्रा अपहत्य अभये अनाष्ट्रे यज्ञमतन्वत । श० ब्रा० ९।२।३।३

प्रजापति का बाणविद्ध प्राशित्र भाग खाने से भग, पूषा आदि देवों को हानि उठानी पड़ी किन्तु बृहस्पति को कुछ नहीं हुआ, क्योंकि उन्होंने चतुरता पूर्वक पहले सविता से अनुमति प्राप्त कर ली थी (श० ब्रा० १।७।४।८) ।

इसके अतिरिक्त वे ब्राह्मण हैं और 'ब्राह्मण के उदर को कोई वस्तु हानि नहीं पहुँचाती' (तै० सं० २।६।९, **न हि ब्राह्मणस्योदरं किंचन हिनस्ति**)।

ब्राह्मणों में बृहस्पति का आकाशीय ज्योति से भी यत्र-तत्र सम्बन्ध वर्णित किया गया है। जिस प्रकार **वा० सं०** में उन्हें ऊर्ध्व दिशा का स्वामी बताया गया है उसी प्रकार **श० ब्रा०** ५।३।१।२,१२ में भी (**एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेदिक्**)। **श० ब्रा०** ५।१।१।४ में एक छोटी सी कथा आती है जिसमें कहा गया है कि बृहस्पति ने एक दौड़ में जीतकर वाजपेय यज्ञ का आधिपत्य प्राप्त किया और उस यज्ञ को करके वे ऊपर (स्वर्ग ?) गये एवं ऊर्ध्व दिशा का स्वामित्व प्राप्त किया—**तेन इष्ट्वा ऊर्ध्वां दिशमुदक्रामत्, तस्माद् यश्च वेद यश्च न एषा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक् इत्याहुः**। यहाँ उल्लेखनीय है कि परवर्ती हिन्दू धर्म में सर्वत्र ऊर्ध्व दिशा का स्वामी ब्रह्मा (प्रजापति) को माना गया है, बृहस्पति को नहीं; क्योंकि बृहस्पति और ब्रह्म एक हैं।

श० ब्रा० ३।१।४।१९ में बृहस्पति को प्रकाश का रूप बताया गया है (द्युम्नं हि बृहस्पतिः)। इसका मूल सम्भवतः **वा० सं०** २६।३ में है जहाँ बृहस्पति के लिये कहा गया है कि वे प्रकाशित होते हुए सुशोभित होते हैं—

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद् विभाति क्रतुमत् जनेषु।

पर यह प्रकाश सम्भवतः ऋतु सम्बन्धी है और उनके अग्नि से सम्बन्ध के कारण उल्लिखित हुआ है। **तै० सं०** २।१।२ में आई एक छोटी सी कथ से भी बृहस्पति का प्रकाश से विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है। **स्वर्भानु** (राहु ने एक बार सूर्य के ऊपर आक्रमण किया जिससे वे निस्तेज हो गये। तब देवों ने अग्नि, इन्द्र एवं बृहस्पति को हवि प्रदान करके सूर्य को पुष्ट किया क्योंकि ये तीनों सूर्य ही अंश हैं—**ताभिरेवास्मिन् रुचमदधुः त्रीणि वा आदित्यस्य तेजांसि**। **ऐ० ब्रा०** ३।३।१० में वर्णित प्रजापति-रुद्र कथा में बृहस्पति की उत्पत्ति बुझ कर जले हुए कोयलों से बताई गई है जो पुनः उनका तेज से सम्बन्ध सूचित करती है। उनके पिता **अंगिरा** अंगारों से उत्पन्न हुए हैं (वहीं)।

तेज से बृहस्पति के इसी प्राचीन सम्बन्ध के कारण भारत में ज्योतिष सम्बन्धी धारणाओं के विकसित होने पर सूर्य की परिक्रमा करने वाले तेजस्वी पञ्चम ग्रह का नाम बृहस्पति रख दिया गया। सम्भवतः इस तादात्म्य में

गुरु (=भारी) शब्द का भी कुछ हाथ है। भारी एवं विशाल होने के कारण इस ग्रह का नाम सम्भवतः मूलतः **गुरु** था[1] बाद में देवगुरु बृहस्पति का नाम उसके लिये प्रयुक्त किया जाने लगा[2]। **तै० सं०** ४।४।९ में उन्हें **तिष्य** (पुष्य) नक्षत्र का स्वामी भी बताया गया है।

गृह्यसूत्रों में बृहस्पति का केवल विद्या एवं बुद्धि से ही सम्बन्ध सुरक्षित रह गया है। ब्रह्मचारी में वे नैतिक तथा बौद्धिक गुणों का समावेश करते हैं। उपनयन संस्कार के अवसर पर कई बार उनका आह्वान एवं समभ्यर्चन किया जाता है (उदा० वटु को नया वस्त्र पहनाते समय, **पारस्कर गृ० सू०** १।४।१३)। जब गुरु बालक को अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करता है तो वह बृहस्पति से उसे अपने अधिकार में लेने की प्रार्थना करता है जिससे वह जीवन में सत्पथ पर चल सके (**शांखायन गृ० सू०** २।३।१)। **काठक गृ० सू०** ४१।१९ तथा **शांखायन** २।४।१ में गुरु इस अवसर पर शिष्य के हृदय पर हाथ रख कर निम्न मन्त्र का पाठ करता है जिसका अर्थ है—बृहस्पति तुमको मेरे अन्दर स्थापित करें, (अर्थात् मुझसे संयुक्त करें), तुम्हारा हृदय मेरी भावनाओं के अनुसार हो, तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुसार हो और आचरण मेरे वचनों के अनुसार हो—

मम व्रते हृदयं ते दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकव्रतो जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

---

१. हमारे सौरमण्डल के नौ ग्रहों में गुरु का भार अन्य आठ ग्रहों के सम्मिलित भार से दुगना है। पृथ्वी से यह ३१८ गुना भारी है। १,४३,००० कि० मी० व्यास वाले इस ग्रह के विस्तार में १३०० पृथ्वियाँ समा सकती हैं।

२. बिल्हण ने अपने **विक्रमांकदेवचरित** (१।७) में बृहस्पति ग्रह को वाचस्पति (विद्याओं का स्वामी) मान कर एक मनोरम उत्प्रेक्षा की है। सरस्वती के हाथ में स्थित स्फटिक-माला की मणियाँ मानों आकाश के ग्रह हैं जो बृहस्पति के तेज से ईर्ष्या करते हुए सरस्वती के पास वाक् का सार ग्रहण करने के लिये आये हैं—

वचांसि वाचस्पतिमत्सरेण साराणि लब्धुं ग्रहमण्डलीव।
मुक्ताक्षसूत्रत्वमुपैति यस्याः सा सप्रसादास्तु सरस्वती वः॥

उपर कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में बृहस्पति को इन्द्र से सम्बन्ध के कारण वल की गायों को निर्मुक्त करते हुए वर्णित किया गया है (२।२४।३ आदि)। इसी आधार पर गृह्यसूत्रों में बृहस्पति गायों के रक्षक हैं। **हिरण्यकेशी गृ० सू०** १।५।१८।१ में जब गायें चरने के लिये बाहर जाती हैं तो बृहस्पति को उनके पालक के रूप में स्मरण किया गया है। **शांखायन** १।११।५ में विवाह के अवसर पर भी रक्षा के लिये उनका स्तवन है।

पुराणों में बृहस्पति पूर्णतः एक ब्राह्मण पुरोहित के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इस काल में वैदिक देवता एक सुसंयत तथा क्रमबद्ध देवमण्डल के रूप में सामने आते हैं। उनके राजा इन्द्र हैं और जिस प्रकार प्राचीन भारत में प्रत्येक राजा एक वृद्ध एवं विद्वान् ब्राह्मण को अपना पुरोहित बना कर रखता था और उससे राज्य के विभिन्न कार्यों के लिये सलाह लेता था उसी प्रकार बृहस्पति की भी देवों के गुरु, पुरोहित तथा इन्द्र के मन्त्री के रूप में कल्पना की गई है (महा० आदि० ७६।६)। वे **अंगिरा** ऋषि के पुत्र हैं, उनकी माता का नाम श्रद्धा है और बड़े भाई का नाम **उतथ्य** (या उशिज)—

तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे ।
उतथ्यो भगवान् साक्षाद् ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः ॥

भाग० ४।१।३५

रामायण (अयो० १।१७) में उन्हें वाद-विवाद में कुशल तथा उत्तम वक्ता कहा गया है—

उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ।

वे परम बुद्धिमान्, शास्त्रों के ज्ञाता तथा धार्मिक हैं। शरशय्या पर पड़े हुये भीष्म को देखने के लिये आकर वे युधिष्ठिर को शास्त्र के अनुकूल धर्म एवं अधर्म का स्वरूप समझाते हैं और विभिन्न दुष्कर्मों से होने वाली अधोगति का भी वर्णन करते हैं (महा०, अनु० १११वाँ अ०)। महाभारत में अन्य अनेक स्थानों पर भी उन्हें व्यक्तियों को विविध उपदेश देते हुए वर्णित किया गया है। उनका सबसे अधिक महनीय एवं उच्च चरित्र महाभारत के उद्योग पर्व में (११ से १३ अध्याय तक) प्राप्त होता है। एक बार इन्द्र के राज्य-भ्रष्ट हो जाने पर **नहुष** राजा बनता है। वह इन्द्राणी से अपनी पत्नी बनने के लिये कहता है। शची भयभीत होकर अपने गुरु बृहस्पति की शरण में जाती है (उद्योग० ११।२०-२३)। बृहस्पति उसकी पूरी रक्षा करने का

आश्वासन देते हैं और उसको नहुष से कुछ अवधि माँगने की सलाह देते हैं (११।२३-२५)। जब नहुष बृहस्पति के पास जाने के कारण शची पर क्रुद्ध होता है और देवता बृहस्पति के पास उसे माँगने के लिये जाते हैं तो वे देवों से अपनी शरणागता को उन्हें सौप देने के लिये साफ मना कर देते हैं (११-५०-५५)। वे अग्नि की उपासना करके उससे इन्द्र का पता लगवाते हैं और स्तोत्रों से इन्द्र का बलवर्धन करते हुए पुनः उसे देवों के राजपद पर आसीन करवाते हैं (१६।३० आदि)। इस सम्पूर्ण कथा के वे प्रमुख नायक हैं और यहाँ उन्हें अत्यन्त सच्चरित्र, नैतिक गुणसम्पन्न, धर्मशास्त्रज्ञ, सत्य-वक्ता, अमित तेजस्वी तथा धर्म-परायण चित्रित किया गया है।

पुराणों में एक मन्त्री के रूप में वे इन्द्र को सदा उचित एवं उपयुक्त सलाह देते हुए वर्णित किये गये हैं। भागवत (८।१५) में जब बलि ब्रह्मतेज से दीप्त होकर इन्द्र से युद्ध करने आता है तो वे उसे स्वर्ग का राज्य छोड़ कर अज्ञात-वास करते की सलाह देते हैं—

> **भवद्विधो भवान् वापि वर्जयित्वेश्वरं हरिम्।**
> **नास्य शक्तः पुरः स्थातुं कृतान्तस्य यथा जनाः॥**
>
> **तस्मान्निलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम्।**
> **यात कालं प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः॥**
>
> भाग० ८।१५।२९,३०

इन्द्र एवं देवों के कल्याण में वे सर्वदा तत्पर रहते हैं और उनके लिये तुच्छ कार्य करने में भी नहीं हिचकते। **भाग०** ९।१७।१३-१८ तथा **विष्णु०** ४।९।१७-२० में वर्णित कथा के अनुसार जब राजा रजि के पुत्र इन्द्र से उनका राज्य छीन लेते हैं और इन्द्र बदरीफल के परिमाण के बराबर पुरोडाश के लिये भी तरसते हैं तो वे अभिचार विधि से अग्नि में हवन करते हैं जिससे रजि-पुत्रों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और इन्द्र को राज्य पुनः प्राप्त हो जाता है—

> **बृहस्पतिः अल्पैरेवाहोभिस्त्वां निजं पदं प्रापयिष्यामि इत्य-भिधाय तेषामनुदिनम् आभिचारिकं बुद्धिमोहाय शक्रस्य तेजोऽभिवृद्धये जुहाव।**
>
> विष्णु० ४।९।१९

कहीं-कहीं देवों का उपकार करने के लिये उनकी आतुरता तथा चातुर्य छल में भी परिणत हो जाता है। उदा० **मत्स्य** (४७।११८ त० आ०) में वे

शक्तिशाली दैत्यों के पराभव के लिये उनके गुरु शुक्राचार्य का रूप धारण करके उनके पास जाते हैं और उन्हें व्यामोहित तथा भ्रान्त कर देते हैं।

शुक्राचार्य से उनकी प्रतिस्पर्धा प्रायः वर्णित की गई है। उनसे 'संजीवनी-विद्या' सीखने के लिये वे अपने पुत्र **कच** को उनके पास शिष्य रूप में भेजते हैं (मत्स्य २५।१५,१६, महा० आदि० ७६।१२-१८)। उधर शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी कच पर अनुरक्त हो जाती है और उसके कारण ही कई बार मृत कच को जीवन-दान मिलता है।

ब्रह्मपुराण में उन्हें और भी अधिक कूटनीतिज्ञ चित्रित किया गया है। उनके विचार से जिस किसी प्रकार से अपने शत्रु का पराभव करना चाहिये। वे देवों को असुरों के साथ मिल कर अमृत-मंथन करने की सलाह देते हैं और साथ ही उन्हें यह भी समझा देते हैं कि अमृत निकलने पर तुम लोग उसे स्वतः पी लेना, असुरों के हाथों में उसे मत जाने देना—

बृहस्पतिस्तथेत्याह पुनराह सुरानिदम्।
न जानन्ति यथा पापाः पिबध्वं च तथामृतम्॥
अयमेवोचितो मन्त्रो यच्छत्रूणां पराभवः
द्वेष्याः सर्वात्मना द्वेष्या इति नीतिविदो विदुः।

ब्रह्म० १०६।१६,१७

भास अपने **प्रतिमा नाटक** ५।९ में बृहस्पति द्वारा रचित किसी **अर्थशास्त्र** का (बार्हस्पत्यम् अर्थशास्त्रम्) उल्लेख करते हैं जिसका रावण ने अध्ययन किया था। महाभारत में बृहस्पति के नीति सम्बन्धी मतों को प्रायः उद्धृत किया गया है। उनके नाम से एक स्मृति भी प्राप्त होती है।

ब्रह्म० ७१।२८ में उन्हें महान् बुद्धिमान् तथा धीशाली बताया गया है—

'ततः प्राह महाबुद्धिः बृहस्पतिरुदारधीः।'

और इसी पुराण में अन्यत्र (१३१।९) वर्णित एक कथा से इसकी पुष्टि भी होती है। **सरमा** और **पणियों** की प्राचीन वैदिक कथा (ऋ० १०।१०८) यहाँ वर्णित है। देवशुनी सरमा को पणि दूध पिला कर अपनी ओर कर लेते हैं और गायें चुरा कर ले जाते हैं। सरमा देवों से आकर कहती हैं कि पणि लोग मेरे देखते-देखते गायें ले गये। पर चतुर एवं बुद्धिमान् बृहस्पति को धोखा देना कठिन है। वे तत्काल भाँप जाते हैं और देवों से कहते हैं—

इयं विकृतिरूपास्ते अस्याः पापं च लक्षये ।
अस्या मतेन ता गावो नीता नान्येन हेतुना ॥
पापेयं सुकृती वेति लक्ष्यते देहचेष्टितैः ।

ब्रह्म० १३१।९

इन्द्र उस पर चरण से प्रहार करते हैं और उसका दूध मुख से बाहर निकल पड़ता है (१३१।१०)।

ऋग्वेद में एक स्थान पर बृहस्पति का **त्रित** के साथ भी उल्लेख हुआ है। **ऋ०** १।१०५।१७ में कहा गया है कि एक बार जब त्रित अन्धकूप में गिर पड़ा तो उसने अपनी सहायता के लिये देवों का आह्वान किया। बृहस्पति ने उसे सुना और वे उसकी सहायता के लिये आये—

त्रितः कूपे अवहितो देवान् हवत ऊतये ।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नं हूरणादुरु ॥

इस कथा का सुन्दर विकास **महा०**, शल्यपर्व के ३६ वें अध्याय में देखने को मिलता है। त्रित व्याघ्र के गर्जन से डर एक सूखे कुएँ में गिर पड़ते हैं और निकलने में असमर्थ होकर वहीं पर उपलभ्य वस्तुओं से मानसिक-यज्ञ करते हुए बृहस्पति आदि देवों को बुलाते हैं।

बृहस्पति के लिये 'वागीश' तथा वाचस्पति' विशेषण भी पुराणों में प्रायः प्रयुक्त हुए हैं (ब्रह्म० १२२।५१)। **श्रीमद्भागवत** २।३।२ में कहा गया है कि ब्रह्मवर्चस् की प्राप्त के लिये मनुष्य को ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति की उपासना करनी चाहिये—**ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्**। इसका आधार **तै० सं०** का निम्न उद्धरण है जिसमें बृहस्पति का ब्रह्मतेज से विशेष सम्बन्ध बताया गया है—

बार्हस्पत्यम्...एता एव देवता स्वेन भागधेयेन उपधावति ।
ता एवास्मिन् ब्रह्मवर्चसं दधाति । ब्रह्मवर्चस्येव भवति ।

तै० सं० २।१।२

धार्मिक उत्कर्ष एवं तेज की प्राप्ति के लिये बृहस्पति की उपासना उचित ही है। **अ० वे०** ८।१०।१५ में बृहस्पति द्वारा सोम को वत्स बना कर विराज् रूपी गौ से वैदिक ज्ञान दुहने का उल्लेख है। पुराणों में आकर बृहस्पति दोग्धा नहीं अपितु वत्स बताये गये हैं। ऋषियों ने अपने में श्रेष्ठ जान कर बृहस्पति को वत्स बनाया और पृथ्वी से वेद (छन्दस्) रूपी दुग्ध दुह लिया—

ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथसत्तम ।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयः छन्दोमयं शुचिम् ।। भाग० ४।१८।१४

विभिन्न स्थानों में बृहस्पति के **शंयु**, **कच** तथा **कुशध्वज** नामक पुत्रों का उल्लेख मिलता है । **शंयु** का उल्लेख **तै० सं०** २।६।१० तथा **श० ब्रा०** १।९।१।२४ में प्राप्त होता है । यहाँ इन्हें यज्ञिय क्रियाओं का परिपूर्ण ज्ञाता बताया गया है । इन्होंने अपने कर्मकाण्डीय ज्ञान से स्वर्ग प्राप्त किया । **महाभारत** वन० २१९।२-४ में शंयु का जो विवरण प्राप्त होता है उसके अनुसार ये बृहस्पति के प्रथम पुत्र हैं । ये अग्निस्वरूप हैं और विविध वर्ण की ज्वालाओं से सुशोभित होते हैं । चातुर्मास्य एवं अश्वमेध यज्ञों में इनका पूजन होता है और इन्हें घृत की प्रथम आहुति प्रदान की जाती है । **कच** का उल्लेख **महा० आदि०** ७६-७८ अध्यायों में तथा अनेक पुराणों (**मत्स्य०** २५ वाँ अ० आदि) में है । इन्होंने शुक्राचार्य के शिष्य बन कर उनसे मृत व्यक्तियों को जिलाने वाली संजीवनी-विद्या पढ़ी थी । शुक्र की की पुत्री देवयानी का इनके ऊपर विशेष स्नेह था । इसलिये दैत्यों द्वारा तीन बार वध किये जाने पर भी शुक्र को इन्हें पुनः जीवित करना पड़ा । **कुशध्वज** का उल्लेख केवल **रामायण** उत्तर० १७।८-१० में हुआ है इनकी एक कन्या का नाम **वेदवती** था । वह रावण से अपना परिचय देती हुई कहती है—

कुशध्वजो मम पिता ब्रह्मर्षिरमितप्रभः ।
बृहस्पतिसुतः श्रीमान् बुद्धया तुल्यो बृहस्पतेः ।।

रामा० उत्तर० १७।८

रामायण के परवर्ती अंश एवं कुछ पुराणों के अनुसार इसी वेदवती ने रावण-कृत घर्षण का बदला लेने के लिये अगले जन्म में सीता का रूप धारण किया ।

ब्रह्म० १५२वें अ०, **मत्स्य०** २३वें अ०, तथा **विष्णु०** के चतुर्थ अंश के ६ठे अध्यायों में **चन्द्रमा** और बृहस्पति की पत्नी **तारा** से संबन्धित एक कथा प्राप्त होती है । इसके अनुसार एक बार नक्षत्रों एवं औषधियों का स्वामी बनाये जाने पर चन्द्रमा राज्यैश्वर्य से उन्मत्त होकर बृहस्पति की पत्नी तारा का अपहरण कर ले गया और ब्रह्मा जी के हस्तक्षेप करने के बाद बहुत कहने पर उसे लौटाया । चन्द्रमा के संयोग से तारा के बुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । यह कथा सोम और उसकी नक्षत्र-पत्नियों की कथा की भाँति पूर्णतः

ज्योतिष संबन्धी सूत्रों पर आधारित है। **महा०** उद्योग० ११७।१३ तथा वन० २१९।३ में बृहस्पति की पत्नी का नाम तारा नहीं अपितु चान्द्रमसी है[1]। भास ने **प्रतिमा नाटक** (१।२५) में तारा को चन्द्रमा का सदा अनुवर्तन करने वाली उसकी धर्मपत्नी बताया है जो राहुग्रस्त चन्द्रमा को भी नहीं छोड़ती (अनुचरति शशांकं राहुदोषेऽपि तारा)। इस कथा का कुछ विवेचन सोम के प्रसङ्ग में किया जा चुका है (पृ० ६४४)। बृहस्पति के सोम द्वारा किये गये किसी अपमान का संकेत **श० ब्रा०** ४।१।२।४ के इन शब्दों में भी प्राप्त होता है—

यत्र वै सोमः स्वं पुरोहितं जिज्यौ। तस्मै पुनर्ददौ। तेन संशशाम। आस एव अति विशिष्टमेनस्।

सायण ने इन वाक्यों में वर्णित सोम के पाप (एनस्) को तारापहरण-विषयक माना है। किन्तु मूल ग्रन्थ में इसे स्पष्ट नहीं किया गया। संभवतः इसकी कल्पना परवर्ती है।

महाभारत आश्व० ५-९ अध्यायों में इनकी अपने छोटे भाई से कड़ी प्रतिस्पर्धा वर्णित की गई है और इन्हें अत्यन्त स्वार्थी, लोभी तथा ईर्ष्यालु चित्रित किया गया है। छोटे भाई संवर्त को वे बार-बार सताते हैं जिससे तंग आकर एक दिन वे सब कुछ त्याग कर दिगम्बर देह से घर से निकल पडते हैं—

तावतिस्पर्धिनौ राजन् पृथगास्तां परस्परम्।
बृहस्पतिः स संवर्तं बाधते स्म पुनः पुनः॥
स बाध्यमानः सततं भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत।
अर्थानुत्सृज्य दिग्वासा वनवासमरोचयत्॥ महा० आश्व० ५।५,६

जब राजा **मरुत्त** बृहस्पति से तिरस्कृत होकर उनके छोटे भाई संवर्त को अश्वमेध यज्ञार्थ पुरोहित बनाने के लिये पहुँचते हैं तो ज्ञानी एवं त्यागी संवर्त

---

१. यह विवरण हिलेब्रांट् (**वेदिशे मिथोलोगी**, प्रथम भाग, पृ० १६०-१७३) के उस मत से तुलना करने योग्य है जिसमें उसने बृहस्पति को मूलतः चन्द्रमा से संबन्धित देवता माना है।

उनसे कहते हैं कि यद्यपि मेरे बड़े भाई ने मेरा घर-गृहस्थी का सामान, तथा पौरोहित्य आदि सब छीन लिया है और केवल यह शरीर ही मेरे पास छोड़ा है—

गार्हस्थ्यं चैव याज्याश्च सर्वा गृह्याश्च देवताः
पूर्वजेन मामाक्षिप्तं शरीरं वर्जितं त्विदम् ॥ ७।१०

किन्तु फिर भी वे मेरे लिये अत्यन्त पूजनीय हैं अतः मैं उनकी आज्ञा के बिना तुम्हारा यज्ञ नहीं करवा सकता (आश्व० १०।११)।

इतने पर भी बृहस्पति जब संवर्त को मरुत्त का यज्ञ कराते देखते हैं तो ईर्ष्या के कारण अत्यन्त शोकाकुल हो जाते हैं और दिन-रात यही सोचते हैं कि मेरा शत्रु मुझसे अधिक धनी हो जायेगा—

स तप्यमानो वैवर्ण्यं कृशत्वं चागमत् परम् ।
भविष्यति हि मे शत्रुः संवर्तो वसुमानिति ॥ ८।३७

शत्रु की समृद्धि की कल्पना उन्हें दुःखी बना देती है (दुखं सपत्नेषु समृद्धिभावः, ९।६) और वे इतने अधीर हो जाते हैं कि इन्द्र से मरुत्त अथवा संवर्त को बन्धन में डाल देने की प्रार्थना करते हैं (सर्वोपायैः मघवन् संनियच्छ संवर्तं वा पार्थिवं वा मरुत्तम्, ९।७)। इस प्रकार इस कथा में बृहस्पति को तुच्छ विचारों वाले, ईर्ष्यालु, लोभी, स्वार्थी तथा भ्रातृद्रोही पुरोहित के रूप में चित्रित किया गया है।

ऋग्वेद के उत्कृष्ट एवं पवित्र देवता बृहस्पति का यह पतन शोचनीय है। **मत्स्य०** ४८।३२-४१ तथा **विष्णु०** ४।१९।१६-१८ में तो उनका चरित्र और भी अधिक गिर गया है। यहाँ वे अपने बड़े भाई **उशिज** (या उतथ्य) की पत्नी **ममता** से भरद्वाज नामक पुत्र उत्पन्न करते हैं। यह कथा पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होती है। क्योंकि बृहद्देवताकार ने इसे ऋग्वेद के **दीर्घतमा** नामक ऋषि के जन्म का विवरण देते हुए उद्धृत किया है (बृहद्देवता ४।११-१५)।

इस प्रकार ऋग्वेद के ये अमूर्त देवता बृहस्पति, जो वैदिक साहित्य में धार्मिक स्तोत्रों के अधिष्ठाता एवं आध्यात्मिक-शक्ति-सम्पन्न देवता के रूप में उपस्थित होते हैं, महाभारत एवं पुराणों में आकर एक सामान्य ब्राह्मण-पुरोहित का रूप धारण कर लेते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वे देवराज

इन्द्र के पुरोहित हैं; अन्यथा उनमें प्रायः वे ही दुर्बलताएँ हैं जो एक साधारण मानव में पाई जाती हैं।

अदिति

वेदों के सर्वोत्कृष्ट देवों के समूह आदित्यगण की माता के रूप में **अदिति** का ऋग्वेद में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह आठ आदित्यों की माता है (अष्टौ पुत्रासो अदितेः, **ऋ०** १०।७२।८। अष्ट योनिरदितिरष्टपुत्रा, **अ० वे०** ८।९।२१)। उसके पुत्र राजा हैं[1]। वे श्रेष्ठ, शक्तिशाली तथा वीर हैं। इसीलिये उसे क्रमशः राजपुत्रा (ऋ० २।२७।७), सुपुत्रा (ऋ० ३।४।११), उग्रपुत्रा (ऋ० ८।६७।११) तथा शूरपुत्रा (ऋ० वे० ३।८।२ तथा ११।१।११) कहा गया है। अदिति के इन पुत्रों में मित्र, वरुण तथा अर्यमा का विशेष उल्लेख किया गया है (मात्रा मित्रस्य रेवतो अर्यम्णो वरुणस्य च अनेहसः। ऋ० ४।५५।९)। एक स्थान पर उसे गृहिणी (पत्स्या) भी कहा गया है (ऋ० ४।५५।३, प्रपस्त्यामदितिं सिन्धुमर्कैः) जो उसके मातृत्व को और भी स्पष्ट कर देता है।

ऋत के संस्थापक एवं व्रतों (नैतिक नियम) के अधिपति वरुण की माता होने के कारण **वा० सं०** २१।५ (तथा अ० वे० ७।६।२) में अदिति को श्रेष्ठ व्रतों की महिमाशालिनी माता, ऋत की पत्नी, शक्तिशालिनी, जरारहित, अत्यन्त विस्तृत तथा कल्याणमयी कहा गया है—

महीम् उ षु मातरं सुव्रतानाम् ऋतस्य पत्नीमवसे हुवेम।
तविक्षत्राम् अजरन्तीम् उरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥

अदिति के स्वरूप की दूसरी प्रमुख विशेषता उसका कष्टों, पापों तथा दुःखों से त्राण करना है; **'अनागस्त्वं नो अदितिः कृणोतु'** (ऋ० १।१६२।२२) **'विश्वहमान्नो अदितिः पात्वंहसः'** (ऋ० १०।३६।३)। **ऋ०** १०।१३२।६ में स्तोता अदिति से अपने को पवित्र करने की प्रार्थना करता है (युवोर्हि मातादितिः विचेतसा द्यौर्न भूमिः पयसा पुपूत नि)। **ऋ०** ७।८७।७ में कहा गया

---

१. तु० की० **ऋग्वेद** २।२७।१ जहाँ आदित्यों को राजा कहा गया है—**इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।** वैसे यह विशेषण मुख्यतः वरुण तथा यम के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

है कि अदिति के व्रतों पर चलने से वरुण के प्रति किये गये पापों से छूटा जा सकता है (**वयं स्याम वरुणे अनागाः अनु व्रतानि अदिते ऋधन्तः**)।

ऋग्वेद में प्रायः अन्य आदित्यों के साथ भी अदिति की पापप्रणाशन के लिये स्तुति की गई है, उदा० ऋ० ७।९३।७ का कवि अर्यमा और अदिति से अपने सम्पूर्ण पापों को विनष्ट करने की अभ्यर्थना करता है—**यत् सीमागश्चकृमा तत् सुमृल, तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु**। ठीक इसी प्रकार १।१२।८ में भी मित्र सविता तथा अदिति से वरुण-विषक पापों को दूर करने की प्रार्थना की गई है।

अदिति की एक अन्य विशेषता धन-सम्पत्ति का दान करना और पशु आदि की रक्षा करना भी है (दिदेष्टु देव्यदिती रेक्णः, ऋ० १।१५३।३; यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता', ऋ० १।९४।१५ तथा ८।१८।६)। उसका दिया धन कभी नष्ट नहीं होता (अनेहो दात्रमदितेरनर्वम्, १।१८५।३)। यह सौभाग्य एवं ऐश्वर्य की प्रदात्री है। **अथर्व०** १९।१०।९ में हर प्रकार की रक्षा, मंगल तथा सुख की प्राप्ति हेतु और पापों का नाश करने के लिये उसकी स्तुति की गई है। ऋ० ८।४७।९ में प्रार्थना है कि अदिति हमारी उन्नति करे, सुख प्रदान करे। (अदितिर्न उरुष्व अदितिः शर्म यच्छतु)।

देवी अदिति की शारीरिक विशेषताएँ ऋग्वेद में बहुत क्षीण हैं। केवल चार-पाँच विशेषण ही इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं। उसे 'विनाशरहित' (सुहवा देव्यदितिः **अनर्वा, ऋ०** २।४०।१), 'अत्यधिक विस्तीर्ण' (**उरुव्यचा** अदितिः श्रोतु मे हवम्, **ऋ०** ५।४६।६), 'विस्तृत गोचर क्षेत्र की स्वामिनी' (**उरुव्रजा, ऋ०** ८।६७।१२), 'अत्यन्त प्रकाशमान तथा सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाली' (**ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिम्**', ऋ० १।१३६।३ और 'सम्पूर्ण प्राणियों की हितैषिणी' (**विश्वजन्या, ऋ०** ७।१०।४०) कहा गया है।

आदित्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण अदिति का प्रकाश से भी विशेष सम्बन्ध है (क अदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे, ४।२५।३)। उसके अद्वितीय प्रकाश की प्रशंसा की गई है (अवध्रं ज्योतिरदितेः, ७।८२।१०) और उषा को अदिति का मुख बताया गया है (१।११३।१९)।

अदिति के ऋग्वैदिक स्वरूप में अन्य कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है।

कोई भी सम्पूर्ण सूक्त अदिति की स्तुति में नहीं कहा गया। केवल कुछ प्रकीर्ण मन्त्रों में उसका उल्लेख मिलता है।

अदिति के स्वरूप के मूल आधार के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। पर लगभग सभी विद्वान् इससे सहमत है कि अदिति अपने मूल रूप में एक अमूर्त एवं भावात्मक देवी है तथा उसका प्रकृति के किसी भी तत्त्व से विशेष सम्बन्ध नहीं है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार यह शब्द 'दो-अवखण्डने' धातु से बना है[1]। इसकी भाववाचक संज्ञा दिति का अर्थ है सीमा (इसी अर्थ में ग्रीक में देसिस् शब्द प्राप्त होता है), बन्धन, या परतन्त्रता। अदिति शब्द इसका विपरीत अर्थ अर्थात् निस्सीमता, मुक्ति या स्वच्छन्दता सूचित करता है। शुनःशेप को उसके पिता से एक सहस्र गायों में क्रीत करके बाँधा गया था—'**शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्**' (५।२।७)। एक स्थान पर कवि कहता है 'कौन मुझे अदिति (=मुक्ति) के हाथों में सौंपेगा जिससे मैं अपने माता-पिता को फिर देख सकूँ'? (**को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च, ऋ० १।२४।१**)। श्योदर तथा ओल्डेनबर्ग का मत है कि देवी अदिति की धारणा इसी भाववाचक संज्ञा से विकसित हुई है[2]। सम्भवतः इसीलिये बन्धनों से छुटकारा दिलाने के लिये अदिति का इतना महत्त्व है, उदाहरणार्थ ऋ० ८।६७।१४ में अदिति से प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासक को उसी प्रकार बन्धन मुक्त कर दे जैसे बद्ध चोर को किया जाता है—

तेन आस्तो वृकाणामादित्यासो मुमोचत। स्तेनं बद्धमिवादिते।

प्रकृति के किसी मौलिक तत्त्व से अदिति का सम्बन्ध मानने वालों में माक्सम्युलर का नाम उल्लेखनीय है। उनके अनुसार अदिति बन्धनहीन,

---

१. पाणिनि के अनुसार त् आदि में आने वाले कित् प्रत्ययों से युक्त होने पर दो धातु के ओ का इ बन जाता है, 'द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति' ७।४।४० (एषामिकारोऽन्तादेशः स्यात्तादौ किति, दितः दितिः)।

२. देखिये, ओल्डेनबर्ग : **रेलीगियोन् डेस वेद** पृ० २०२, तथा फॉन श्योदर : **डी आरिशे रेलीगियोन**, भाग २, पृ० ४००।

निस्सीम आकाश की अनन्तता की द्योतक है[1]। प्रसिद्ध जर्मन वैदिक विद्वान् रोठ का मत है कि अदिति का अर्थ अविनश्वरता, अमरता या आनन्त्य है। माक्सम्युलर का आनन्त्य जहाँ दिक् से सम्बन्धित है, वहाँ रोठ का काल से। माता के रूप में अदिति आकाश से सम्बन्धित उस दिव्य-ज्योति की सूचक है जो प्रतिदिन उन्मुक्त भाव से सर्वत्र प्रसृत होती है और जिसका कभी भी विनाश नहीं होता[2]। ऋग्वेद के—

> ""सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
> अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद् हरितः संभरन्ति॥ १।११५।५

मन्त्र के आधार पर हिलेब्रांट् का भी विचार है कि अदिति किसी न किसी रूप में प्रकाश से ही सम्बन्धित है और सम्भवतः दिवस के अविनश्वर प्रकाश को सूचित करती है[3]। लगभग इसी से मिलता-जुलता मत कॉलिने का है जिसके अनुसार अदिति आकाशीय प्रभा की द्योतक है और द्यौः (पुल्लिंग) के स्त्रीरूप को सूचित करती है[4]।

फ्रांसीसी विद्वान् बारगेन्ये का मत है कि स्त्रीलिंग अदिति शब्द अपने मूलरूप में स्त्रीलिंग द्यौः का आनन्त्य को सूचित करने वाला एक विशेषण-मात्र था। 'द्यौरदितिः' या 'अदितिः द्यौः' शब्दों का अर्थ केवल 'अनन्त आकाश' ही है (तु० की०, मिमातु द्यौरदितिर्वीतये नः, ऋ० ५।६१।८)। आकाश से बरसने वाले जल की उपमा प्रायः दुग्ध या मधु से दी गई है। ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में कहा गया है कि विस्तृत-आकाश-रूपिणी माता अपने पुत्रों (आदित्यों) को मधुयुक्त दुग्ध का पान कराती है—

---

१. माक्सम्युलर : से० बु० ई० भाग ३२ (ऋग्वेद का अनुवाद) पृ० २४१ तथा कन्ट्रीब्यूशन्स टु दि साइन्स ऑफ़ माइथॉलाजी पृ० ५५७।

२. (क) त्साइटश्रिफ्ट डेऽर मॉर्गेनलेण्डिशेन गेजेलशाफ्ट, भाग ६, पृ० ६८ तथा आगे।
   (ख) रोठ द्वारा संपादित एवं अनूदित निरुक्त, पृ० १५०।

३. वेदिशे मिथोलोगी, भाग० २, पृ० ९७ तथा आगे।

४. नवम ओरियंटल कांग्रेस का विवरण, प्रथम भाग, पृ० ३९६-४९०।

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः
ऋ० १०।६३।३

ऐसे ही मन्त्रों से आकाश (स्त्रीलिंग द्यौः) का विशेषण 'अदिति' पृथक् होकर मातृत्वयुक्त देवी बन गया है[1]। किन्तु इस मत में दो कमियाँ हैं। एक तो यह कि अदिति का यह रूप उसके बन्धन से मुक्त कराने वाले पक्ष की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं करता[2]। दूसरे इस मन्त्र के उत्तरार्ध में आदित्यों का उल्लेख है। आदित्यों की धारणा का जन्म अदिति की देवी रूप में प्रतिष्ठा हो जाने के बाद ही सम्भव है। प्रस्तुत मन्त्रों में आदित्यों का स्पष्ट उल्लेख तथा अदिति का उनकी माता के रूप में वर्णन यह सूचित करता है कि उस समय तक अदिति की स्वतन्त्र सत्ता पूर्णतः निर्धारित हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत ऋचा में अदिति शब्द की द्यौः के केवल विशेषण रूप में प्रयुक्त होने की बात बहुत संतोषजनक नहीं लगती।

ऋषि अरविन्द की विचारधारा के अनुयायी एम० पी० पंडित का मत है[3] कि वेदों में अदिति उस चेतन अव्यक्त-सत्ता की प्रतीक है जो जगत् को असत् से सत् करती है। जिसे परवर्ती तांत्रिक साहित्य में आद्या या पराशक्ति कहा गया है, वही वेदों की अदिति है। माँ और पुत्र के सम्बन्ध को सर्वाधिक घनिष्ठ, पवित्र और उत्कृष्ट जान कर वैदिक ऋषियों ने परमात्मा की सत्ता की मातृरूप में कल्पना की थी। उपनिषद् साहित्य में जिस सत्ता की ब्रह्मरूप में अभिव्यक्ति हुई वह वैदिक देवमण्डल में 'अमृत के पुत्र' (अमृतस्य पुत्राः) देवों की माता है[4]। अदिति शब्द की उत्पत्ति दो-अवखण्डने' धातु से नहीं अपितु 'अद्-भक्षणे' धातु से है[5]। जो तत्त्व सबका भक्षण अथवा आच्छादन कर ले और सब तत्त्व जिसके अन्दर व्याप्त हों वह अदिति है।

---

१. बारगेन्येः ला रेलीजों वेदीक्, ३, ८८-९८।
२. वै० मा० पृ० १२२।
३. देखिये, श्री एम० पी० पंडित : अदिति एण्ड अदर डीटीज इन दि वेद, पृ० १-३७।
४. तु० की०, मेक्डानल, वै० मा०, पृ० १२१।
५. अरविन्द : आन दि वेद, पृ० १५१। तु० की०, बृ० उ० १।२।५ सर्वं वा अत्तीति तद् अदितेरदितित्वम्।

इसीलिये अदिति को वेद में द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सम्पूर्ण देव, सम्पूर्ण प्रजा, जो कुछ हो चुका है तथा जो भविष्य में होगा, वह सब बताया गया है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवाः अदितिः पंचजनाः अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

ऋ० १।८९।१०

तै० सं० ४।४।१२ में आये एक मन्त्र में अदिति को पृथ्वी तथा आकाश की धारक, जगत्स्वामिनी, सब प्राणियों को अपने विस्तार से आच्छादित करने वाली तथा कल्याण-कारिणी कहा गया है। **कठ-उपनिषद्** में भी अदिति के इस विश्वरूपत्व का उल्लेख मिलता है।

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती सा भूतेभिर्व्यजायत ॥

कठ० उ० २।१।७

लगभग ओल्डेनबर्ग से मिलता-जुलता मैक्डानल का मत है[1] कि मित्र और वरुण आदि नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट देवता पूर्व-वैदिक काल में 'अदितेः पुत्राः' कहे जाते थे जिसका अर्थ था 'मुक्ति या बन्धनहीनता के पुत्रः' अथवा 'पाप से रहित'। किन्तु जिस प्रकार इन्द्र के लिये प्रयुक्त 'शवसः पुत्रः' (बल का पुत्र, शक्तिशाली) वाक्यांश से इन्द्र की माता का नाम परवर्ती ऋग्वेद में **शवसी** कल्पित कर लिया गया अथवा जिस प्रकार उसके शचीपति (शक्ति का स्वामी) विशेषण से उसकी एक **शची** नामक पत्नी की उद्भावना कर ली गई उसी प्रकार अदिति शब्द भी भाववाचक संज्ञा के रूप को छोड़ कर मित्र, वरुण आदि की एक काल्पनिक माता का नाम बन गया। बाद में कुछ अन्य सौर देवता भी उसके पुत्रों में आ गये और उन्हें 'आदित्याः' नाम से अभिहित किया जाने लगा। अपने पुत्रों के सम्पर्क में आकर उनके गुणों को ग्रहण करना अदिति के लिये स्वाभाविक था। इन देवों की माता के रूप में उसका द्यौः और पृथ्वी के साथ तादात्म्य हो गया क्योंकि द्यावापृथिवी सम्पूर्ण देवों के जनक माने जाते थे। धीरे-धीरे आदित्यमाता अदिति देवमाता पृथ्वी से एकरूप हो गयीं। परवर्ती वैदिक साहित्य में तो स्थान-स्थान पर अदिति

---

१. मैक्डानल : **वै० मा०**, पृ० १२२ ।

को पृथ्वी का ही एक नाम बताया गया है। मैक्डानल के इस मत को कीथ अदिति के स्वरूप की सर्वाधिक संतोषजनक व्याख्या के रूप में स्वीकार करते हैं[1]। पृथ्वी से इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण पिशेल ने अदिति को मूलरूप में पृथ्वी के भौतिक स्वरूप से सम्बन्धित देवी माना है[2]। उसके अनुसार अत्यधिक विस्तीर्ण एवं अनन्त प्रतीत होने वाली पृथ्वी ही वेदों में अदिति शब्द से वाच्य है।

वस्तुतः भले ही अदिति अपने मूल रूप में कुछ भी हो पर बहुत प्राचीन काल से ही भारतीय साहित्य में पृथ्वी से उसके सम्बन्ध की परम्परा अक्षुण्ण है ऋग्वेद से पौराणिक काल तक अदिति का पृथिवी से तादात्म्य प्राप्त होता है। नैवण्टुक (५।५) में अदिति शब्द को पृथ्वी का पर्यायवाची बताया गया है। अदिति और पृथिवी के तादात्म्य का पोषक ऋग्वेद में निम्नलिखित मन्त्र प्राप्त होता है—

मह्ना महद्भिः पृथिवी वितस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः। १।७२।९

अथवर्वेद में इस सम्बन्ध में दो निर्भ्रान्त उल्लेख प्राप्त होते हैं—

भूमिर्माता अदितिर्नो जनित्रम्—६।१२०।२

तथा

यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थे—१३।१।३८

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद में अदिति को 'विस्तृत' (**पप्रथाना**, यह विशेषण निश्चित रूप से पृथिवी का वाची है) 'सम्पूर्ण वस्तुओं को अपने में धारण करने वाली' (**आवपनी**) तथा 'कामदुघा' कहा गया है (१२।१।६१)। एक कवि प्रार्थना करता है कि वह अदिति की गोद में सुरक्षित रह कर १०० वर्ष तक जीवित रह सके—

यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः।
अ० वे० २।२८।४

---

१. कीथ : रिलीजन एण्ड फिलासफी ऑफ् दि वेद एण्ड दि उपनिषद्, द्वितीय भाग, अध्याय १२, पृ० २१७।

२. पिशेल : वेदिशे स्टूडियन, द्वितीय भाग, पृ० ८६।

वा० सं० २२।२० में अदिति के लिये **मही** (बाद में पृथ्वी का वाची) तथा **बृहती** विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। **वा० सं०** २१।५ (तथा **अ० वे०** ७।६।२) में अदिति के लिये प्रयुक्त **उरूची** (विस्तृत) तथा **अजरन्ती** (कभी वृद्ध न होने वाली) विशेषण भी महत्त्वपूर्ण हैं।

ब्राह्मण साहित्य का अनुशीलन करने पर अदिति के पृथ्वी होने में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। सभी ब्राह्मण अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में दोनों का तादात्म्य घोषित करते हैं। '**इयं वै पृथिवी अदितिः**' यह **श० ब्रा०** में प्रायः पाया जाने वाला वाक्य है (उदा० १।१।१।१५,५।१।४।४,५।३।१।४)। पृथ्वी से ही सम्बन्ध के कारण **श० ब्रा०** ५।३।५।३७ में अदिति को **उरुशर्मा** (पर्याप्त शरण देने वाली[1]) कहा गया है। **ऐ० ब्रा०** १।२।२ (प्रथमपंचिका, सप्तम खण्ड) में कहा गया है कि अदिति सम्पूर्ण प्राणियों को धारणा करती है (प्रतिष्ठित्या अदितिः)। इसी ब्राह्मण में एक स्थान पर **ऋ० वे०** १।८९।१० (**आदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्**.... । देखें पृ० ७०६) की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी ही अदिति है। इसी को द्यौः और अन्तरिक्ष कहते हैं। यह पृथ्वी ही मनुष्य की माता और पिता है। इसी में सम्पूर्ण देव निवास करते हैं। जो कुछ उत्पन्न हुआ वह सब पृथिवी (अर्थात् पार्थिव) है और जो कुछ जनिष्यमाण है वह भी पृथ्वी ही है। इसलिये इस ऋचा के सभी विशेषण पृथिवी को ही सूचित करते हैं—

> **इयं** (पृथिवी)[2] **वा अदितिरियं द्यौरियमन्तरिक्षम्। इयं वै मातेयं पितेयं विश्वेदेवाः इत्यस्यां वै विश्वेदेवा अस्यां पञ्चजनाः। इयं वै जातमियं जनित्वम्।**
>
> ऐ० **ब्रा०**, तृतीय पंचिका, ३१वाँ खण्ड (३।३।७)

कौषी० ब्रा० ७।६ में उल्लेख है कि 'जब देवगण यज्ञ करने के फल स्वरूप

---

१. देखिये, **श० ब्रा०** का जूलियस एगलिंग द्वारा अनुवाद। (**से० बु० ई०**, भाग ४१, पृ० ९०)। उसने इस शब्द का अनुवाद 'of wide shelter' किया है।

२. ब्राह्मणों में सभी स्थानों पर निरपवाद रूप से इयं सर्वनाम पृथिवी का वाची है (देखिये, विन्टरनित्स, **हिस्ट्री ऑफ् इंडियन लिटरेचर**, प्रथम भाग, ब्राह्मण) और 'असो' आकाश का।

स्वर्ग पहुँचे तो उन्हें दिशाओं का ज्ञान नहीं हुआ। अन्न की आहुति से प्रसन्न होकर अदिति ने उन्हें ऊर्ध्व दिशा का ज्ञान कराया। ऊपर की दिशा अदिति की है। और अदिति पृथ्वी है। इसीलिये 'पृथ्वी पर उगने वाले वृक्ष ऊपर जाते हैं। पृथ्वी पर स्थापित अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर ही उठती है और मनुष्य, पशु आदि भी सीधे खड़े होते हैं'[1]।

इस सम्बन्ध में **तैत्तिरीय संहिता** का एक उल्लेख (७।१।५) बहुत महत्त्व-पूर्ण है। इसमें पृथिवी (अदिति) को प्रजापति की पत्नी बताया गया है और कहा गया है कि प्रजापति ने पृथ्वी के संयोग से अदित्य, रुद्र तथा वसुगण की उत्पत्ति की—

> **आपो व इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वा-ऽचरत् स इमामपश्यत्....। तस्यामश्राम्यत् प्रजापतिः। स देवानसृजत वसून्रुद्रानादित्यान्।** तै० सं० ७।१।५

कहा जा चुका है (पृ० ६६६) कि प्रजापति के स्वरूप में प्राचीन वैदिक देवता द्यौः की विशेषताओं का सम्मिश्रण प्राप्त होता है और अदिति को पृथ्वी मानने की धारणा के संकेत ऋग्वेद में ही मिलने लगते हैं। अतः प्रजापति और पृथिवी (अदिति) के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन उस प्राचीन धारणा का ही परवर्ती विकास है जिसके अनुसार सम्पूर्ण देवता द्यावापृथिवी के पुत्र हैं।

रामायण, महाभारत एवं पुराणादिकों में अदिति को महर्षि कश्यप की पत्नी बताया गया है। विष्णु (वामन) के सहित उसके गर्भ में द्वादश आदित्यों का जन्म हुआ है[2]। कहीं-कहीं सम्पूर्ण देवों को भी उसका पुत्र बताया गया है। कश्यप १० प्रजापतियों में से एक हैं और उनकी अदिति के अतिरिक्त बारह पत्नियाँ और हैं। ये सभी दक्ष-प्रजापति की पुत्रियाँ हैं[3]। पुराणों में

---

१. देखिये, कीथ कृत **कौ० ब्रा०** का अंग्रेजी अनुवाद, हा० ओ० सी०, (भाग २५), पृ० ३८६।

२. **श्रीमद्भागवत** ६।६।३८,३९, **विष्णु पुराण** १।१५।१३१-१३४।

३. **मत्स्यपुराण** १७०।२९-३१, **श्रीमद्भागवत** ६।६।१-३, दक्ष के प्रजा-पतित्व के लिये देखिये **पद्म-पुराण** ४।३२ एवं पीछे पृ० ६७६।

'प्रजापति' शब्द एक विशेषण या उपाधिमात्र है और जिन-जिन व्यक्तियों ने कल्प के आदि में सृष्टि-वृद्धि में योग दिया है उन्हें 'प्रजापति' कहा जाता है। पर कश्यप और दक्ष आदि नाम ऐसे है जो वैदिक साहित्य में प्रजापति के लिये प्रयुक्त विभिन्न विशेषणों से विकसित हुए हैं। **शतपथ ब्राह्मण** प्रजापति के कश्यप विशेषण के सम्बन्ध में सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी एक प्राचीन परिकल्पना का उल्लेख करता हुआ कहता है—

> **स यत् कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत अकरोत् तत्। यदकरोत् तस्मात् कूर्मो नाम। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य: इति।**
>
> श० ब्रा० ७।५।१।५

'प्रजापति ही कूर्म है। क्योंकि इसी रूप को धारण करके उन्होंने सृष्टि-रचना की थी। करने के कारण उन्हें **कूर्म** कहते हैं (कृ+औणादिक मक्)[1] कूर्म को ही कश्यप भी कहते हैं। अतः लोग कहते हैं कि सारी प्रजा कश्यप से उत्पन्न हुई है। **श० ब्रा०** ने कश्यप के प्रजापतित्व की बिलकुल ठीक व्याख्या की है। संस्कृत में कश्यप (>कच्छप) शब्द का अर्थ कछुआ भी होता है। अतः यह पूर्णतः तर्कसंगत हैं। वैसे **वायु** तथा **मार्कण्डेय** पुराण कहते है कि 'कश्य' शब्द एक प्रकार के मद्य का वाची है और उसका पान करने करने के कारण (कश्यं पिबति) ऋषि का नाम कश्यप पड़ा[2]। **वायु** पुराण कश्यप शब्द की एक अन्य सुन्दर व्याख्या करता है। 'कश्य' मन और वचन को कहते हैं। जो उनका सम्यक् प्रकार से रक्षण या नियन्त्रण करे वह कश्यप (कश्यं पाति) है[3]।

पुराणों के काल तक कश्यप का प्रजापति से और अदिति का पृथ्वी से सम्बन्ध भुलाया नहीं गया था। **मत्स्य पुराण** अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहता है—

---

१. **करोतेरौणादिके** (अष्टा० उणादि० १।१५०) मक् प्रत्यये 'बहुलं छन्दसि' (अष्टा० ७।१।१०३) इत्युत्वे कृते 'हलि च' (अष्टा० ८।२।७७) इति दीर्घे कृते कूर्म इति रूपं भवति [सायणः]

२. **कश्यपस्तस्यपुत्रोऽभूत् कश्यपानात् स कश्यपः।**

३. **वायु पु०** ६५।११५

ब्रह्मणः कश्यपस्त्वंशः पृथिव्या अदितिस्तथा ।

मत्स्य० पु० ४७।९

ब्रह्म तथा अन्य पुराणों में स्थान-स्थान पर कश्यप के लिये 'प्रजापति' शब्द का प्रयोग हुआ है। दक्ष को छोड़ कर भृगु, अंगिरा, अत्रि, मरीचि पुलह, क्रतु आदि प्रजापति-गण के अन्य ऋषियों के लिये इस विशेषण का प्रयोग प्राय: बिल्कुल नहीं है—

(क) **ते गर्भिण्यावुभे आह गन्तुकामः प्रजापतिः ।**

(ख) **ततः प्रजापतिः प्रीतो भार्ये प्राप्य महामनाः ।**

(ग) **सीमन्तोन्नयनं चक्रे ताभ्यां प्रीतः प्रजापतिः ।**

ब्रह्म पु० १००।७,२५,२६

कश्यप को पुराणों में **मरीचि** का पुत्र कहा गया है और उनके लिये **मारीच** विशेषण का प्रयोग हुआ है। 'मरीचयः सन्त्यस्मिन्निति मारीचः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मरीचियों (किरणों) से युक्त होने के कारण सूर्य को ही मारीच कहते हैं। बृहद्देवता स्पष्ट शब्दों में कहता है कि भूत, भविष्य और वर्तमान की स्थावरजंगम सब वस्तुओं का जनक होने के कारण सूर्य ही प्रजापति कहा जाता है (देखिये पीछे पृ० १७३, २१८)

अब रही अदिति की दक्ष की पुत्री होने की बात। ऋग्वेद १०।७२।४ में कहा गया है कि 'अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति— **अदितेर्दक्षो अजायत दक्षादु अदितिः परि।** बात कुछ विचित्र सी है यद्यपि ऋग्वेद के कवियों के लिये कोई नई नहीं (तु० की० १०।९०।५ जहाँ पुरुष से विराज् और विराज् से फिर पुरुष उत्पन्न होता है)। **निरुक्तकार** इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

आदित्यो दक्ष इत्याहुरादित्यमध्ये च स्तुतः। अदितिर्दाक्षायणी 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षादु अदितिः परि' इति च। तत् कथमुपपद्यते ? समानजन्मानौ स्यातामिति । अपि वा देवधर्मेणेतरेतरजन्मानौ स्यातामितरेतरप्रकृती ।

निरुक्त ११।२३

इसमें यास्क ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि या तो अदिति और दक्ष दोनों ही (एक साथ) किसी अन्य समान तत्त्व से उत्पन्न हुए होंगे,

या कि फिर (वेदों में) देवताओं की एक विशेष प्रवृत्ति यह भी है कि वे एक दूसरे से उत्पन्न वर्णित किये जाते हैं और बहुधा एक की प्रकृति (विशेषताएँ) दूसरे में आ जाती है[1]।

रोठ का मत है कि 'दक्ष' शब्द का यहाँ अर्थ आध्यात्मिक-शक्ति है और 'अदिति' अनन्तता की द्योतक है। दक्ष सृष्टि के निर्माता के पुरुष-स्वरूप का परिचायक है और अदिति उसके स्त्रीरूप को ध्वनित करती है। दक्ष अव्यक्त परमात्मा के सामर्थ्यशाली पितृरूप का प्रतीक है तथा अदिति मातृ-रूप में कल्पित सृष्टि की सर्वोच्च शक्ति का।

यह आध्यात्मिक-शक्ति काल की सीमा से परे है। आदि और अन्त से रहित होने के कारण यह **अदिति** (अनन्तता, निस्सीमता) से उत्पन्न मानी जाती है; यह दक्ष का अदिति से जन्म है। किन्तु इस आध्यात्मिक शक्ति के पूर्व उसके अतिरिक्त और कुछ न होने के कारण संसार की प्रत्येक वस्तु स्वतः इसी आध्यात्मिक शक्ति से उत्पन्न है। अतः अदिति भी एक प्रकार से दक्ष की पुत्री है[2]।

ऋग्वेद के दशम मंडल में एक स्थान पर 'दक्ष को सृष्टि के आदि में विद्यमान परम तत्त्व' कहा है। वह एक ऐसा तत्त्व था जो वस्तुतः (भौतिक रूप में) न होता हुआ भी अपनी शक्तिमात्र से अदिति की गोद में अवस्थित था—

असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।

ऋ० १०।५।७

दक्ष के इस रूप ने आगे चलकर प्रजापति देवता के विकास के लिये पर्याप्त सामग्री प्रदान की है। इसको दृष्टि में रख कर ही **श० ब्रा०** में **दक्ष** को प्रजापति कहा गया है—

---

१. तु० की०, **इतरेतरजन्मानः इतरेतरप्रकृतयश्च**, निरुक्त ७।२ इस प्रसंग में पीछे पृ० १६९ भी द्रष्टव्य है।

२. देखिये; रोठ द्वारा संपादित तथा अनूदित **निरुक्त**, पृष्ठ १५१ तथा म्यूर, **ओ० सं० टे०**, भाग ५, पृ० ५०, पादटिप्पणी ९५।

प्रजापतिर्ह वा एतेनाग्रे यज्ञेनेजे प्रजाकामः । स वै दक्षो नाम ।
तद् यदनेन सोऽग्रे अयजत तस्माद्दाक्षायणो नाम[1] ॥

श० ब्रा० २।४।४।१,२

मैक्डानल के अनुसार दक्ष शब्द के इस अर्थोत्कर्ष का कारण यह है कि भाववाचक संज्ञा से रूप में यह शब्द कुशलता, चातुर्य या निपुणता का भी वाचक है। जिस प्रकार देवों को बली सूचित करने के लिये **'शवसः सूनवः'** (बल के पुत्र) कहा गया है, उसी प्रकार उनकी दक्षता, नैपुण्य या बुद्धिमत्त्व सूचित करने के लिये उन्हें **दक्षसूनवः** या **दक्षपितरः** (दक्षः पिता येषां, दक्ष के पुत्र) भी कहा गया है। उदा०—

सुज्योतिषः सूर्य दक्षपितॄन् अनागस्त्वे सुमहो वीहि देवान् ।

ऋ० ६।५०।२

ये ये देवाः मनोजाताः मनोयुजः सुदक्षाः दक्षपितरस्ते नः पान्तु ॥

तै० सं० १।२।३

तै० सं० के इस द्वितीय उदाहरण में दक्ष के पुत्र के साथ-साथ प्रयुक्त हुए 'सुदक्ष' विशेषण से इसमें संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि 'दक्ष के पुत्र' का अर्थ निपुण, कुशल या चतुर ही है। ऋग्वेद में भी मित्र और वरुण के लिये दोनों विशेषण एक साथ प्रयुक्त हुए हैं—

या धारयन्त देवाः सुदक्षा दक्षपितरा । ऋ० ७।६६।२

और जब सब देवता 'दक्ष के पुत्र' बन गये (भले ही किसी दूसरे अर्थ में) तो दक्ष शब्द का व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में देवों के पिता, प्रजापति का पद ग्रहण कर लेना स्वाभाविक था।

दक्ष की इस उत्कृष्टता का सुन्दर निदर्शन ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में प्राप्त होता है। यहाँ अदिति को कल्याणकारी अमरदेवों की माता बताया गया है। किन्तु वह स्वतः दक्षप्रजापति की पुत्री है—

अदिति र्हि अजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥ ऋ० १०।७२।५

---

१. जिस प्रकार **श० ब्रा०** के उपर्युक्त उद्धरण में प्रजापति को यज्ञकर्ता बताया गया है उसी प्रकार पुराणों के दक्ष भी अनेक यज्ञ करते हैं (**भागवत** ४।३,४)।

दशमण्डल में होने से यह मंत्र अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इससे पिछले मंत्र में यद्यपि अदिति और दक्ष की परस्पर एक दूसरे से उत्पत्ति कही गई है किन्तु यह मंत्र जिन सबल शब्दों में अदिति को 'दक्ष की दुहिता' तथा 'देवों की माता' घोषित करता है उससे प्रतीत होता है कि अदिति और दक्ष के पारस्परिक उत्पादक होने की दार्शनिक कल्पना की अपेक्षा दक्ष का पितृत्व ही अधिक व्यावहारिक तथा प्रचलित था।

पहले उद्धृत किये मंत्र ऋ० १०।७२।४ के अतिरिक्त **ऋ० वे०** में कहीं भी अदिति दक्ष की माता नहीं है। ऋग्वेद के एक प्राचीन मंत्र में(२।२७।१) केवल छः आदित्य (अदिति-पुत्र) बताये गये हैं और इनमें दक्ष का नाम भी परिगणित है (**शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः**), किन्तु धीरे-धीरे दक्ष के अदिति-पिता के रूप में प्रतिष्ठित होने पर दक्ष का नाम इस सूची से निकल गया है। **तै० ब्रा०** (१।१।९) यद्यपि आठ आदित्यों का उल्लेख करता है किन्तु दक्ष का नाम यहाँ नहीं है। मित्र, वरुण, अर्यमा, अंश, भग, धाता, इन्द्र तथा विवस्वान्, ये ही **तै० ब्रा०** के आठ आदित्य हैं। पुराण १२ आदित्यों का वर्णन करते हैं पर दक्ष का नाम उनमें कहीं परिगणित नहीं है[1]।

सम्भवतः इसका एक कारण और भी हो सकता है। ऋग्वेद में उत्कृष्टता की दृष्टि से अदिति का स्थान दक्ष से बड़ा नहीं, तो समान अवश्य है। किन्तु ब्राह्मण काल तक आते-आते अदिति शब्द पृथ्वी का वाची होकर महत्त्वहीन हो जाता है। और दक्ष ब्राह्मणों के सर्वोच्च देवता प्रजापति का पद पा जाते हैं। अदिति का स्थान इस प्रकार दक्ष से पर्याप्त नीचे हो जाता है और ऐसी दशा में उसकी दक्ष की पुत्री होने की धारणा ही प्रबल हो उठती है।

द्यौः के प्रसंग में कहा गया है कि ऋग्वेद में काव्यात्मक दृष्टि से द्यौः को सुरेता-वृषभ तथा पृथिवी को धेनु कल्पित किया गया है (ऋ० १।१६०।३) समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करने के कारण पृथिवी सर्वकामदुघा गौ है। अदिति

---

१. **भागवत** ६।६ तथा **विष्णु पु०** १।१५ में इस सूची में विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, इन्द्र तथा वामन का परिगणन है।

को पृथ्वी मानने की धारणा के उद्भव के कारण ऋग्वेद में ही कुछ स्थानों पर अदिति को गौ कहा गया है—

पीपाय धेनुरदितिर्ऋताय । १।१५३।३
मा गामनागामदितिं वधिष्ट । ८।१०१।१५

बाद में चलकर यजुर्वेद आदि में यह धारणा सामान्य हो गई है—

गां मा हिंसीरदितिं विराजम् । १३।४३
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् । १३।४९

ब्राह्मण-ग्रन्थों में अदिति आदि के प्रति दी जाने वाली आहुति के लिये एक गाय की दक्षिणा देने का विधान है। दोनों का तादात्म्य किया गया है और कहा गया है कि अदिति पृथ्वी है, और जिस प्रकार एक गाय अपने दूध से मनुष्यों का पोषण करती है उसी प्रकार पृथिवी भी माता के समान सब का पोषण करने से गौ है—

अथ आदित्यं चरुं निर्वपति । इयं वै पृथिव्यदितिः ।....तस्यै धेनुर्दक्षिणा । धेनुरिव वा इयं मनुष्येभ्यः सर्वान् कामान् दुहे । माता धेनुर्मातेव वा इयं मनुष्यान् बिभर्ति । तस्माद् धेनुर्दक्षिणा ।
श० ब्रा० ५।३।१।४

पार्थिव सोम पृथ्वी का सर्वोत्कृष्ट पेय है। अतः **ऋग्वेद** ९।९६।१५ में सोम को अदिति (रूपी गौ) का दुग्ध कहा गया है—

एषस्य सोमो मतिभिः पुनानो....पयो न दुग्धम् अदितेरिषिरम् ॥

ऋ० ९।६९।३ में सोम से सम्बन्धित अदिति की एक पुत्री (नप्ती) का उल्लेख किया गया है। मैक्डानल के अनुसार सम्भवतः यह दुग्ध को सूचित करती है[1]। **वा० सं०** १३।४३ में अदिति को **विराज्-गौः** कहा गया है। **अथर्ववेद** ८।१० में विराज् को एक कामधेनु गौ के रूप में चित्रित किया गया है। बृहद्, रथन्तर, यज्ञियायज्ञिय तथा वामदेव्य नामक साम उसके चार

---

१. मैक्डानल, **वै० मा०** पृ० १२२। किन्तु बारगेन्ये (**ला रेलीजों वेदीक्**, भाग ३, पृ० ९४) ने इसे स्वीकार नहीं किया है।

थन हैं (८।१०।१३)। असुरों ने प्रह्लाद के पुत्र **विरोचन** को बछड़ा, तथा **द्विमूर्धा** को दोग्धा बना कर अयस्पात्र में माया रूपी दुग्ध दुहा। मनुष्यों की ओर से पृथु राजा ने विवस्वान् के पुत्र मनु को बछड़ा बना कर कृषि और सस्यरूपी दुग्ध को उस गौ से दुहा। देवों की ओर से सविता ने इन्द्र को वत्स बना कर विराज् से ऊर्ज (बल) रूपी दुग्ध दुहा, आदि।

महाभारत तथा **पुराणों** में आकर यह कथा अत्यन्त सुन्दर रूप से विकसित हुई है। पृथु के राज्य-काल में एक बार पृथ्वी ओषधियों तथा बीजों को आत्मसात् कर गई। पृथु ने उसके ऊपर कोप किया तब वह भयभीत होकर गौ का रूप धारण करके भागी। पृथु ने उसका पीछा किया और अन्त में त्रस्त पृथिवी ने देवों, असुरों, मनुष्यों, गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, ओषधियों, पर्वतों आदि सभी को दुग्ध के रूप में मनोवांछित वस्तु देने का आश्वासन दिया। इन सभी जातियों ने अपने-अपने एक नेता को गौ-रूपिणी पृथिवी का वत्स बना कर उससे अभीप्सित वस्तुएँ प्राप्त की[1]। देव गण इन्द्र को वत्स बना कर पृथ्वी रूपिणी गौ से सोम रूपी दुग्ध का दोहन करते हैं तो यक्ष-राक्षस उसी पृथ्वी से प्रह्लाद को बछड़ा बना कर सुरा और आसव रूपी दुग्ध प्राप्त करते हैं। गन्धर्व और अप्सराएँ विश्वावसु के माध्यम से पृथ्वी से संगीत और सौन्दर्य प्राप्त करती हैं तो वृश्चिक, सर्प आदि उसी धेनु-रूपी पृथ्वी से विष रूपी दुग्ध प्राप्त करते हैं, आदि[2]—

कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन्।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजोबलं पयः॥

---

१. **श्रीमद्भागवत**, स्कन्ध ४, अध्याय १७, १८।
पद्मपुराण, भूमिखण्ड, २७वाँ अध्याय।

२. महाकवि कालिदास ने **कुमारसम्भव** के प्रारम्भ में ही इस पौराणिक कथा का उल्लेख करते हुए कहा है कि हिमालय पर्वत को बछड़ा बनाकर पर्वतों ने गोरूपधारिणी पृथ्वी से चमकते हुए रत्न तथा प्रभावशाली औषधियों को दुहा (तु० की० भागवत ४।१८।२५, गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु)—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥ १।२

दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम् ।
विधायादूदुहन् क्षीरमयःपात्रे सुरासवम् ॥

गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः ।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधु सौभगम् ॥

तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् ।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः ॥ ४।१८।१५-१७,२२

शुक्ल एवं **कृष्ण-यजुर्वेद** में आकर विष्णु के स्वरूप का उत्कर्ष होने पर और उनका यज्ञ से तादात्म्य हो जाने पर अदिति को **विष्णुपत्नी** के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है (**अदित्यै विष्णुपत्न्यै चरु**, वा० सं० २९।६० तथा तै० सं० ७।१५।१४) । **तै० सं०** के चतुर्थ काण्ड में भी अदिति को विष्णु-पत्नी घोषित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण मन्त्र आता है—

विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी ।
विश्वव्यचा इषयन्ती सुभूतिः शिवा नो अस्तु अदितिः उपस्थे ॥

तै० सं० ४।४।१२

यहाँ अदिति को आकाश को विष्टम्भित करने वाली, पृथिवी को धारण करने वाली, जगत् की स्वामिनी, विष्णु की पत्नी, सभी की आच्छादक एवं शक्तिशालिनी कहा गया है तथा उससे उसकी गोद में रहने वाले प्राणियों का कल्याण करने की प्रार्थना की गई है ।

वाल्मीकि रामायण में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में पृथ्वी को भगवान् वासुदेव की रानी कहा गया है—

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः ।
महिषी माधवस्यैषा स एव भगवान् प्रभुः ॥

रामा० बाल० ३४।२

पद्मपुराण में भी माधव की पत्नी होने के कारण पृथ्वी को माधवी बताया गया है और **विष्णु पु०** ५।२९।२३, **भागवत** १०।५९।३० तथा **हरिवंश पु०** ५५।१२० आदि में तो वराहरूपी भगवान् विष्णु और पृथ्वी के संयोग से नरकासुर राक्षस की उत्पत्ति वर्णित की गई है (द्रष्टव्य पृ०३५४-५५)

उक्त स्थलों पर पृथ्वी के साथ न तो अदिति का उल्लेख है न ही तादात्म्य ।

तै० सं० के मन्त्र में तो स्पष्टतः दोनों का विभेद है। किन्तु अदिति और पृथ्वी की ब्राह्मणकालीन एकता ने पृथ्वी को विष्णुपत्नी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। उदाहरण के लिये अनेक पुराणों में प्राप्य निम्न श्लोक देखिये जिसे बहुत से धार्मिक हिन्दू प्रातःकाल सोकर उठने के पश्चात् सबसे पहले पृथ्वी पर पैर रखते हुए कहते हैं—

समुद्रमेखले देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

वैदिक साहित्य में विष्णुपत्नित्व के अतिरिक्त भी अदिति के मानवी रूप के संकेत मिलने लगते हैं। अथर्व० ११।१।१ कहा गया हैं कि अदिति ने पुत्रों की कामना से 'ब्रह्मौदन' पकाया—

अदितिर्नातिथेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।

महा० (वन० १३५।३) में भी इसी उल्लेख के आधार पर कहा गया है कि अदिति ने पुत्र-प्राप्ति के निमित साध्यों के उद्देश्य से मैनाक पर्वत के कुक्षि-भाग में अवस्थित विनशन तीर्थ में ब्रह्मौदन तैयार किया। शान्ति० २४३।५७ में वह अपने पुत्रों (देवताओं) की विजय के लिये मेरुपर्वत पर अन्न पकाती है। भागवत २।३।४ में कहा गया है कि अन्न प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को अदिति की उपासना करनी चाहिये—**अन्नाद्यकामस्त्वदितिं** (यजेत्)। अदिति के वैदिक 'पस्त्या' विशेषण एवं पृथ्वी से उसके तादात्म्य का यह सुन्दर परवर्ती विकास है।

महाभारत तथा पुराणों में अदिति के दिव्य-कुण्डल अत्यन्त प्रसिद्ध है। विष्णु पुराण (५।२९,३०) तथा महाभारत (सभा० ३८।२९ तथा आगे, उद्योग० ४८।८०) में पृथ्वी के पुत्र नरकासुर द्वारा अदिति के कुण्डल ले जाने तथा श्रीकृष्ण द्वारा नरक का वध करके अदिति को वे कुण्डल पुनः प्रदान करने की कथा जाती है। ये कुण्डल अमृतवर्षी हैं। उनको धारण करने वाले व्यक्ति को जरा और मरण का भय नहीं रहता। विष्णु० ५।२९।११ में इन्द्र आकर कृष्ण से कहते हैं—

अमृतस्राविणी दिव्ये मन्मातुः कृष्ण कुण्डले ।
जहार सोऽसुरोऽदित्याः.....॥

नरक और उसके साथियों के मरने के उपरान्त उसकी माता पृथिवी

कुण्डल लेकर उपस्थित होती है। कृष्ण उसे लेकर देवों की माता अदिति के पास जाते हैं जहाँ वह स्वर्ग में श्वेत मेघ-खण्ड के समान धवल प्रासाद में निवास करती है—

स देवैरर्चितः कृष्णो देवमातुर्निवेशनम् ।
सिताभ्रशिखराकारं प्रविश्य ददृशेऽदितिम् ॥

विष्णु० ५।३०।३

अदिति प्रसन्न होकर कृष्ण को सुरासुरों से अजेय होने का वरदान ('अजेयः पुरुषव्याघ्र मर्त्यलोके भविष्यति') देती है। बाद में अपनी माता से यह कुण्डल सूर्य को प्राप्त होते हैं। सूर्य उन्हें कुन्ती की इच्छा पर अपने पुत्र कर्ण को देते हैं (महा० वन० ३०७।१७)। इन्द्र, कर्ण को अर्जुन द्वारा वध्य बनाने के लिये एक शक्ति देकर उससे ये कुण्डल माँग ले जाते हैं (महा० वन० ३१०।३८)।

सूर्य से सम्बन्धित होने के कारण विष्णु वैदिक काल में आदित्य-गण में सम्मिलित थे किन्तु धीरे-धीरे विष्णु के स्वरूप का निरन्तर उत्कर्ष होता चला गया और पुराणों के युग (गुप्तकाल) तक आते-आते जगत् के स्रष्टा, नियन्ता तथा हन्ता के रूप में उनकी प्रतिष्ठा हो गई[1]। जन्म-मरण से रहित होने के कारण उनकी किसी भी माता से उत्पत्ति कल्पित करना असंगत था। अतः वे तो आद्यन्तहीन, कालातीत शक्ति के रूप में मान्य हो गये और आदित्यगण में जो एक स्थान रिक्त हुआ उसे उनके वामन-अवतार से पूर्ण कर लिया गया। पुराणों का मत है कि आदित्य-गण में जिन 'विष्णु' का उल्लेख है वे शाश्वत विष्णु नहीं अपितु उनके अवतार उरुक्रम-वामन हैं। ब्राह्मणग्रंथों में विष्णु स्वयं देवों की हित के लिये एक बौने का रूप धारण कर लेते हैं (श० ब्रा० १।२।५।१-७) पर महाभारत अनु० ८३।२५,२६ का कथन है कि अदिति ने एक पैर पर खड़े होकर बहुत समय तक घोर तपस्या की जिससे विष्णु ने प्रसन्न होकर उसके गर्भ से जन्म लेना स्वीकार किया। भागवत (८।१६) में देवासुर संग्राम में असुरों के विजयी होने पर दुःखी होकर अदिति महर्षि कश्यप

---

१. सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥

विष्णु० १।२।६६

द्वारा बताये हुए पयोव्रत का पालन करके विष्णु को तुष्ट करती है। महा० (वन० २७२।६२) में कहा है कि अदिति ने वामन को एक सहस्र वर्षों तक गर्भ में धारण किया।

इस प्रकार वैदिककालीन अदिति, जिसका जन्म आकाश की अनन्तता से हुआ था और जो इस रूप में सूर्य तथा उससे सम्बन्धित आदित्यों की जननी थी, वैदिक युग में काल और सीमा से रहित एक अनन्त शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित रही। ऐसी स्थिति में वह अमृतपुत्र देवों की जननी बनी और क्योंकि वैदिककाल में देवताओं के माता-पिता के रूप में द्यावापृथिवी की भी प्रतिष्ठा थी अतः धीरे-धीरे इस समान विशेषता से विकास की तीसरी अवस्था में उसका तादात्म्य पृथिवी के साथ हो गया। किन्तु उसका मातृत्व सम्बन्धी पक्ष भुलाया नहीं गया और स्नेहमयी देवजननी के रूप में पुराणों में जो उसका मानवीय रूप है वह पुराणकारों की मनोरम उद्भावन-प्रवणता का परिचायक तो है ही, साथ ही वैदिक युग से लेकर पुराणकाल तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती हुई प्राचीन भारतीय धार्मिक प्रवृत्तियों का भी एक सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत करता है।

●

दशम अध्याय

परिशिष्ट

लोकदेवता और असत्-शक्तियाँ

यक्ष

विविध जातियों, वर्गों एवं सांस्कृतिक स्तरों वाले भारतीय समाज में विभिन्न वर्गों के धार्मिक विश्वासों में सदा पर्याप्त अन्तर रहा है। जहाँ वैदिक उच्चवर्गीय आर्य इन्द्र, वरुण, बृहस्पति आदि देवों की उपासना करते थे, मन्त्रों से उनका आवाहन कर यज्ञवेदी में उनके लिये हवि प्रदान करते थे, वहीं वैदिक युग की सामान्य जनता, चाहे वह आर्य हो या आर्येतर, यक्षों की पूजा में विश्वास रखती थी। यक्षों के अस्तित्व एवं उनके प्रति प्रदर्शित आदरभाव के प्रचुर उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्य हैं। अथर्ववेद में एक 'परम'-यक्ष की अवधारणा भी मिलती है जो इस भौतिक जगत् की गति-विधियों पर नियन्त्रण रखता है। उसके लिये 'ब्रह्म' (बड़ा, महान्) संज्ञा प्रयुक्त हुई है। महाभारत में यक्षों के लिये किये जाने वाले एक उत्सव का नाम 'ब्रह्ममह' है। यही ब्रह्म शब्द आज लोक में 'बरम' नाम से प्रचलित है।

यक्ष लोक-विश्वास के वे बलशाली किन्तु सूक्ष्म दैवी तत्त्व थे जो विश्व में सर्वत्र विभिन्न रूपों में व्याप्त हैं। प्राचीन भारत में प्रत्येक गाँव का रक्षक (ग्राम देवता) एक-एक यक्ष था जिसकी पूजा समस्त ग्रामवासी मिलकर या पृथक्-पृथक् किया करते थे। यक्षों की पूजा पीपल या वट आदि के वृक्षों के नीचे चौरों या चबूतरों (यक्ष-चत्वर) पर होती थी। यह चौरा या तो खाली रहता था या इस पर शिवलिंग की भाँति की एक पिण्डी रहती थी जो ऊपर से कुछ नुकीली रहती थी। पिण्डी के अगल-बगल में दीपक रखने के लिये एक छोटा तिकोना आला भी होता था। इसी चत्वर पर यक्ष का आह्वान करके उसकी गन्ध-पुष्प आदि से पूजा की जाती थी। ऐसे प्राचीन यक्ष-चत्वर

उत्तर भारत के ग्रामों तथा नगरों में आज भी प्रचुरतया देखने को मिल जाते हैं।

यक्षों की प्रस्तर मूर्तियाँ भी बना कर गाँवों में या चौराहों पर खड़ी की जाती थीं। यक्षों को अत्यन्त बलिष्ठ एवं पुष्टगात्र माना जाता था अतः इनकी मूर्तियाँ मानव-शरीर से अधिक बड़ी एवं भारी-भरकम हैं। यक्षों की सबसे अधिक मूर्तियाँ मथुरा के आस-पास प्राप्त-हुई हैं, किसी समय वह यक्ष पूजा का बड़ा भारी केन्द्र रहा होगा। सूरदास तक ने जाख (जक्ख) की पूजा न करने से होने वाले अनिष्ट उल्लेख किया है। यक्षों की इन मूर्तियों का दाहिना हाथ प्रायः अभयमुद्रा में है जो पूजक को आश्वासन प्रदान करता है। सर्वप्रथम जब मथुरा कला में बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ बनीं तो उसकी अवयव-घटना में प्राचीनतर यक्ष-मूर्तियों का ही अनुकरण किया गया। यक्षों की अनेक मूर्तियों पर उनका नाम खुदा हैं जिससे उनको पहचानने में भूल नहीं हो सकती।

बलिष्ठ होने के कारण यक्षों को 'वीर' भी कहा जाता था। एक बौद्ध ग्रन्थ में मथुरा में सौ पल भार की एक लौह गदा दाहिने हाथ में लिए हुए 'मोग्गरपानि' नामक एक यक्षमूर्ति का उल्लेख है। यहाँ उल्लेखनीय है कि प्राचीन यक्ष पूजा के बहुत तत्त्वों को बाद में हनुमत्-उपासना ने ग्रहण कर लिया है जिनकी 'महावीर' संज्ञा आज भी यक्षों से उनका सम्बन्ध जोड़ती है। काशी के सुप्रसिद्ध लहुरा-बीर (छोटा वीर=यक्ष) तथा बुल्ला-बीर (=विपुल या बड़ा वीर) नामक स्थान आज भी यक्ष पूजा के प्राचीन केन्द्रों के रूप में जीवित हैं। अनेक पहलवानी अखाड़ों के पास यक्षों या वीरों के चौरे आज भी हैं जिन पर फूल के रूप में मिट्टी चढ़ाई जाती है।

यक्ष धन-सम्पत्ति के स्वामी माने गये हैं। उनके पास अनन्त निधियाँ हैं। इसके प्रतीक-स्वरूप वे एक हाथ में मुद्राओं की थैली लिये हुए प्रायः चित्रित किये गये हैं। यक्षाधिपति कुबेर का चित्रण भी थैली के साथ किया गया है। कुबेर को इसीलिये देवताओं का कोषाध्यक्ष कहा गया है। रघु को जब वरतन्तु के शिष्य कौत्स के लिये धन की आवश्यकता होती है तो वे कुबेर से ही लाने का बिचार करते हैं। यक्षों के दूसरे हाथ में प्रायः कुम्भ रहता है जो अमृतकुम्भ का प्रतीक है और यह द्यीतित करता है कि यक्ष अमर हैं। वैसे इस कुम्भ को मदिरापात्र भी माना जा सकता है क्योंकि यक्षमूर्तियों के एक हाथ में

कुम्भ और दूसरे में पान-चषक भी प्रदर्शित किया गया है। मदिरोन्मत्त और स्त्रियों के साथ कीडासक्त रहने के कारण ही नल-कूबर यक्षों को नारद ने शाप दिया था।

यक्षों का जितना विस्तृत विवरण बौद्धग्रन्थों में मिलता है उतना संस्कृत-ग्रन्थों में नहीं। प्रायः ऐसा वर्णन है कि कोई यक्ष या यक्षी नगरवासियों या ग्रामवासियों को त्रस्त करती थी। गौतम बुद्ध ने उसे जीता, सद्धर्म में दीक्षित किया और तब वह यक्ष या यक्षी उस नगर के रक्षक देवता या देवी बन गये। कुबेर की पत्नी हारीति या भद्रा के साथ भी ऐसा ही हुआ था। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में मणिभद्र, पूर्णभद्र, दीर्घभद्र, यक्षभद्र तथा स्वभद्र नामक पाँच प्रमुख यक्ष-वीरों का उल्लेख किया गया है। कुबेर के नल-कूबर नामक दो यक्ष-पुत्रों के कृष्ण द्वारा वृक्षयोनि से उद्धार का वर्णन श्रीमद्भागवत में प्राप्त होता है। यक्षपूजा के अनेक चौरे धीरे-धीरे सर्व-आत्मसात्कारी हिन्दू-धर्म में शिव के चौरे बन गये और यक्षपिण्डी का स्थान शिवलिंग ने ले लिया। यक्षराज कुबेर को भारतीय परम्परा ने सहज भाव से शिव का अभिन्न मित्र घोषित कर दिया। कालिदास के अनुसार यक्षों की अलका-नगरी कैलाश के इतनी समीप है कि उसके उद्यान रात्रि में शिव की चन्द्रिका से आलोकित रहते हैं।

लोक देवताओं के सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके स्वभाव में सौम्य और उग्र दोनों प्रकार के तत्त्व पाये जाते हैं। यक्ष भी इसी प्रकार के विविध-शक्ति-सम्पन्न लोक देवता हैं। नियमित रूप से पूजा किये जाने पर, कम से कम मांगलिक अवसरों पर स्मरण किये जाने से, वे प्रसन्न रहते हैं, उपासकों को धन-धान्यादि से समृद्ध करते हैं, उनके रोग दूर करते हैं तथा विपत्तियों से उनकी रक्षा करते हैं। क्रुद्ध एवं असंतुष्ट होने पर वे महामारी, दुर्भिक्ष, अग्निभय एवं जलाप्लावन आदि उपस्थित कर देते हैं। तब पूजा एवं बलि आदि से उनका प्रसान्त्वन आवश्यक होता है।

वृक्षों एवं जल से यक्षों का विशेष सम्बन्ध है। भरहुत तथा साँची की कला में वृक्ष से लिपटी अथवा वृक्षों की डालों को झुका कर खड़ी यक्षियों का बड़ा रमणीक और मोहक चित्रण हुआ है। महाभारत, वनपर्व में एक बुद्धिमान् और ज्ञानी यक्ष को उस सरोवर का स्वामी बताया गया है जिसमें से चार पाण्डव पिपासाकुल होकर यक्ष के प्रश्नों का उत्तर दिये बिना हठात् जलपान की

चेष्टा करते हैं किन्तु यक्ष के प्रभाव से जल पीते ही वह मर कर गिर पड़ते हैं। उस यक्ष को अन्त में युधिष्ठिर ही अपने उत्तरों से संतुष्ट कर पाते हैं। जब भीम द्रौपदी के लिये अलौकिक गन्ध से पूर्ण पद्म-पुष्प लेने के लिये कुबेर की नगरी अलका पहुँचते हैं तो उन्हें उस सौगन्धिक सरोवर की रक्षा करते हुए बलिष्ठ यक्ष ही दिखाई पड़ते हैं जिससे उनका विकट युद्ध होता हैं।

यक्षों को वाल्मीकि रामायण में राक्षसों का सौतेला भाई बताया गया है। दोनों 'विश्रवा' मुनि की संतान हैं। रावण ने कुबेर-वैश्रवण को हरा कर उत्तर की ओर खदेड़ दिया था और उसकी नगरी लंका पर अधिकार कर लिया था। वह पुष्पक विमान भी जिससे राम अयोध्या लौटे थे, मूलतः कुबेर का था।

यक्ष प्राचीन धार्मिक विश्वासों में अपने सौन्दर्य के लिये भी विख्यात थे। गोभिल और द्राह्यायण-गृह्यसूत्र में गुरुगृह में आया छात्र यक्ष के समान 'नेत्रों का प्रिय' या रूपवान् होने की कामना करता है (यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वा भूयासम्)। दीदारगंज (बिहार) से मिली मौर्यकालीन चामरधारिणी यक्षी एवं साँची-भरहुत-मथुरा आदि की यक्षियाँ अत्यन्त सुलक्षण एवं सुदर्शन हैं। उत्तरमेघ में कालिदास ने यक्ष की पत्नी का जो चित्र खींचा है उससे यक्ष नारियाँ मनोरम होने के साथ-साथ (युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः) कला-प्रेमी, सुरुचि-सम्पन्न, परिष्कृत एवं सुकोमल मानवीय-संवेदनाओं से युक्त रमणियों के रूप में हमारे सामने उभरती हैं।

यक्षों की पूजा-पद्धति ने बाद में हिन्दू देवताओं की उपासना-पद्धति को प्रभावित किया। आज भी गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि उपचारों से जो आगम-शास्त्रीय या तान्त्रिक पूजा पद्धति प्रचलित है वह मूलतः यक्षोपासना पद्धति में प्रयुक्त होती थी। देवों की तो मूर्तियाँ ही नहीं बनती थीं। उनके लिये अग्नि में आहुति दी जाती थी। जब देवों की मूर्तियाँ बनने लगीं और चैत्यों या मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो पुष्प, धूप, दीप आदि वाली पूजा-पद्धति उनके साथ भी जुड़ गई। देवोपासना ने यक्षोपसना को यद्यपि क्रमशः कम कर दिया किन्तु वह पूर्णतः विलुप्त नहीं हुई। भवन आदि के निर्माण के अवसर पर या मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा आदि के समय ६४, ८१ या १०८ खाने (पद) वाले वास्तुमण्डल का पूजन अनिवार्य है। इस वास्तुमण्डल के विभिन्न खानों में पूजे जाने वाले 'देवता' मूलतः लौकिक-विश्वास के यक्ष

प्रतीत होते हैं। वैदिक युग में ही राजराज (राजाधिराज) वैश्रवण को सन्तुष्ट रखने के लिये निम्न पद की रचना हुई थी और इस पद्य को प्रत्येक धार्मिक कृत्य के अन्त में अवश्य बोला जाता था जिससे देवोपासना से यक्ष अपने को उपेक्षित समझ कर यजमान या उपासक से असन्तुष्ट न हो जाएँ। पद्य की नमः-उक्ति में कुबेर के लिये 'महाराज' संज्ञा प्रयुक्त हुई है—

राजाधिराजाय प्रसह्यसाहिने
नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।
स मे कामान् कामकामाय मह्यं
कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु॥
कुबेराय वैश्रणाय महाराजाय नमः।

तै० आ० १।३१।६

भारत के प्राचीन लोकोत्सवों की सूची में **बेस्समह्मणमह** (वैश्रवणमह) या कुबेरोत्सव का नाम आता है और यक्षोत्सवों की परम्परा आधुनिक काल तक चली आई है। कनिंघम ने मथुरा के परखम नामक गाँव में (जहाँ से यक्ष-मणिभद्र की एक विशाल मूर्ति प्राप्त हुई है) माघ मास के प्रति रविवार को यक्षों के सम्मान में होने वाले **जखैया** नामक एक लोकोत्सव का उल्लेख किया है जिसमें एक यक्ष-चत्वर के चारों ओर एकत्र होकर ग्रामीण स्त्री-पुरुष रात भर गाते बजाते हैं।

असुर एवं राक्षस

सत् और असत्, अच्छा और बुरा, दोनों के सम्मिश्रण से यह सृष्टि बनी है। व्यक्ति को कभी अपने जीवन में सफलता मिलती है और कभी अकारण असफलता। जिस प्रकार कल्याणकारी एवं मंगलमयी दैवी शक्ति पर विश्वास करना मानव के लिये सहज है उसी प्रकार अमंगलकारी और विनाशक शक्तियों पर भी। इस दृष्टि से देवता और राक्षस दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं।

वैदिक साहित्य में तीन प्रकार की अमंगलकारी शक्तियों का उल्लेख है—**असुर, दस्यु** (दास) तथा **रक्षस्** (बहु व० रक्षांसि, परवर्ती राक्षस)।

इनमें से प्रथम वे परम बलिष्ठ असत् शक्तियाँ है जिनकी क्रिया-कलापों का समस्त विश्व पर प्रभाव पड़ता है। वे प्रकृति के नियमों को प्रभावित कर

सकते हैं, वृष्टि को रोक सकते हैं, सूर्य को आच्छादित कर सकते हैं। **वृत्रासुर** सर्प की भाँति कुण्डली मार कर आकाशीय जलों को अवरुद्ध किये रहता है। **बल** देवताओं की गायों को चुरा कर ले जाता है और उन्हें गुफा में बन्द कर देता है। **विश्वरूप** भी वैसे तो असुर ही है जो देवों की गायें तथा अश्व चुराता है पर वह त्वष्टा का पुत्र है और देवताओं के यज्ञों में कभी-कभी पुरोहित का भी कार्य किया करता है (तै० सं०)। इन्द्र उसे मार डालते हैं तो उन्हें ब्रह्महत्या लगती है। विश्वरूप इस प्रकार देवता का पुत्र है, जाति से ब्राह्मण है और स्वभाव से असुर। देव, मानव और असुर तीनों के गुण उसमें विद्यमान हैं। असुर और देवता दोनों ही प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं, उनके पुत्र हैं। 'असुर' शब्द का अर्थ है प्राणवान् या शक्तिशाली। प्रायः सभी असुर इन्द्र के द्वारा मारे जाते हैं। वृत्र को वे वज्र से मारते हैं तो नमुचि को समुद्र के फेन से। वैसे महाभारत में ये ही असुर पुनः जीवित चित्रित किये जाते हैं और वे इन्द्र आदि से अनेक दार्शनिक विषयों पर चर्चा करते हैं। असुरों का चरित प्रायः देवों के चरित की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रदर्शित किया गया है।

दस्यु या दास शब्द ऋग्वेद में प्रायः निकृष्ट सामाजिक तत्त्वों को द्योतित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है, ऐसे तत्त्व जिनके विरुद्ध वैदिक आर्य प्रायः लड़ते रहते थे। इनको काले वर्ण और चपटी नाक वाला बताया गया है। दासों के नेता **शम्बर** का ऋग्वेद में प्रायः उल्लेख है। इन्द्र चालीस वर्ष तक उससे युद्ध करके उसके नब्बे (या निन्यानबे) किलों को ध्वस्त करने में समर्थ होते हैं।

आद्युदात्त **रक्षस्** शब्द का अर्थ है विघ्न या विपत्ति। अन्तोदात्त होकर यही शब्द विघ्नकारी शक्तियों का वाची हो जाता है। हमारे पृथ्वी-मण्डल पर ऐसे असंख्य रक्षस् इधर-उधर विचरण करते रहते हैं। ये रोग उत्पन्न करते हैं, यज्ञ आदि शुभ कार्यों में विघ्न डालते हैं, नववधू के सौभाग्य को विनष्ट करते हैं, गर्भवती स्त्रियों के शरीर में प्रवेश करके माँ तथा शिशु को हानि पहुँचाते हैं। ये अनेक प्रकार के रूप धारण करने में समर्थ हैं और यातविक शक्तियों से युक्त हैं। इन्हीं में जो मनुष्यों एवं पशुओं के शरीर में प्रविष्ट होकर उनका रक्तपान करते हैं या उनके शरीर का मांस खा जाते हैं, उन्हें **पिशाच** या **क्रव्याद** (कच्चा मांस खाने वाला) कहा जाता है। इन्हीं रक्षस् को दूर करने के लिये यज्ञभूमि पर दक्षिण दिशा में दक्षिणाग्नि जलती रहती है। आथर्वणिक मन्त्रों से भी इन्हें वश में किया जा सकता है।

महाकाव्यों और पुराणों के काल में वैदिक **असुर** और **रक्षस्** (राक्षस) तो विकसित और पल्लवित होते हैं पर दस्यु-दास विलुप्त हो गये हैं। दस्यु शब्द शत्रु या डाकू का और दास भृत्य का वाची है। असुरों का गौरव और महत्त्व अब भी सुरक्षित है। वे देवों के प्रतिद्वन्द्वी हैं। विश्व का साम्राज्य प्राप्त करने के लिये उनमें तथा देवों में होड़ रहती है। प्रायः वे इसे प्राप्त भी कर लेते हैं, पर देवों का पक्ष लेकर विष्णु उन्हें अपदस्थ कर देते हैं। असुरों को फुसला कर देवता उनके सहयोग से क्षीरसागर का मंथन करते हैं और अमृत निकलने पर असुरों को धोखा देकर स्वयं पी जाते हैं। असुर धार्मिक क्रियाएँ भी सम्पन्न करते हैं। शुक्राचार्य उनके गुरु हैं। पर इन क्रियाओं में आभिचारिकता की प्रधानता रहती है। अनेक वैदिक असुर पुराणों तक आते-आते अपना 'असुरत्व' खो बैठते हैं और परमज्ञानी तथा भगवद्-भक्त के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। श्रीमद्भागवत में वृत्रासुर का एक उत्कृष्ट विष्णु-भक्त के रूप में जो चरित चित्रित हुआ है वह समस्त भारतीय वाङ्मय में अद्वितीय है।

असुरों के **दैत्य** और **दानव** नामक दो वंशों का पुराणों में और उल्लेख मिलता है। दोनों ही कश्यप-प्रजापति के पुत्र हैं, प्रथम की माता 'दिति' है और द्वितीय की 'दानु'। 'दिति' की परिकल्पना 'अदिति' के विरोधी व्यक्तित्व के रूप में विकसित हुई है। जहाँ अदिति आदित्यों तथा अन्य देवों की जननी है वहीं दिति दैत्यों की। ऋग्वेद में वृत्र की माता का नाम 'दानु' है। पुराणों में कश्यप की पत्नी होकर यह दानवों को उत्पन्न करती है। दैत्य-वंशीयों में हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष विशेष प्रसिद्ध हैं जिनका वध करने के लिये विष्णु को क्रमशः नृसिंह तथा वराह रूप में अवतार लेना पड़ता है। हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद का उदात्त चरित और उनकी विष्णुभक्ति बड़े-बड़े वैष्णवों के लिये भी ईर्ष्या की वस्तु है। प्रह्लाद का पौत्र बलि भी वैष्णव पुराणों में अत्यन्त विष्णुभक्त चित्रित किया गया है। यद्यपि विष्णु त्रिविक्रम-वामन रूप में छल से उससे त्रिलोकी का राज्य ले लेते हैं किन्तु बदले में उसे पाताल का आधिपत्य प्रदान करते हैं और उसकी ड्योढ़ी पर द्वारपाल के रूप में पहरा दिया करते हैं। बलि की पौत्री उषा (बाणासुर की कन्या) बाद में कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध की पत्नी बनती है। दानवों में **मय** का नाम उल्लेखनीय है जो 'माया' का जनक होते हुए भी अद्वितीय शिल्पी है। खाडवदाह के अवसर पर अर्जुन से प्राणदान पाकर वह पाण्डवों के लिये एक अद्भुत प्रासाद का निर्माण करता

है। वैदिक **शम्बर** और **बल** पुराणों में कृष्णकथा से सम्बन्धित हैं और क्रमशः प्रद्युम्न तथा कृष्ण द्वारा मारे जाते हैं।

राक्षसों के स्वरूप एवं व्यक्तित्व का विकास करने का श्रेय वाल्मीकि को है। सर्वप्रथम वाल्मीकि-रामायण में आकर ही अथर्ववेद के अमूर्त 'रक्षांसि' राक्षस नाम से एक मूर्त आकार ग्रहण करते हैं। रक्षस् (विघ्न, विनाश) से सम्बन्धित होने के कारण वे राक्षस हैं। इस नाम से वे एक वर्ग-विशेष या जाति-विशेष को अभिहित करते हैं जो आर्य-संस्कृति से प्रभावित होते हुए भी उससे पृथक् थी। राक्षस वैदिक यज्ञों में विघ्न डालते हैं (ताड़का), आर्यों से छलपूर्वक युद्ध करते हैं, उनकी नारियों का अपहरण करके बलात् उनसे विवाह करते हैं ('राक्षस-विवाह'), अपने शवों को गाड़ते हैं और बड़े चाव से नरमांस का भक्षण करते एवं रुधिरपान करते हैं। रावण सीता को प्रातराश (नाश्ते) के लिये प्रयुक्त करने का विचार रखता है, सीता की रक्षक राक्षसियाँ भी इस विचार से प्रसन्न हैं कि उन्हें कुछ दिनों में मद्य के साथ सीता का नर-मांस भी भक्षण हेतु प्राप्त होगा। कुम्भकर्ण भी अनेक ऋषि, अप्सराओं एवं मनुष्यों को आहार बना चुका है। उसके शयनागार में अनेक रुधिरपूर्ण कुम्भ भरे रखे रहते हैं जिससे उठने पर वह उनका पान कर सके। जब राजा सुदास की रसोई में एक बार भूल से नर मांस परोस दिया जाता है तो ऋषि उसे 'राक्षस' हो जाने का शाप दे देते हैं। राक्षसों को शिव का उपासक बताया गया है। उनमें से कुछ विद्वान् तथा संस्कृतज्ञ भी चित्रित किये गये हैं। सीता से रावण संस्कृत ही बोला करता था इसीलिये हनुमान् सीता को प्रथमतः संस्कृत में सम्बोधित करने में हिचक रहे थे। रावण को ऋग्वेद के एक भाष्य का कर्ता तथा 'शिवताण्डव स्त्रोत्र' का रचयिता माना जाता है। सुप्रसिद्ध विष्णु-भक्त विभीषण भी राक्षस वंशीय है।

वाल्मीकि ने 'राक्षस' शब्द का प्रयोग मानव-जाति-विशेष के लिये किया था और उनके वर्णन में काव्यात्मक अतिरञ्जना के अतिरिक्त इस जाति के प्रति उनकी अपनी धारणाएँ और सुनी-सुनाई बातें भी रही होंगी पर उनका यह सजीव चित्रण आगे चल कर बड़ा लोकप्रिय हुआ और उसने असत्-शक्तियों की अवधारणा के विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। 'राक्षस' शब्द पुराणों में प्रायः सभी प्रकार की असत्-शक्तियों का सामान्य सम्मिलित-नाम है। जहाँ उनमें विद्या, बल, पराक्रम एवं ऐश्वर्य पाया

जाता है, वहीं औद्धत्य, अनुदारता, क्रूरता, अहंमन्यता एवं मोहान्धता की भी वे खान हैं। उनमें कमी यही है कि वे अपनी शक्तियों का दुर्बलों को सताने और धर्म का संहार करने में दुरुपयोग करते हैं।[1]

देवयक्षासुराणां यो धृत्वा रूपाणि लीलया।
क्रीडत्यखिलविश्वात्मा तस्मै चिद्रूपिणे नमः॥

—ग्रन्थकर्तुः

१. भारतीय धार्मिक मान्यताओं में आसुरी तत्त्वों की अधिक विस्तार से विवेचना के लिये प्रस्तुत लेखक का **लुड्विग-श्टर्नबाख़ अभिनन्दन ग्रंथ** (अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, १९८१) में जर्मन भाषा में प्रकाशित Die Vorstellung der Daemonen im indischen Glauben (The concept of Demons in Indian Belief) नामक लेख (पृ० ९८९-१००२) द्रष्टव्य है।

देवतानुक्रमणिका

(अवे० = अवेस्ता, ग्री० = ग्रीक, भारो० = भारोपीय, वै० = वैदिक)

विषयानुक्रमणिका

लेखकानुक्रमणिका

॥ श्रीरामः शरणम् ॥